वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी।
भाषाटीकासहिता ।

॥ श्रीः ॥

महामहोपाध्यायश्रीमद्भट्टोजिदीक्षितविरचिता-

वैयाकरणसिद्धांतकौमुदी

सञ्जीविनीनामिकया

हिन्दीभाषाटीकया,

मुरादाबादनिवासि-यजुर्वेदभाष्यकार-दयानन्दतिमिरभास्क-
रादिनिर्मातृ-इतिहासपुराणाद्यनुवादक-विद्यावारिधि-
भारतीय-श्रीसनातनधर्ममहोपदेशकपण्डितसुखा-
नन्दमिश्रात्मज-

पंडित ज्वालाप्रसादमिश्रकृतया

सहिता।

शिक्षा१ अष्टाध्यायीसूत्र २ गण ३ धातु ४ लिङ्गानुशासन ५ कौमु-
द्यन्तर्गतवार्तिक ६ परिभाषा ७ उणादिसूत्र ८ फिट्सूत्र
९ पाठैः शिक्षालिङ्गानुशासनवर्ज्यैसुक्ताष्टाध्याय्यादि
सूचीभिश्च विभूषिता च।

सा च
क्षेमराज श्रीकृष्णदास इत्यनेन
मुम्बय्यां
(खेतवाडी ७ वीं गली खम्बाटालेन)
स्वकीये "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-मुद्रणयन्त्रालये
मुद्रयित्वा प्रकाशिता।

प्रथमसंस्करणम्।

विक्रमाब्दाः १९७१।

पंडित ज्वालाप्रसादजी मिश्र-मुरादाबाद.

SIDDHANTA KAUMUDI

OR

BHATTOJI DIKSHIT'S VRITTI

ON

PANINI'S VYAKARANA SUTRAS

WITH

THE HINDI TRANSLATION

BY

PANDIT JWALAPRASAD MISRA
VIDYABARIDHI

OF

MORADABAD.

PUBLISHED BY

Khemraj Shrikrishnadass,

SHRI VENKATESHWAR STEAM PRESS,

BOMBAY.

1914.

भूमिका ।

गौरि गिरा गणपति सुमरि, शम्भुचरण शिरनाय ।
पाणिनीयसिद्धान्तकी, टीका लिखत बनाय ॥

संस्कृतसाहित्यमें वेदार्थ जाननेके निमित्त शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष यह छः वेदाङ्ग प्रसिद्ध हैं, इनमें 'मुखं व्याकरणं प्रोक्तम्' इस प्रमाणसे व्याकरणको वेदका मुख कहाहै, जिस प्रकार मुखसे शब्दावली निर्गत होकर हृदयगत समस्त अभिप्रायोंको प्रगट करदेतीहै, इसी प्रकार व्याकरणशास्त्र वेदादि ग्रन्थोंके अभिप्राय (अर्थ) और शुद्धताका पूर्णज्ञान प्राप्त करादेताहै, महाभाष्यमें व्याकरणशास्त्रके अध्ययनकरनेके जो प्रयोजन लिखेहैं, उनका कुछ सारांश यहां प्रगट करतेहैं वहां लिखाहै कि लौकिक और वैदिक भेदसे दो प्रकारके शब्द होतेहैं वही इस शास्त्रका विषय हैं, उनका ज्ञान ही इस शास्त्रका प्रयोजन है, इसका जिज्ञासु अधिकारी है वे प्रयोजन अठारह प्रकारके हैं । १ **वेदरक्षा**, वेदोंकी रक्षा यथा-'भद्रं कर्णेभिः' इत्यादिवैदिक प्रयोगोंमें कर्णेभिः इसका व्याकरणद्वारा शुद्धताका ज्ञान, २ **ऊहः**-अर्थात् पद विभक्ति आदिका अपने प्रयोजनके अनुसार वेदमें परिवर्तन, यथा-'अग्नये त्वा जुष्टन्निर्वपामि, इसमें सूर्यके उद्देश्यसे कहनाहो तो 'सूर्याय त्वा जुष्टम्' इत्यादि कहना ऊह कहाताहै, ३ **आगमः**-वर्णादिकी प्राप्ति यथा-'विश्वेदेवासः' इत्यादिमें "आज्जसेरसुक्" इससे असुक्का आगम व्याकरणसे सिद्ध होताहै, ४ **लाघवम्**-अर्थात् ब्राह्मणको निष्कारण षडङ्गवेद पढना और जानना उचित है सो इस शास्त्रसे उन सबके लघुउपायसे ज्ञानकी प्राप्ति, ५ **असन्देहः**-अर्थात् सन्देहका दूर होना, यथा-'स्थूलपृषती' इसमें स्थूला चासौ पृषती अथवा स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा, ऐसा तत्पुरुष वा बहुव्रीहि कौन समास करें, इस सन्देह निवृत्तिमें व्याकरणकी स्वरप्रक्रियासे निश्चयका ज्ञान, ६ **म्लेच्छताऽसम्पत्तिः**-अर्थात् वैदिक शब्द अशुद्ध उच्चारणसे म्लेच्छता प्राप्त होतीहै उसका अभाव, यथा--'हे ३ रयः' के स्थानमें 'हेलयः' प्रयोग म्लेच्छ अपशब्द है, ७ **स्वरवर्णदोषरहितशब्दप्रयोगः**-अर्थात् स्वरवर्णके दोषसे रहित शब्दोंका प्रयोग, ८ **सार्थकवेदज्ञानम्**-अर्थात् अर्थके सहित वेदका ज्ञान 'योऽर्थवित्सकलं भद्रमश्नुते' इस श्रुतिके अनुसार वेदार्थका ज्ञाता सकलकल्याणोंको प्राप्त होताहै, ९ **सुशब्दापशब्दप्रयोगे धर्माधर्मावाप्तिः**-अर्थात् सुशब्द और अपशब्दके प्रयोगसे धर्म और अधर्मकी प्राप्ति, उसमें अधर्मसे बचना, १० **प्रत्यभिवादे नाम्नि प्लुतज्ञानम्**-अर्थात् प्रत्यभिवादवाक्यमें नाममें प्लुतकाज्ञान, ११ **सविभक्तिकप्रयाजादिमन्त्रकरणम्**-अर्थात् वेदोंके प्रयाजादिमन्त्रोंको विभक्तिसहित उच्चारण करना, १२ **पदशः स्वरशोऽक्षरशश्च वाचो विधानम्**-अर्थात् पद स्वर और अक्षरोंको विभाग करके प्रयोग करना, १३ **चतुर्विधपदजातकालनित्यानित्यशब्दविभक्तिस्थानज्ञानम्**-अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपातरूप चारप्रकारके पदोंका ज्ञान, भूत भविष्य वर्त्तमानाकालज्ञान, व्यङ्ग्यव्यञ्जकशब्दोंका ज्ञान, सातविभक्तिका ज्ञान वर्णोंके स्थानादिका ज्ञान, अथवा परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, यह चार अंशवाला नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपातात्मकपदोंका ज्ञान, १४ **वाग्विस्तारसम्प्राप्तिः**-अर्थात् प्रकृति प्रत्यय आदिके ज्ञानसे वाणीके विस्तारकी सम्प्राप्ति, १५ **असाधुशब्देभ्यो विविच्य साधुशब्दपृथक्करणम्**-अर्थात् अशुद्ध शब्दोंके समूहोंमेंसे निकालकर साधुशब्दोंका पृथक् करना, १६ **अपशब्दप्रयोगजन्यप्रत्यवायपरिहारकप्रायश्चित्तानाचरणम्**,-अर्थात् अपशब्दोंके प्रयोगसे उत्पन्न प्रत्यवायके निवृत्त होनेके निमित्त प्रायश्चित्तका अनाचरण अर्थात् (आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्ती स्यात्) आहिताग्नि अपशब्दका प्रयोग करनेसे प्रायश्चित्ती होता है सो नहीं होना, १७ **नामकरणेषु विहितनामस्वरूपज्ञानम्**-अर्थात् नाम रखनेके समय शास्त्रविहित कृदन्तनामके स्वरूपका ज्ञान, १८ **सर्वविभक्त्यन्तानां सम्यगुच्चारणम्**-अर्थात् सम्पूर्ण विभक्त्यन्त पदोंका सम्यक् उच्चारण करना, यह अठारह प्रकारके प्रयोजन हैं व्याकरणशास्त्रके विना यह प्रयोजन निर्वाह नहीं होसकते इस कारण व्याकरण अवश्य पढना चाहिये किसी पंडितने अपने पुत्रसे कहा था कि, 'यद्यपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम् । स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृच्छकृत् ॥ अर्थात् हे पुत्र यदि तुम बहुत न पढ सक्के तो भी व्याकरण पढो जिससे स्वजन (निजकुटुम्बी) इसके स्थानमें श्वजन (कुत्ता) सकल (सब) इसके स्थानमें शकल (टुकडा) सकृत् (एकबार) इसके स्थान

शकृत् (विष्ठा) ऐसा विपरीत अर्थवाची शब्द सकारके स्थानमें शकार उच्चारणसे न होजाय ।

भाष्यकार यहां तक लिखगयेहैं कि, अपशब्द बोलनेसे म्लेच्छता आजातीहै * हम म्लेच्छ न होजांय इस कारण व्याकरण अवश्य पढना चाहिये ।

इस शास्त्रके मुख्य ग्रन्थ अष्टाध्यायी और महाभाष्य हैं, महर्षि पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायीग्रन्थपर महर्षि पतञ्जलिकी विस्तृत व्याख्याका नाम महाभाष्य है, एक टीका जो पाणिनि सूत्रोंपर है वह काशिकानामसे विख्यात है, अष्टाध्यायीसे पहले [ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम् । सारस्वतं चापिशलं शाकलं पाणिनीयकम्] ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न, कौमार, सारस्वत, शाकटायन, आपिशल और शाकल यह आठ व्याकरण प्रचलित थे, परन्तु पाणिनिके व्याकरणके सामने इनका प्रचार बहुत घटगया और इसी अष्टाध्यायी तथा भाष्यपर अनेक प्रकारकी टीका टिप्पणी होनेलगीं पीछे महामहिम पण्डितप्रवर श्रीभट्टोजिदीक्षितने उस अष्टाध्यायीके अनुसार प्रक्रियाकी कठिनता विचारकर सूत्रोंका क्रम छोड संधि, षड्लिङ्ग, स्त्रीप्रत्ययादि प्रकरण बांधकर उस विषयके समस्त सूत्र उस प्रकरणमें एकत्र करके उनकी वृत्ति लिखकर, और शंकासमाधानरूप पूर्वपक्ष उत्तरपक्षरूपनियामक पंक्ति (फक्किका) सन्निविष्ट करके विद्यार्थियोंकी बोधवृद्धिके निमित्त एक नवीनरूपसे इस ग्रन्थको प्रकाशित किया और इसका नाम—

"वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी ।"

रक्खा, इस ग्रन्थके प्रकाशित होते ही इसका प्रचार यहांतक बढा कि, इसके पूर्वकी व्याख्यायें एकप्रकार लोपसी होगईं, और कौमुदीपर बालमनोरमा प्रौढमनोरमा आदि अनेक प्रकारके टीके टिप्पण होनेलगे, परन्तु क्या सिद्धान्तकौमुदी ऐसी सरल है कि, सब प्रकारके विद्याभिलाषी इसमें सहसा प्रवेश करसकें ? नहीं यह भी एक महाकठिन ग्रन्थ है, इसी कारण इसमें प्रवेश करने और विद्यार्थियोंको व्याकरणका मर्म समझानेके लिये भट्टोजिके शिष्य वरदराजने मध्य. और लघुकौमुदीके नामसे दो ग्रन्थ इसमेंसे उद्धार किये उनमेंसे लघुकौमुदीका पठन पाठन प्रायः अनेक संस्कृतपाठशालाओंमें आरंभिक अवस्थामें होताहै और युक्तप्रदेशकी यूनीवर्सिटीने काशीकी प्रथमापरीक्षामें इसको स्थानदान कियाहै और प्रतिवर्ष अनेक विद्यार्थी प्रथमापरीक्षामें उत्तीर्ण होकर व्याकरणशास्त्रमें प्रवेशकी योग्यता प्राप्त करते हैं ।

यद्यपि सिद्धान्तकौमुदी एक नव्यशैलीपर व्याकरणके बोधके निमित्त निर्मित हुईहै और इसके द्वारा पढनेवालोंको पूरा बोध होता है, तथापि इसकी शब्दसाधनिका और विशेषकर पंक्तियें बहुत ही जटिल हैं, एक २ शब्दके साधनमें पन्द्रह २ बीस २ सूत्र लगजाते हैं, और पूर्वापरविषयकी शंकासमाधानके विना इसकी पंक्तिये वा परिभाषाओंका लगना बहुत ही कठिन है, एकबार अध्यापकके साधनका करादेनेपर विद्यार्थियोंको यदि वह विषय समझमें न आवे तो अध्यापक उस विषयमें फिर अडचन मानते हैं, तथा समय भी व्यय होताहीहै कितने विद्यार्थी तो भय वा संकोचके कारण दूसरीबार पूछते ही नहीं यहांतक कि उस विषयमें अधूरे रहजाते हैं, इस कारण अध्यापक और विद्यार्थी दोनों व्यक्तियोंके हितकी बात विचारकर मैंने प्रथम लघुकौमुदीका शब्दसाधनिकाके सहित भाषानुवाद किया, उससे संस्कृत जाननेकी इच्छावालोंको इतना लाभ हुआ कि, कितने अङ्गरेजी पढकर संस्कृतमें परीक्षा देनेवाले महाशयोंने यहांतक लिखा कि हमने आपकी भाषानुवाद कीहुई कौमुदीको स्वयं पढकर प्रथमपरीक्षा उत्तीर्ण की, तथा दूसरे विद्यार्थियोंको भी इससे बहुत बडा लाभ पहुँचा है और जबसे यह टीका हुआ तबसे आजतक इसकी कई आवृत्ति होचुकी हैं ।

कुछ दिनोंसे मेरे पास इस विषयके बहुतसे पत्र आते रहे कि, सिद्धान्तकौमुदीका भाषानुवाद किया जाय तो व्याकरणप्रेमियोंका बहुत बडा उपकार हो, और यह जिज्ञासा केवल विद्यार्थियोंको ही नहीं थी अनेक विद्वानोंकी भी पत्रोंद्वारा यह इच्छा जानी गई कि सिद्धान्तकौमुदीका भाषानुवाद अवश्य होना चाहिये, जब बहुत सज्जनों और महानुभावोंकी रुचि इसमें पाई गई तब मैंने भी इस विषयमें विचार किया और मुझे भी यह कार्य लोकहितकर प्रतीत हुआ; परन्तु सिद्धान्तकौमुदीका अनुवाद करना कोई साधारण काम नहीं है पाणिनिसूत्रोंका भाव अर्थ और अनुवृत्ति तथा दीक्षितजीकी फक्किकाओंका अर्थ समझा देना क्या कोई साधारण बात है, केवल सूत्र और पंक्तियोंका अर्थ प्रकाशित करना भी कठिन काम है, तथापि परमेश्वरके अनुग्रह गुरुचरणोंकी कृपा और सज्जनोंके अनुरोधसे मैं इस दुरूहकार्यमें प्रवृत्त हुआ ।

पूर्वमें मेरा विचार था कि, आरम्भसे अन्ततक लघुकौमुदीकी समान इसकी समस्तसाधनिका की जाय परन्तु ऐसा करनेसे ग्रन्थका बहुत बडा विस्तार होजाता, और फिर सुलभ मूल्य न होनेसे साधारणविद्यार्थियोंको इसकी

---

* म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् ।

प्राप्ति दुर्लभ होजाती, एकप्रकारसे फिर भी ग्रन्थ अलभ्य होजाता, और सिद्धान्तकौमुदीके टीकेमें ऐसा होना भी न चाहिये कि साधारण सूत्रोंतकका बार २ उल्लेख कियाजाय, कारण कि, जबतक लघुकौमुदी न आती हो तबतक सिद्धान्तकौमुदीमें यथेष्ट प्रवेश नहीं होसकता, और लघुके सूत्र याद होनेसे उतने सूत्रोंको पढनेवाले स्वयं ही जान सकतेहैं, और यदि इस ग्रन्थमें साधनिका सर्वथा त्यागदीजाय तो विद्यार्थियोंको लाभ ही क्या हो सकता है, इसलिये यह उचित समझा गया कि ग्रन्थका आकार भी बहुत न बढने पावै, और उपयोगी साधनिका भी न रहजाय और विद्वानोंका यह भी निश्चय है कि, कारकपर्यन्तकी सिद्धान्तकौमुदी आजानेसे फिर विशेष कठिनाई नहीं रहती इस कारण संधि षड्लिङ्ग स्त्रीप्रत्यय कारकपर्यन्त साधनिकामें समस्तसूत्रांक तथा सूत्रोंका प्रथमपद लिखकर समझायागया है. कि जिससे वारम्वार लौटफेर करनेसे वे सूत्र पढनेवालोंको कण्ठ होजायँ, और आगेको बारम्बार उन सूत्रोंके उल्लेखका प्रयोजन न रहै और षड्लिङ्गमें साधनिकाके सिवाय उन २ सुबन्तोंके पूरे २ रूप भी लिख दिये हैं इन प्रकरणोंके सिवाय अगले प्रकरणोंमें प्रयोगसिद्धिमें मुख्य २ सूत्रोंसे काम लिया गया है, तथापि प्रयोजनकी कोई बात उठा नहीं रक्खी गई है, इसके सिवाय परिभाषाओंके अर्थ विस्तारसे किये हैं और स्वरवैदिकीमें विशेष परिश्रम किया गया है शब्द साधनिका पदोंमें स्वरोंके चिह्न ऋचाओंके पते भी जहां तहां लिखकर प्रत्येकसूत्रके नीचे उदाहरणोंमें एक एक दो दो शब्दोंकी साधनिका भी कीगई है उणादिमें शब्दोंका अर्थ भी लिखा है तथा मध्यमें जहां कहीं कुछ विशेष लिखनेकी आवश्यकता हुई है वहां उसको भी लिखा है पश्चात् (शिक्षा, अष्टाध्यायीसूत्र, गणपाठ, लिङ्गानुशासन, धातुपाठ, कौमुद्यन्तर्गतवार्तिकपाठ, परिभाषापाठ, शाकटायनप्रणीत उणादिपाठ, शान्तनवाचार्यप्रणीत फिट्सूत्रपाठ, अष्टाध्यायीसूची, गणपाठसूची, धातुसूची, वार्तिकसूची परिभाषासूची उणादिसूची, फिट्सूत्रसूची क्रमसे सन्निविष्ट हैं यह मैं विश्वासके साथ कह सकताहूं कि जिसको लघुकौमुदी आती होगी अथवा जिसको कारकपर्यन्त भाषाटीकेसहित यह ग्रन्थ स्मरणहोजाय उसके लिये यह अनुवाद बहुत ही उपयोगी होगा, और जिनको पिछलापाठ स्मरण नहीं भी है बारंबार सूत्रोंके लौटफेरसे उनको भी सूत्रोंको कण्ठाग्र होजानेकी बहुत कुछ संभावना है। पढने-वालोंको इससे एक बहुतबडा लाभ यह भी होगा कि, गुरुजी जो विषय एकबार शिष्यको समझादेंगे, वह विद्यार्थी दूसरीबार गुरुजीको उस विषयमें कष्ट न देकर टीकेके सहारे अपना अभीष्ट सिद्धकर सकैगा, और इस प्रकारसे अध्यापक और अध्येता दोनोंको सुभीता होगा मुझे यह भी विदित है कि, कोई २ संस्कृतके विद्वान् जिनसे कभी एकपत्र भी घण्टे भरसे कममें नहीं लिखा जाता भाषानुवादके पक्षपाती नहीं होते, न पसन्द करतेहैं, उनसे मुझे यह कहना है कि आप इस विषयमें रुष्ट न हों अनुवाद होजानेपर भी आपकी कोई हानि नहीं, कारण कि, आपके पास तो इस विषयके खर्रे भरे पडेहैं, जिनको इस ग्रन्थमें स्थान नहीं मिलाहै, इस कारण आप इस विषयमें रुष्ट न होकर विद्याप्रेमियोंकी और विद्यार्थियोंकी भलाईकी ओर दृष्टिदें।

यथासाध्य टीका सरल और समझनेके योग्य किया-गयाहै इस पर भी यदि कहीं न्यूनता रही हो तो यथार्थसूचना मिलनेसे आगामी बार उस विषयको ठीक या विस्तृत करनेमें परिश्रम कियाजायगा कारण कि, विज्ञजन इस बातको भली भांति जानतेहैं कि, शब्दशास्त्र कितना गंभीर है और उसमें भी पाण्डित्यसम्पादनके लिये सिद्धान्तकौमुदी एक ही ग्रन्थ है और वह भी ऐसा लच्छेदार है कि, कभी २ विद्वानोंको भी चक्करमें डालदेताहै बहुतसे सज्जन वक्ष्यमाणा आदि पंक्तियोंमें ही विचरतेहैं उसको भाषानुवादके सहित सर्वसाधारणके सामने उपस्थित करना कितने बडे परिश्रमका काम है.

यद्यपि मेरा यह परिश्रम लोकहितकर तथा विद्या-प्रेमियोंके निमित्त ही है और मुझे पूर्ण आशा है कि, गुणग्राही सहृदयपुरुष इस कार्यसे अवश्य प्रसन्न होंगे परन्तु जिनके हृदय असहनशीलता तथा राग द्वेषकी अग्निसे सुलगते रहतेहैं, उनके लिये यह कार्य न रुचैगा, कारण कि, गोस्वामीतुलसीदासजीने बहुत-कुछ समझकर अपने अमूल्य ग्रन्थके प्रारंभमें 'उजरे हर्ष विषाद बसेरे' के स्वभाववालोंको पुष्पाञ्जलि समर्पण करतेहुए कहाहै.

जे परदोष लखहिं सहसाखी । परहित घृत जिनके मनमाखी ॥ परन्तु ' न्यायात्पथः परिचलन्ति पदं न धीराः ' के अनुसारमें स्वकर्तव्य पालनमें तत्पर हुआहूँ, मैंने लोकहितकर सिद्धान्तके अनुसार सिद्धान्तकौमुदीकी संजीविनीव्याख्या पाठकोंके सन्मुख उपस्थित की है यदि इससे विद्यानुरागियोंको कुछ लाभ हुआ तो मैं अपने परिश्रमको सफल जानूंगा ।

इस अवसरमें हम अपने विद्यारसिक परमप्रतिष्ठित लोकोपकारी धर्मनिष्ठ श्रीवेंकटेश्वर यंत्रालयाध्यक्ष सेठजी श्रीयुत खेमराज श्रीकृष्णदासजी महोदयको अनेक धन्यवाद देते हैं कि, जिन्होंने वेद, वेदांग, इतिहास, पुराणादि ग्रन्थोंका हिन्दीभाषामें अनुवादप्रकाशित कराके भारतका बहुत बडा उपकारसाधन किया है, और इस विषयमें समय २ पर हमारे उत्साहको बढाते रहे हैं. हमारी ईश्वरसे प्रार्थना है कि, सेठजी महोदय अपने दोनों सुयोग्य चिरञ्जीवी बाबू रंगनाथजी तथा बाबू श्रीनिवासजीके सन्ततिरूप पौत्रोंका दर्शनलाभ करके सब प्रकारके सुखानुभव करतेहुए भगवद्भक्तिका लाभ उठावें ॥

अनुगृहीत—

मार्गशीर्षपूर्णिमा संवत् १९७० — ज्वालाप्रसादमिश्र, दिनदारपुरा-मुरादाबाद.

॥ श्रीः ॥

पाणिनि ।

जिन महामुनिपाणिनिके व्याकरणशास्त्रकी महिमा समस्तविश्वमें विराज रहीहै संस्कृतसाहित्यमें प्रवेशके लिये जिनका व्याकरणशास्त्र एकमात्र अवलम्बन है, कौन ऐसा पुरुष है जो उनके जन्मसमय, निवासस्थान, तथा चरित्रके जाननेकी इच्छा न करता हो, महात्माओंके वृत्तान्तका जानना प्रत्येक विज्ञपुरुषका कर्त्तव्य है, इस कारण इस समय हम पाणिनि आदिमुनित्रयके सम्बन्धमें कुछ कहनेकी इच्छा करतेहैं, यद्यपि इस विषयका कोई मुख्यग्रन्थ नहीं पायाजाता, तथापि विद्वानोंके निबन्धों और कथासरित्सागर तथा * बृहत्कथाके आधारपर इस विषयमें हम कुछ कहतेहैं ।

आचार्य हेमचन्द्र अपने बनाये चिन्तामणिनामक अभिधानमें लिखतेहैं ।

(अथ पाणिनी, शालातुरीयदाक्षेयौ)

अर्थात् शालातुरीय और दाक्षेय यह दोनों पाणिनिमुनिके नाम हैं, यह अभिधान ७५० वर्षसे अधिक समयका है, अमरसिंहने भी पाणिनिका अनुसरण कियाहै मगधेश्वर शेषनन्द और चन्द्रगुप्तके समकालिक चाणक्यमुनिने भी पाणिनिके सूत्रोंको न्यायभाष्यमें लिखा है, 'अस्तेर्भूः ब्रुवो वचिः. आधारोऽधिकरणम्, ध्रुवमपायेऽपादानम्' इत्यादि पाणिनिसूत्र वात्स्यायननामकभाष्यमें उतारे हैं, वात्स्यायन और चाणक्य एक ही हैं पूर्वकालमें गुणवश और कार्यके कारण एक ही मनुष्यके अनेक नाम होतेथे इसी प्रकार चाणक्यके भी अनेक नाम थे यथा—

वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः ॥

अर्थात् वात्स्यायन, मल्लनाग, कौटिल्य, चाणक्य, द्रामिल, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्त और अङ्गुल यह चाणक्यके नाम हैं, न्यायभाष्य चाणक्य अर्थात् वात्स्यायन व्यक्तिका निर्मित है उसके और भी प्रमाण हैं, उद्योतकरमिश्रकृतवार्तिक और वाचस्पतिमिश्रकृत टीकेमें यह ग्रन्थ पक्षिलस्वामीकृत लिखाहै न्यायभाष्यमें पक्षिलस्वामीका जो स्वतंत्र मत है उसको नवीन नैयायिक भी जानतेहैं इन प्रमाणोंसे सिद्ध है कि मल्लनाग पक्षिलस्वामी वात्स्यायन और चाणक्य एक ही व्यक्ति हैं चाणक्य वा वात्स्यायन नीतिशास्त्र और शब्दशास्त्रमें बहुत प्रसिद्ध हैं संस्कृतमुद्राराक्षसके अनेकस्थलोंमें चाणक्यको कौटिल्यनामसे लिखाहै, चाणक्यने पाणिनिका नाम लिखाहै तो यह शेषनन्दसे पहलेके हैं ।

परन्तु यूरूपियन आचार्य गोल्ड स्टुकके मतसे पाणिनि ईसवी सन्से ६०० वर्ष पूर्वके हैं अन्ययूरुपनिवासियोंके मतसे ईसवीसन्से ४०० वर्ष पूर्वके हैं, तिब्बतदेशीय लामा तारानाथने उनको नन्दके समयमें हुए कहाहै किन्तु वह किस नन्दके समयमें हुए यह नहीं कहा यदि शेषनन्द हैं तो ५०० वर्ष ईसासे पूर्वके हैं वंगदेशीय पंडित तारानाथ तर्कवाचस्पतिने भी ५०० वर्ष पूर्वका निश्चय कियाहै, परन्तु हम ऊपर अभी दिखा चुकेहैं कि नन्दके समयमें होनेवाले चाणक्यसे भी पाणिनि बहुत पहले के हैं, बृहत्कथामें उनका नन्दके समयमें होना लिखाहै, हमारी समझमें वह पहले नन्दके समातिकाल या दूसरे नन्दके आरंभकालमें हुएहैं, कारण कि ग्रन्थ प्रचारके लिये भी तो कुछ समय चाहिये विना प्रचारके वात्स्यायन अपने न्यायभाष्यमें उनके सूत्रोंका उल्लेख कैसे करते ।

जिन विद्वानोंका यह मत है कि, पाणिनि ईसवी सन्से चारसौवर्ष पूर्व हुएहैं उनको यह विचारना चाहिये कि यह समय तो भगवत्पाद आदि शंकराचार्यका है, विमर्शनामक ग्रन्थमें उनका जन्म युधिष्ठिरके २६३१ संवत् वैशाख मासकी शुक्लपंचमीको लिखाहै, और अन्तसमय राजा सुधन्वाने जो अपना अनुशासन ताम्रपत्रमें लिखकर आचार्यको अर्पण कियाहै उसकी मुहरमें युधिष्ठिरसंवत् २६६३ लिखाहै युधिष्ठिर संवत् विक्रम संवत्में ३०४४ था, इस गणनासे आचार्यको इस समय २३५१ वर्ष व्यतीत होतेहैं और आचार्यने वेदान्तदर्शनके प्रथम अध्यायमें [नच पाणिनिस्मृतिविरोधः] ऐसा उल्लेख कियाहै तब इससे स्पष्ट है कि, शंकराचार्यसे भी पाणिनि प्राचीन हैं ।

पूर्वमीमांसाके भाष्यकार शबरस्वामी इन शंकराचार्यसे भी प्राचीन हैं कारण कि, वेदान्त शास्त्रके प्रथम अध्या-

---

* बृहत्कथानामकग्रंथ पैशाचीभाषामें गुणाढ्यपंडितने निर्माण किया था सोमदेवभट्टने उस बृहत्कथासे अनुवाद करके कथासरित्सागर लिखा था, यह कथा २००० वर्ष की लिखीहुई है सोमदेव और राजतरंगिणीग्रन्थके निर्माता कल्हणपंडित एक ही समयके हैं यह दोनोंकाश्मीरदेशमें अनुमान एक सहस्रवर्ष हुए विद्यमान थे ।

यमें "यत्तु शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणम्" इस उक्तिके द्वारा शवरस्वामीके वचनका उल्लेखकर उनकी वृद्धोचित रूपसे पूजा की है इन विद्वान् शवरस्वामीने भी पाणिनिके मतका उल्लेख कियाहै यथा "नहि वृद्धिशब्देन अपाणिनेर्व्यवहारत आदैच: प्रतीयेरन् पाणिनिकृतिमननुमन्य--इति १ अ० १ पाद. इन प्रमाणोंसे सिद्ध है कि इनका जन्मकाल शवरस्वामीसे भी प्रथमका है.

अस्तु अब हम यह सिद्ध करना चाहतेहैं कि, जब पाणिनि नन्दके समय हुए और प्रथमनन्दके समय हुए तो इस समय उनको कितना कालगत होताहै श्रीमद्भागवतके बारहवें स्कन्धके दूसरे अध्यायमें लिखाहै ।

यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नंदाभिषेचनम् ।
एतद्वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पंचदशोत्तरम् ॥ २।२६ ॥
महानन्दिसुतो राजन् शूद्रागर्भसमुद्भवः ।
महापद्मपतिः कश्चिन्नन्दः क्षत्त्रविनाशकृत् ॥ ९ ॥
तस्य चाष्टौ भविष्यन्ति सुमाल्यप्रमुखाः सुताः ।
य इमां भोक्ष्यन्ति महीं राजनश्च शतं समाः ॥

अर्थात् परीक्षितके जन्मसे लेकर नन्दके आरंभका समय १०१९ वर्षका है विष्णुपुराणमें "ज्ञेयं वर्षसहस्रं तु शत पंचदशोत्तरम्" १११९ वर्षका समय निरूपण किया है युधिष्ठिर और परीक्षितका समय बीचमें ८० वर्ष ले लें तो १०९९ और एकनन्दके राज्य अवसानके ११ वर्ष औसत निकाललें तो एक हजार एक सौ छः ११०६ वर्ष होतेहैं, और विष्णुपुराणके मतसे १२०६ वर्ष प्रथमनन्दके कालकी समाप्तिको होतेहै, इस संवत् १९७० में कलिके ५०१४ वर्ष बीतेहैं, इस गणनासे ३९०८ अथवा विष्णुपुराणके मतसे ३८०८ वर्ष पाणिनिके जन्मको वीततेहैं और यदि अन्तिमनन्दके १०० वर्ष मिलालें तो ११९९ वा १२९९ विष्णुपुराणके मतसे होतेहैं जिसकी गणनासे ३८१९ वा ३७१९ वर्ष महामुनिको होतेहैं ।

दूसरी गणना यह है कि परीक्षितके समयमें सप्तर्षि मघानक्षत्रमें थे जैसा कहाहै ।

ते त्वदीया द्विजाः काले अधुना चाश्रिता मघाः ।
तेनैव ऋषयो युक्तास्तिष्ठन्त्यब्दशतं नृणाम् ॥ २८ ॥
यदा देवर्षयः सप्त मघासु विचरन्ति हि ।
तदा प्रवृत्तस्तु कलिर्द्वादशाब्दशतात्मकः ॥ ३१ ॥
यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढां महर्षयः ।
तदानंदात्प्रभृत्येष कलिर्वृद्धिं गमिष्यति ॥३२॥अ० २ स्कं० १२ ॥

वाराहीसंहितामें भी लिखाहै "आसन् मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ" अर्थात् परीक्षितके समयमें सप्तर्षि मघानक्षत्रमें थे और एक एक नक्षत्र पर १०० वर्ष रहतेहैं मघामें विचरते ही कलियुगका आरंभ होताहै जब सप्तर्षि पूर्वाषाढमें जायेंगे तब नन्दादिके राज्यमें कलिवृद्धि होगी इस गणनासे ग्यारहवां नक्षत्र पूर्वाषाढ है और वराहमिहिर लिखतेहैं युधिष्ठिरके समयमें भी मघामें थे तब ११०० वर्ष गत कलिमें नन्दराज्य आरंभ है इसमें प्रथमनन्दके ११ जोडनेसे ११११ और अवसान पर्यन्त पूरे १०० जोडनेसे १२०० बारह सौ वर्ष होते हैं और ५०१४ गतकलिमें घटानेसे ३८१४ शेष वर्ष रहते हैं यह घटाकर भी ३८१४ पाणिनिका समय होगा, और प्रथमनन्दके अवसानमें ३९०३ होगा।

कोई कहते हैं कि "ततोपि द्विसहस्रेषु दशाधिकशतत्रये । भविष्यन्नन्दराज्यं च चाणक्यो यान् हनिष्यति" यह स्कन्दका वचन है द्विसहस्रेषु यहां निर्धारणमें सप्तमी है तब यह अर्थ होगा कि, ३१० वर्ष कम दो सहस्र वर्षके वीतनेपर नन्दराज्य होगा जिनको चाणक्य मारेगा तब २००० में ३१० घटानेसे १६९० बचते हैं इसमें १०० वर्ष और मिलानेसे १७९० होते हैं और ५०१४ मेंसे १७९० घटानेसे ३२२४ बचते हैं यदि प्रथम नन्दके अवसानमें पाणिनिका प्रादुर्भाव मानें तो ३३१३ वर्ष महर्षि पाणिनिको होते हैं *

अब यदि चन्द्रगुप्तका समय निकाला जाय तो स्पष्ट है कि ८०×१०१९+१००=११९९ युधिष्ठिराब्द गत होनेपर चन्द्रगुप्त हुए और भाष्यकारने महाभाष्यमें "सभाराजाऽमनुष्यपूर्वा २ । ४ । २३" इस सूत्रपर "चन्द्रगुप्तसभा" ऐसा उदाहरण दिया है, इससे स्पष्ट है कि, उस समय वा उस चन्द्रगुप्तसे कुछकाल पीछे ही महाभाष्यकी रचना हुई है नन्दोंकी समाप्ति पर ही चाणक्यका जन्मकाल है और भागवतके मतसे युधिष्ठिराब्द ११९९ और विष्णुपुराणके मतसे १२९९ वर्ष चाणक्यको होते हैं और भाष्यकारको २९ वर्ष पीछे मानें तो गतकलि १२२० वि० पु० के मतसे १३३० वर्ष होते हैं, जिसको इस समय ३७९९ वा ३८९९ वर्ष

*राजतरंगिणीके मतसे "शतेषु षट्सु सार्द्धेषु त्र्यधिकेषु च बत्सरे । अभवन् कुरुपाण्डवाः" कलिके ६५३ वर्ष बीतनेपर कौरव पाण्डव हुए ऐसा है तब युधिष्ठिरके ११०६ शकमें गत कलि ६५३ वर्ष जोडनेसे १७५९ वर्ष होते हैं गतकलिमें यह घटानेसे ३२५५ वर्ष महामुनिको व्यतीत हुए हैं तात्पर्य यह है कि, इस गणनासे भी तीनसहस्रवर्षसे अधिक प्रतीत होते हैं ॥ यूरुपके विद्वानोंने चन्द्रगुप्तका समय ईसवी सनसे ३१६ वर्ष पहले कहा है ॥

होते हैं, और स्कन्दके मतसे ३२४९ वर्ष होते हैं यदि सब प्रकारसे केन्द्र मानकर विचार किया जाय तो भी पाणिनिऋषि ३५०० साढे तीन सहस्रवर्षके आगे पीछे प्रतीत होते हैं।

अब इस बातका विचार करते हैं कि, राजा युधिष्ठिरका शकाब्द ही गत कलि है वा और कुछ तो भविष्यकी वंशावलीसे यह समय सर्वथा मिल जाता है यथा—

पाण्डवानां कुलोत्पन्ना विष्णुरातादिका नृपाः।
कलौ राज्यं करिष्यन्ति वर्षाणां वै सहस्रकम्॥
ततो नृपा भविष्यन्ति पंच प्रद्योतसंज्ञकाः।
अष्टत्रिंशोत्तरशतं कलौ ते राज्यकारकाः॥
शिशुनागा दश नृपाः षष्ट्युत्तरशतत्रयम्।
कलौ भोक्ष्यन्ति पृथिवीं राजानो धर्मतत्पराः॥
शिशुनागात्परे राज्ये शूद्रागर्भोद्भवो बली।
महापद्मधरः कश्चिन्नंदो राज्यं करिष्यति॥
नन्दस्य चाष्टपुत्राश्च भविष्यन्ति च भूमिपाः।
तेषां तु वशगा भूमिर्भविष्यति शतं समाः॥
अब्रह्मण्याद्द्विजः कश्चिद्दुष्टान्नंदसुतानथ।
अयोग्या इति मत्वा तु राज्यात्तानुद्धरिष्यति॥
अराजके तु जगतीं विप्रदत्तां कलौ युगे।
भोक्ष्यन्ति दश मौर्याश्च सप्तत्रिंशोत्तरं शतम्॥
ततः शुंगा दश नृपा दशवर्षं शताधिकम्।
कलौ राज्यं करिष्यन्ति विख्याता सर्वतो दिशि॥
कण्वो हत्वा नृपं शुंगं राज्यलोभेन स्वामिनम्।
स्वयं करिष्यते राज्यं वसुदेवेति विश्रुतः॥
तत्पुत्रपौत्राः पृथिवीं चत्वारिंशच्च पञ्च च।
शतानि त्रीणि वर्षाणां भोक्ष्यन्ति च कलौ युगे॥
तद्भृत्यस्त्वन्ध्रजातीयः कंचित्कालमुशत्तम।
चकार राज्यं हत्वा वै कण्वं तु वृषलो बली॥
तस्य वंशोद्भवास्त्रिंशद्भविष्यन्ति कलौ नृपाः।
भोक्ष्यन्त्यान्ध्रास्तु पृथिवीं चत्वार्यब्दशतानि च॥
षट्पंचाशोत्तरं कालं परं तस्मान्निबोध मे।
सप्ताभीराश्च पृथिवीं भोक्ष्यन्त्यब्दशतं कलौ॥
ततो नृपा भविष्यन्ति दश गर्दभिसंज्ञकाः।
अष्टाधिकाश्च नवतिं तेषां राज्यं भविष्यति॥
कङ्काः षोडश भूपाला भविष्यन्ति कलौ गुह।
पालयिष्यन्ति गां ते वै वर्षाणाञ्च शतद्वयम्।
ततो वै वैक्रमो नाम भवितोज्जयिनीपतिः।
यो वै म्लेच्छान् सुसपन्नान् कोटिशो निहनिष्यति॥ श्रीमद्भा० वंशीधरीटीकेमें भविष्यपुराणके श्लोक। अर्थात् विष्णुरातादिका राज्य १००० वर्ष, १३८ वर्ष प्रद्योत, शिशुनाग ३६०, नन्दोंका राज्य १०० वर्ष, दशमौर्य १३७ वर्ष, शुंग ११० वर्ष, काण्व ३४५ वर्ष, आन्ध्र ४०० वर्ष, पीछे सप्त आभीर १५६, गर्दभिका ९८ वर्ष, कंक २०० वर्ष इनकी समाप्तिपर विक्रमादित्यका आगमन हुआ कंकोंके अवसानपर युधिष्ठिराब्द अर्थात् इन वर्षोंकी संख्या ३०४४ होतीहै इनमें विक्रमादित्यका १९७० संवत् जोडनेसे ५०१४ वर्ष ठीक निकल आतेहैं जो इस समय गतकलिके वर्ष हैं इससे सिद्ध है कि, युधिष्ठिरका संवत् विक्रमसंवत्के आरंभमें ३०४४ था.

कथामंजरी[1] तथा बृहत्कथामें लिखाहै कि, नन्दवंशीय राजाके शासनकालमें उपवर्षनामक एक महापंडित विद्यमान थे वह उपवर्षशब्दशास्त्रके आचार्य थे जिनके निमित्त ऐसा लेख पाया जाता है कि,

यदाह भगवानुपवर्षः वर्णा एव हि शब्दाः।

मध्यदेशनिवासी पाणिनि और व्याडि उनके शिष्य थे पाणिनिने शालातुरीय नामसे इस बातको सूचित किया है कि, यह देश उनके पूर्व पुरुषोंकी निवास भूमि थी परन्तु उनकी निवासभूमि यह नहीं है, बहुतोंको इस बातका भ्रम है कि वे शलातुरदेशवासी हैं, कारण कि, शालातुरीय और दाक्षेय यह दोनों पाणिनिके नाम हैं शालातुरीय नाम देखकर ही पाश्चात्य विद्वानोंने इस ग्रामको उनकी जन्मभूमि मानलिया है शलातुर गान्धार (कंधार) प्रदेशके अन्तर्गत एक ग्राम है, इस समय अटकप्रदेशके उत्तर पश्चिममें स्थित है, पाणिनिका जन्म इस स्थानमें हुआ वा यह उनकी निवास भूमि थी हम इस बातका अनुमोदन नहीं कर सकते कारण कि, पाणिनि इस बातको स्वीकार नहीं करते वह अपनी अष्टाध्यायीके (४।३।९०) में एक सूत्र लिखते हैं

'अभिजनश्च'

यह सूत्र और उनका शालातुरीयनाम यह दोनों एक गूढ रहस्यको प्रगट करते हैं शलातुरग्राम पाणिनिकी जन्मभूमि वा निवासभूमि नहीं है, किन्तु उनके महात्मा पूर्व पुरुषोंकी निवासभूमि थी महामुनिने "अभिजनश्च" इस सूत्रसे पहले "तदस्य निवासः" यह सूत्र बनायाहै, इससे यह सिद्ध होताहै कि निवास और अभिजन

१ कथामंजरीके कर्ता क्षेमेन्द्र हैं यह कथासरित्सागरसे पहले बृहत्कथासे अनुवादकी हुई है इन्होंने अपनेको व्यासदास कहकर परिचय दिया है इन्होंने अनन्तदेवके समय काश्मीरदेशमें शैव दार्शनिक अभिनवगुप्ताचार्यसे अलंकारशास्त्र पढा इसके सिवाय भारतमंजरी, रामायणमंजरी, कलाविलास, दशावतारचरित, समयमातृका, व्यासाष्टक, सुवृत्ततिलक, लोकप्रकाश, और राजावली आदि अनेकग्रन्थ इनके रचे संस्कृतसाहित्यभण्डारमें विद्यमान हैं।

इन दोनोंमें अवश्य कुछ भेद है वृत्तिकारने इस भेदको दिखायाहै "यत्र संप्रत्युष्यते स निवासः यत्र पूर्वपुरुषैरुषितं सोभिजनः" अर्थात् जहां वर्तमान वासस्थान है उसको निवास और जिस स्थानमें पूर्वपुरुषोंका निवास हो उसको अभिजन कहतेहैं, ऐसे अभिजनके अर्थमें मुनिने स्वयं 'शालातुरीयः' सिद्ध कियाहै कारण कि, "अभिजनश्च" इस सूत्रसे आगे अभिजन अर्थका आकर्षण करके "तूदीशलातुरवर्मतीकुचवाराङ्कृछण्ढञ्यकः ४। ३। ९४" यह सूत्र बनाकर शलातुर शब्दके उत्तर अभिजन अर्थमें ढक् प्रत्यय करके शालातुरीय रूप बनानेका आदेश कियाहै, इससे जब पाणिनिने स्वयं शलातुरग्राम अपना अभिजन बताया तव उनको शलातुरवासी कैसे कहसकतेहैं इस कारण हम बृहत्कथाके अनुसार उनको मगधदेशवासी ही कहैंगे, और इस शालातुरीय पदसे बृहत्कथाकी ऐतिहासिक सत्यता भी प्रमाणित होतीहै, पाणिनि किस देशके हैं इस बातको दाक्षेयपद सिद्ध करताहै यथा-"जीवति तु वंश्ये युवा।४।१।१६२" और "अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ।४।१।१६२" इन दो सूत्रोंमें वंश्य पुरुषोंके जीवित रहने पर उन प्रपौत्र प्रभृति दूरवंशवालोंकी युवसंज्ञा हो ऐसा कहाहै इसके अनुसार दाक्षिनामक पुरुषके जीवित रहते उनके पौत्र वा प्रपौत्र दाक्षायण नामवाले हों, यह दाक्षायण और व्याडि एक ही पुरुष हैं, कारण कि पतञ्जलिने व्याडिकृतलक्षश्लोकात्मक संग्रहनामकग्रन्थको दाक्षायण निर्मित कहाहै, यथा "शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः" इस प्रमाणसे व्याडि वा दाक्षायणके पितामह वा प्रपितामहका नाम दाक्षि हुआ एवं इन दाक्षिकी कनिष्ठा भगिनीका नाम दाक्षी हुआ, (दक्षस्यापत्यं पुमान् दाक्षिः दक्षस्यापत्यं स्त्री दाक्षी) पाणिनिने इन्ही दाक्षीके गर्भसे जन्म लियाथा इस अर्थमें कोई सन्देह नहीं है 'दाक्षीपुत्रेण धीमता' ऐसा अन्यत्र भी लेख है कि यह दाक्षीके पुत्र हैं, इन प्रमाणोंसे दाक्षायण वा व्याडिके पितामह वा प्रपितामह दाक्षिके साथ, दाक्षेय वा पाणिनिका मातुल भागिनेय अर्थात् मामाभांजेका सम्बन्ध प्रगट करताहै, दाक्षिके जीवित रहते ही व्याडिको पाण्डित्य प्राप्त होगयाथा और व्याडिके जीवितकालमें उनके पितामह वा प्रपितामह दाक्षि निश्चितरूपसे जीवित थे उनके विद्यमान न रहनेपर व्याडिका दाक्षायण नाम नहीं होसकताथा, इससे विदित है कि, व्याडिका नाम दाक्षायण है और पाणिनिका नाम दाक्षेय है इन नामोंसे सिद्ध है कि व्याडि और पाणिनि अवस्थामें न्यूनाधिक रहनेपर भी परस्पर एक दूसरेके दर्शनस्पर्शसे वंचित नहीं थे परन्तु व्याडिसे पाणिनिकी आयु अधिक प्रतीत होतीहै यह बात नीचेलिखे वंशपुरुषसे निश्चय होतीहैं।

```
                         दक्ष
                           |
          ---------------------------------
          |                               |
    दाक्षि (पुत्र)                  दाक्षी (कन्या)
          |                               |
          o                         पाणिनि वा दाक्षेय
          |
          o
          |
  व्याडि वा दाक्षायण
```

'जीवति तु वंश्ये युवा' पाणिनिके इस सूत्रके अनुसार दाक्षिकी जीवित अवस्थाकी सन्तानके सिवाय दाक्षेय वा दाक्षायण नाम सिद्ध नहीं होताहै यह बात यूरूपियन गोल्डस्टुकमहोदयकी बुद्धिमें नहीं समाई इसीसे उन्होने पाणिनि और व्याडिका * एककालमें होना नहीं लिखा, यह बात उनके सिद्धान्तको काट देतीहै इससे निश्चय हुआ कि, उनके पूर्व पुरुष गान्धार प्रदेशके शलातुरग्रामके रहनेवालेथे और पाणिनि मगधदेशके किसी एक स्थानके निवासीथे और पणिन् उपाधिको प्राप्त किसी विख्यातवंशकी सन्तान थे उनकी माताका नाम दाक्षी था और जातिसे ब्राह्मण थे दाक्षिणात्य व्याडिके साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था और दर्शनस्पर्श भी था कोई २ इनके पिताका नाम देवल कहतेहैं पर इस विषयका पूरा निश्चय नहीं है।

यूरूपीयआचार्य गोल्डस्टुकके मतसे पाणिनि ईसवीसन्से ६०० वर्ष पूर्वमें हुए यह विदित होताहै परन्तु उन्होने केवल व्याकरण सूत्रोंसे कुछ बातें लेकर उनका समय देश और उनकी ग्रन्थावलीका जो तत्त्वनिर्णय कियाहै वह युक्तिसंगत नहीं है कारण कि, प्रकृतिप्रत्यय का विभाग साधन और शब्दका साधुत्व बताना व्याकरणका मुख्य उद्देश्य है किन्तु पारिभाषिक वा निगूढसंकेतयुक्तशब्दके ऊपर व्याकरणकी कुछ विशेष प्रभुता नहीं है इतिहासका निर्णय व्याकरणद्वारा नहीं होसक्ता तथा पुराणोंमें 'पंचाम्र रोपी नरकं न याति' अर्थात् पंचाम्रका लगानेवाला नरकको नहीं जाता पाणिनिके मतसे इसका अर्थ पांच आम्रके वृक्ष ऐसा होता है, पर वास्तवमें

* व्याडिकी माताका नामगोत्रके अनुसार दाक्षी था यथार्थमें उसका नाम नंदिनी था इससे इनको नन्दिनीतनय भी कहते हैं और दक्षिणमें निवासकरनेके कारण विन्ध्यवासी भी कहे जाते हैं आचार्य हेमचन्द्रने नाममालामें "अथ व्याडिर्विन्ध्यवासी नन्दिनीतनयश्च सः" ऐसा लिखा है।

व्याडिका निवास वेतसपुर और इनके पिताका नाम कोई करम्भ लिखा है.

आम, वट, जामन, पीपल और गूलर इन वृक्षोंके समुदायको जो नव्य स्थानोंमें लगाये जाते हैं पंचाम्र कहते हैं और भी एकपद षोडशी है पाणिनि इसका अर्थ सोलह संख्याओंको पूराकरनेवाली करतेहैं, काव्यवेत्ता सोलहवर्षकी युवति अर्थ करतेहैं, कर्मकाण्डी श्राद्धसम्बन्धी पिण्डदानकी विशेष विधिको कहते हैं, यजुर्वेदमें सोमरसग्रहणका एक यज्ञपात्र षोडशी कहलाताहै यह शब्द पाणिनि वा अन्य व्याकरणोंके मतसे यज्ञका पात्र नहीं जाना जाता सचते स षोडशी और 'षोडशीं गृह्णाति' ऐसा वैदिकग्रन्थोंमें अनेक जगह आयाहै पर अर्थ भिन्न २ हैं, इससे सिद्ध है कि व्याकरणका कार्य शब्द साधु है या असाधु यही मुख्य है न कि समस्त इतिहासका समावेश, उसमें हो इससे जो गोल्डस्टुककी समान न्याय सांख्य वेदान्त मीमांसा उपनिषद् आरण्यक महाभारत आदि आर्षग्रन्थोंको पाणिनिका परिभाषी कहतेहैं यह युक्ति संगत नहीं हैं उल्लिखित समस्त शब्द ही पारिभाषिक हैं पारिभाषिक शब्दों द्वारा व्याकरणका समय निर्णय नहीं होता न व्याकरणका उसपर लक्ष है, एक यह भी शंका कीजातीहै कि पाणिनिके समय अथर्व वेद नहीं था होता तो उसका उल्लेख करते यह शंका भी व्यर्थ है कारण कि, "आथर्वणिकस्येकलोपश्च ४।३।१३३" तथा "दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिक०।६।४।१७४" "कपिबोधादाङ्गिरसे ४।१।१०७" इत्यादि सूत्रोंमें अथर्ववेदका वर्णन है यदि ऐसा न भी होता तो भी वैदिक प्रक्रियासे जब सब वैदिक शब्द सिद्ध होसकतेहैं तब पृथक् २ नामग्रहणकी आवश्यकता क्या है ऋग्वेदमें भी ६।१६।१४ आदि कई स्थलोंमें अथर्वण शब्द है, जो मुनि वैदिक प्रक्रियाको यथेष्ट जान्ता हो वह न्याय वैशेषिक आरण्यक आदि शब्दोंका साधुत्व न जाने यह कब संभव हो सक्ताहै हमने जहांतक संस्कृत साहित्यके विषयमें पाश्चात्य विद्वानोंका निर्णय देखाहै उन्होंने बहुधा अपनी अटकलसे काम लियाहै किसी संस्कृतके मार्मिक विद्वानसे सहायता नहीं ली है, दूसरे उनके हृदयमें समयकी इतनी संकीर्णता है कि, प्रमाण मिलनेपर भी खीष्ट संवत्से बारह चौदह सौ वर्ष पूर्वसे आगे बढना नहीं चाहते विशेष क्या लिखें प्रमाण रहते हुए भी शंकराचार्यके समयनिरूपणमें कितने मत हैं, यह निश्चय है कि, शङ्कराचार्यकी गद्दीपर जो बैठताहै वह भी शङ्कराचार्यनामवाला होताहै उनमें किसी आचार्यका जन्म संवत् किसीके हाथ लगा कि उसको आदि शङ्कराचार्यका जन्म समय निश्चित करलिया यही दशा पाणिनिके समय निरूपणमें आचार्य गोल्डस्टुकने की है उनकी युक्तियें बहुधा भ्रमपूर्ण हैं उन सबको लिखकर लेख बढाना नहीं चाहते परन्तु उनके रचित पाणिनि निबन्धसे बहुतसी गूढबातोंका पता लगताहै.

प्रथम मनुष्यजाति किस भाषामें अपना हृदयगत व्यवहार प्रगट करतीथी इसका पता लगाना कठिन बात है परन्तु संस्कृतशब्दके अर्थपर विचार करनेसे स्पष्ट विदित होताहै कि यह संस्कार की हुई भाषा है ऐसा विदित होताहै कि प्रथम वैदिकशब्दोंका प्रचार होकर वे शब्द जनसाधारणमें आकर अपभ्रंश होगये, फिर उनका संस्कार होकर वह देववाणी संस्कृत कहाई अथवा सबकी भाषा यही देववाणी रहीहो पीछे प्रकृति प्रत्ययके विभाग और शब्दोंके साधु असाधु विचार होनेपर इसका नाम संस्कृत हुआ. और यही युक्ति संगत भी है कारण कि प्रारंभिक ऋषि सर्ग सर्वगुणसम्पन्न थे पश्चात् जब पठन पाठनका क्रम चला तब शिक्षाके सुगम उपायके निमित्त व्याकरणसम्बन्धी नियमोंकी रचना हुई, और फिर परंपरासे भागुरि, गालव, व्याघ्रपाद; नौकायनादि ऋषियोंने इसका सूत्रपात किया, फिर कालक्रमसे शाकटायन, यास्क, व्याडिप्रभृति उसीके अंग पूर्ण करतेरहे पीछे यह निश्चय हुआ कि, सूत्र ही सब प्रकारसे इस विषयके निर्धारणका सरल उपाय हैं, तब सूत्रोंकी रचना हुई, और उन सूत्रकारोंमें पाणिनिमुनि सर्वश्रेष्ठ हैं सूत्र दो प्रकारकेहैं सूचक और सर्वतोमुख इनमें सूचक सूत्र पहलेके प्रचलितथे पीछें सर्वतोमुखसूत्र सबसे प्रथम इन्द्रद्वारा विरचित हुए पीछे चन्द्र काश कृत्स्न अंग कृष्ण आपिशलि इत्यादि महापुरुषोंके सूत्र विरचित होतेगये, पश्चात् पाणिनिकी अष्टाध्यायी सूत्र, अमरसिंहका वर्गसूत्र और पश्चात् जिनेन्द्र बुद्धिपाद आचार्यका संग्रहसूत्र बना।

इतना कुछ होजानेपर भी अनेकशब्दोंकी रूपनिष्पत्ति सूत्रोंद्वारा निर्वाह नहीं होसकी, यास्काचार्यके समयमें भी 'उपसर्गा निपाताः' ऐसा लिखागया था निपातशब्दका लक्षण यह है कि, "यदलक्षणेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात् सिद्धम्" लक्षणद्वारा जिन पदोंकी रूपनिष्पत्ति नहीं होती वह सब निपातनसे सिद्ध होतेहैं यास्काचार्यने लिखाहै "निपतन्ति उच्चावचेष्वर्थेषु इति निपाताः" अर्थात् जो शब्द विचित्र अर्थमें निपतित होकर सिद्ध होतेहैं वे निपात कहातेहैं पाणिनि भी इस नियमको त्याग नहीं सकेहैं अर्थात् सर्वतोमुख सूत्रोंके द्वारा भी सब शब्द सिद्ध नहीं होसकेहैं वह लिखतेहैं "प्राग्रीश्वरान्निपाताः" अर्थात् ईश्वरशब्द के पूर्वपर्यन्त निपातका अधिकार है ऐसा ही और एक

संकेत है जिसको पृषोदरादि कहतेहैं यह भी एक प्रकार निपातकी जाति है इसके बलसे जो नूतन वर्णका आगम स्थितवर्णकी विपर्यय घटना आदि होतीहैं वह सूत्रोंद्वारा नहीं होतीं, सिंहशब्द पृषोदरादिसे सिद्ध है इसमें हिंस् धातुसे 'क' प्रत्यय कर सकारका स्थानपरिवर्तन पृषोदरादिसे हुआहै; और पाणिनिको भी यह नियम मानना पडाहै, समस्त वैयाकरण आचार्योंने वेदवाणीकी रक्षा और उससे ही परिवर्तित लौकिक संस्कृत भाषाकी साधुताका ज्ञान व्याकरणका प्रयोजन माना है महर्षिपाणिनिने वेदके वाक्यविन्यास उनके रूपनिष्पत्तिके आकार दिखानेके निमित्त छान्दसप्रकरण प्रस्तुत कियाहै, और जो विषय सूत्रोंद्वारा आवद्ध नहीं होसके उनके लिये 'छन्दसि' और 'आर्षे' इस प्रकार निर्देश कियाहै, पाणिनिने सबसे विशेष वैदिक पदार्थोंका निरूपण कियाहै, लौकिक व्याकरणमें नौ और वैदिक व्याकरणमें दश लकार हैं और उस अतिरिक्त लकारका नाम लेट् है इसके रूप लट् लकारके समान होतेहैं परन्तु अर्थ भिन्न होताहै लिङर्थमें लेट् होताहै यथा 'विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' यहां विविदिषन्ति यह लेट् लकारका रूप है । प्रणआयूंषितारिषत् । वेदोंके निमित्त जो व्याकरण बनेहैं वह प्रातिशाख्य कहातेहैं इनमें ऋग्वेद प्रातिशाख्य अतिप्राचीन है[1] (आनंदपुर (काशी)वासी वज्रात्के पुत्र उव्वटभट्ट इसके टीकाकार हैं, इस टीकेका नाम पार्षद व्याख्या है भोजदेवके समय उव्वट विद्यमान थे) तैत्तरीयप्रातिशाख्य[2] वाजसनेयी वा कात्यायन[3] प्रातिशाख्य यजुर्वेदीयप्रातिशाख्यहै, इसी प्रकार अथर्ववेदका भी प्रातिशाख्य है, नागोजीभट्टने सामवेदके प्रातिशाख्यका नाम उल्लेख कियाहै यथा-(सामलक्षणं प्रातिशाख्यम्[4]) इन व्याकरणोंमें लौकिक शब्दोंकी उत्पत्तिका विवरण नहीं हैं वैदिक शब्दोंकी संज्ञा संधि कारक आदि समस्त विषय हैं तैत्तरीय प्रातिशाख्यका प्रथम सूत्र 'अथवर्णसमाम्नायः' है इसके द्वारा वर्णोंका उच्चारण अध्ययन और प्रयत्नादि भेदकी प्रतिज्ञा कीहै तिसके पीछे साधनप्रकार निर्दिष्ट हुआहै यथा--अथनवादितः समालक्षणानि, १ द्वे द्वे सवर्ण ह्रस्वदीर्घे २ न प्लुतपूर्वम् ३, षोडशादितः स्वराः ४, शेषो व्यञ्जनानि-इत्यादि

पाणिनिने भी अपने सूत्रोंमें कहीं २ पूर्वाचार्योंके नाम लियेहैं यथा--खार्य्योः प्राचाम्, लङः शाकटायनस्य, इत्यादि इससे विदित है कि व्याकरणप्रणाली परंपरासिद्ध है ।

व्याडिकृत लक्षश्लोकात्मक संग्रहनामकग्रन्थ पाणिनिके परवर्ती है इसमें कहीं २ पाणिनिके विरुद्ध मत देखाजाताहै पाणिनिके पीछेके आचार्योंको पाणिनिव्याकरणके नियमाधीन होनापडाहै, किन्तु व्याडिके व्याकरणमें उनके विरुद्ध मत दीखताहै और भिन्नरूपसे बनाहै पाणिनि इसको जान्ते तो अवश्य इसके विषयमें कुछ लिखते, अथवा वे इसको न देखपायेहों और इसकी रचना व्याडि द्वारा होरहीहो, कारण कि समयमें दोनोंके एकताहै और इ उ ऋ ऌ वर्णके आगे स्वरवर्णोंके वीचमें य, व, र, ल, का व्यवधान होना केवल गालव और व्याडि इन दो ही आचार्योंका मत है यथा--त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श (कालिदासः) यहां 'त्रि+अम्बकम्' था इस विषयमें पद्मनाभकृत पंचाध्यायीव्याकरणमें (यणा व्यवधानं व्याडिगालवयोः) ऐसा एक सूत्र है, इसके सिवाय एक भागुरिका कहा व्याकरण था इनके मतमें अव और अपि इन दोनों उपसर्गोंके आकारका लोप होजाताहै यथा--अवगाहः--वगाहः, अपि-धानम्-पिधानम् परन्तु पाणिनिके मतमें नहीं होताहै ।

बृहत्कथामें लिखाहै कि पाणिनिको महेश्वरकी तपस्याकरनेसे अ इ उण्, ऋ ऌ क्, आदि चौदह सूत्रोंकी प्राप्ति हुईथी उसीपर समस्तव्याकरणकी रचना उन्होंने की है लिखा भी है ।

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥

पाणिनिव्याकरण आठ अध्यायोंमें विभक्त है इसीसे इसको अष्टाध्यायी कहतेहैं प्रत्येक अध्यायमें चार २ पाद हैं इसके सूत्रोंकी संख्या ३९७८ किसी ने ३९८३ कही है, परन्तु इस गणनामें जो ३९७८ आये हैं उसका कारण यह है कि कदाचित् पांच सूत्र वार्तिकमें प्रविष्ट होगयेहैं, इस प्रकारसे पाणिनि व्याकरणने यथार्थमें सर्वतोमुख होनेके कारण बडा आदर पायाहै इसके ऊपर वृत्ति वार्तिक टीका और भाष्यादि रचेगयेहैं, इन सूत्रोंपर कात्यायन ने वार्तिक लिखेहैं इनके पिताका नाम सोमदत्त और माता वसुदत्ता है इन्होंने भी उपवर्ष पंडितसे विद्या प्राप्तकरके बृहत्कथा आदि निर्माण करके

---

[1] यह प्रातिशाख्य पाणिनिसे भी पूर्वका है मैक्समूलर भी ऐसा ही मानते हैं ।

[2] तैत्तरीय प्रातिशाख्यके अनेक भाष्य थे उनमें अब त्रिभाष्यरत्ननामक भाष्य प्रचलित है इससे पहले इसपर वररुचिका आत्रेय और महिषी भाष्यथा ।

[3] इसके टीकाकार उव्वटभट्ट हैं इसके सिवाय रामचन्द्रकी बनाई ज्योत्स्नानामक एक आधुनिक टीका है ।

[4] कहाजाताहै श्रीयुत करनेलसाहबको मदरासप्रदेशमें सामवेदका प्र प्रातिशाख्य मिला है ।

नन्दराजका मंत्रीत्व प्राप्त किया था॥ बौद्धकात्यायन और धर्मशास्त्र तथा कल्पसूत्रकर्ता कात्यायन इनसे भिन्न हैं कात्यायनकी समान वामनने पाणिनि सूत्रोंपर एकवृत्ति लिखीहै उसका नाम काशिका है यह भी अतिमान्य ग्रन्थ है आद्योपान्त प्राञ्जल और प्रसाद गुणविशिष्ट है इसपर भी दोटीके हैं हरदत्तमिश्रकृत पदमंजरी और जिनेन्द्रकृतकाशिका वृत्तिपञ्जिका--

विक्रमादित्यके ज्येष्ठ सहोदर भर्तृहरिप्रणीत वाक्यपदीय ग्रन्थमें इस प्रकार लिखाहै कि कालक्रमसे मनुष्योंमें आलस्यादिका समावेश होनेसे तथा व्याडिप्रणीत बहुविस्तृत संग्रहग्रन्थमें हतादर होनेसे पाणिनि व्याकरण भी एक प्रकारसे लुप्तप्राय होरहाथा ऐसे ही समयमें महर्षि पतञ्जलिने संग्रहग्रन्थसे सारांश संकलनपूर्वक वार्तिक और व्याख्याके उद्देश्यसे समस्तन्यायप्रदर्शन करातेहुए महाभाष्य ग्रन्थकी रचना की पतञ्जलिका दूसरा नाम गोनर्दीय है यह गोनर्दवासी हैं और इनकी माताका नाम गौणी है पतञ्जलिके भाष्य निर्माणमें अनेक आख्यायिका हैं जिनमेंसे हम एक दो यहां लिखतेहैं कि जब भगवान्ने शेषजीको महाभाष्य रचनेकी आज्ञा दी तब वह इधर उधर तपस्वियोंके आश्रमोंमें निज अवतार योग्य जननीकी खोजमें विचरने लगे विचरते हुए गोनर्ददेशान्तर्गत एक आश्रम देखा वहां पण्डितपुत्र प्राप्तिके निमित्त चिरकालसे तपस्या करती सौशील्यादि गुणोंसे युक्त गौणिकाको अपनी माता होनेयोग्य विचारकर समयकी प्रतीक्षाकर स्थित हुए, एकदिन ज्यों ही सूर्यको अञ्जलि देनेमें प्रवृत्त हुई कि, सहस्रांशुकी अनुमतिसे अनन्तदेव उस अर्घ्यके जलमध्यमें प्रवेश करगये ज्यों ही उसने अर्घ्य दिया कि, तपस्वीकी आकृतिवाले अहिराज भूमिमें पतित हुए उस प्रकाशित आकृतिको देखकर भयसे 'कोभवान्' आप कौन हो ऐसा पूछा इन्होंने भी चातुर्य दिखाते हुए 'सर्पोहम्' अर्थात् में सर्प हूं ऐसा कहा. तव गौणिने विचारकर कहा कि, 'रेफः क गतः' अर्थात् रेफ कहां गया तब उस व्यक्तिने कहा 'त्वयापहृतः' तैंने हरण करलिया, तव तो गौणी परमप्रसन्न हुई और उनको अपनापुत्र मानकर तपस्याके क्लेशोंको त्यागकर आश्रममें लेकर प्रविष्ट हुई अंजलिमेंसे पतित होनेके कारण इनका नाम पतञ्जलि हुआ, तब फिर इन्होंने तपस्याद्वारा शंकरकी आराधना की और भगवान् शंकरने इनको भाष्यनिर्माणकी पटुता प्रदान की, और उसी शक्तिसे भाष्य बना कहा भी है कि,

यद्विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत्स्फुटम्।
वाक्यकारो ब्रवीत्येव तेनादृष्टं च भाष्यकृत्॥

जिस समय पतञ्जलिने भाष्यनिर्माण किया उस समय सहस्रसे अधिक शिष्य पढनेको बैठे, पतञ्जलिने कहा हम वीचमें परदा डालकर पढावेंगे उस समय हमको कोई देखनेका उद्योग न करै अन्यथा अच्छा न होगा, इस प्रकार ३२ दिनतक पढाई होतीरही, ३३ वें दिन 'कृदतिङ्' यह सूत्र जब आया तब शिष्योंने विचार किया कि यह एकमात्र इतने शिष्योंको कैसे पढारहेहैं, देखें तो ऐसा विचारकर जो परदा हटाकर देखा तो शेषके मुखकी ज्वाला न सहसकनेके कारण वे सब भस्म होगये और पतञ्जलि तपस्वीके रूपमें स्थित हुए, उनमेंका एक शिष्य जो बाहर गयाथा वह लघुशंकासे निवृत्त हो यह व्यापार देख बडा विस्मित हुआ और महर्षिकी बडी प्रार्थना की तब महर्षिने कहा तुम पाठ छोडकर विना पाठ शान्ति किये बाहर चलेगये, इससे तुम ब्रह्मराक्षस होगे पीछे प्रार्थना सुनकर कहा तुम यात्रियोंसे पचधातुका निष्ठामें क्या रूप होताहै ऐसा पूछना, जब कोई 'पक्वम्' ऐसा उत्तर दे तब तुम उसको भाष्य पढाकर शापसे मुक्त होगे यह कहकर ऋषि अन्तर्हित हुए, कालक्रमसे चन्द्रगुप्त ब्राह्मणने ब्रह्मराक्षसको 'पक्वम्' उत्तरदिया, तब ब्रह्मराक्षस उसको महाभाष्य पढाकर शापसे मुक्त हो स्वर्गको गया, चन्द्रगुप्तने महाभाष्यको नखोंसे वटपत्रोंमें लिखा, और कहीं मार्गमें गठरी शिरहाने धर सोगया वहां एक बकडा आकर उनको खानेलगा ज्यों ही चन्द्रगुप्त जागा कि ग्रन्थको इस प्रकारसे नष्ट होता देख बडा दुखी हुआ पश्चात् उसको लेकर चलते हुए मार्गमें एक कुमारीने उनका आतिथ्य सत्कार किया, और अपना वृत्तान्त सुनाकर कहा कि एक तपस्वी कहगयेहैं कि पतञ्जलिकी समान महाभाष्यज्ञाता एक द्विज यहां आवैगा वही तेरा पाणिग्रहण करैगा तबसे मैं यहां निवास करतीहूं, तब द्विजने समाधिदृष्टिसे यह सब जानकर उस चतुर्वर्णाकुमारीसे कहा कि, यदि ऐसा होगा तो मुझको ऊपरके तीन वर्णोंकी कन्याओंसे भी विवाह करना होगा, उस कन्याके स्वीकार करनेपर चन्द्रगुप्त उज्जयिनीमें जाकर और तीन वर्णोंकी कन्याओंके साथ परिणय करके गृहस्थधर्म पालनकरने लगे, और वटपत्रपर लिखे महाभाष्यको पर्यालोचनपूर्वक और गुरुके पढायेको स्मरण करके उस अजभक्षित शेषग्रन्थको ठीककिया जहांकहीं स्मरण न हुआ वहां (०) ऐसा चिह्न करदिया, यह बात नैषधकाव्यमें श्रीहर्षकविने भी स्वीकार कीहै यथा—फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता (सर्ग२ श्लो० ९५) इस प्रकार महाभाष्यके लिखे जानेपर पीछे वारवर्णोंकी

चारों स्त्रियोंमें चार पुत्र हुए उन चारोंके नाम वररुचि, विक्रमार्क, भट्टि और भर्तृहरि हुए * और इनको विद्वान् बनानेके उपरान्त चन्द्रगुप्त तपस्या करनेको वनमें चले गये और इन चारोंने भी अनेक ग्रन्थोंकी रचनाकी कालक्रमसे शक्तिहीनता होनेसे पाणिनिके व्याकरण और पतञ्जलिके महाभाष्यका पठन पाठन लोपको प्राप्त होने-लगा, दाक्षिणात्यदेशके चित्रकूटस्थानमें किसी नारायण-नामक पण्डितके यहां महाभाष्यका ग्रन्थ शेष था, विप्र वेशधारी किसी ब्रह्मराक्षसने वहांसे वह ग्रन्थ अपहरण करके वसुरात और चन्द्र आचार्यादि विद्वानोंको दिया उनसे विक्रमादित्यके भ्राता भर्तृहरिने अध्ययन किया, पश्चात् भर्तृहरिने महाभाष्यकी व्याख्या करके और उसके तात्पर्य ज्ञापक ब्रह्मवाक्य और पदभेदसे जो त्रिकाण्ड-ग्रन्थकी रचना की उसीका नाम वाक्यपदी है, यह ग्रन्थ भाष्यकी टीकामें लक्षश्लोकात्मक है, परन्तु इस ग्रन्थके निर्माण होनेपर इन्होंने लिखाथा कि (अहोभाष्यमहो-भाष्यमहोवयमहोवयम् । साम‌दृष्ट्वागतः स्वर्गमकृतार्थः पत-ञ्जलिः) इस आक्षेपके वचनसे इस ग्रन्थकी अप्रतिष्ठाकरदी।

विदित होताहै कि भाष्यकार चन्द्रगुप्तके राज-त्वकालके पीछे और भर्तृहरिसे पूर्व हुएहैं कारण कि "सभाराजाऽमनुष्यपूर्वा २।४।२३" इस सूत्रके उदाहरणमें 'चन्द्रगुप्तसभा' ऐसा स्पष्ट कहा है यह फणिपतिनामसे भी प्रसिद्ध हैं

यह पतञ्जलि योगशास्त्रकर्ता पतञ्जलिसे भिन्न हैं कारण कि, "एतेन योगः प्रत्युक्तः २।१।१३" इस शारीरकसूत्रमें व्यासजीने जो योगशास्त्रके अंशमें दोष दियाहै वह व्याससे पूर्व होनेका प्रमाण देता है तथा पतञ्जलिके योगसूत्रपर व्यासभाष्य भी मिलता है, और भाष्यमें चन्द्रगुप्तका उदाहरण मिलनेसे भाष्यकर्ता उनसे परवर्ती होने चाहियें हां यह हो सकता है कि फणिपतिने पूर्वकालमें योगदर्शन रचा हो और फिर पतञ्जलिनामसे अवतीर्ण होकर भाष्यकर्ता हुए हों और इस प्रकारसे योगदर्शनके निर्माता कहेजाते हों अथवा अन्य ही कोई पातञ्जलदर्शन बनाया हो माधवाचार्यने सर्वदर्शन संग्रहमें पातञ्जलदर्शनके प्रस्तावमें कहा है कि सब शास्त्र पुरा-णकी आदिमें संसारमें प्रायः योगशास्त्रका प्रचार न था कृपापरतंत्र महर्षि पतञ्जलिने फणिपतिसार संग्रहपूर्वक पातञ्जलयोगसूत्रोंकी रचना की, अस्तु जो कुछ भी हो योगसूत्रकर्ता पतञ्जलि और महाभाष्यकर्ता पतञ्जलि भिन्न २ हैं और व्यासदेवके समय पाणिनि-व्याकरण भी नहीं था, यहां एक आख्यायिका है कि एक समय काशीधाममें जब महाकवि कालिदास गये तब व्यासदेवकी श्रीमूर्ति देखकर उनके बृहत् उदरपर हाथ फेरतेहुए श्लेषरूपसे कहाथा कि इन महर्षिके उदरमें कितने आर्षप्रयोग थे कुछ कहा नहीं जाता अर्थात् महा-भारतादि व्यासरचितग्रन्थोंमें ऐसे कितने ही प्रयोग हैं जो पाणिनिव्याकरणसे सिद्ध नहीं होसकते उस समय मंदिर मेंसे ततक्षण यह वाणी हुई कि—

यान्युज्जहार माहेशाद्व्यासो व्याकरणार्णवात् ।
तानि किं पदरत्नानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ॥

अर्थात् व्यासदेवने माहेशनामक व्याकरणसमुद्रसे जितने पदरत्न उद्धार किये हैं वह क्या पाणिनिके गोष्प-दतुल्य व्याकरणमें होसकते हैं ।

अस्तु पाणिनि कात्यायन और पतञ्जलि इन तीन मह-र्षियोंने व्याकरणको पूर्ण अवयवप्रदान किया है यह संस्कृ-तभाषाके कैसे अद्वितीय विद्वान् थे यह निर्णय हमारी समा-न सामान्यबुद्धिवालोंकी सामर्थ्यसे बाहर है, महाभाष्यके टीकेका नाम भाष्यप्रदीप है कैयट * इसके प्रणेता हैं कैयटके टीकेपर नागोजिभट्टने टीका लिखाहै उसका नाम 'भाष्यप्रदीपोद्योत है' कैयटके टीकेपर एक टीका और भी है उसका नाम भाष्यप्रदीप विवरण है और यह पण्डित ईश्वरानन्दका निर्मित है—

फिट्सूत्र यह शान्तनवाचार्यके संकलित वा निर्मित हैं कोई शान्तनु आचार्यकर्तृक कहतेहैं (द्वारादीनाञ्च ७।३।४) इस सूत्रकी व्याख्यापर हरदत्त कहतेहैं 'शान्तनुराचार्यः प्रणेता' अर्थात् इनके निर्माता शान्तनु आचार्य हैं यह चार पादोंमें ८७ सूत्र हैं उदात्त अनुदात्त और स्वरितके निर्णयके हेतु इनकी रचना हुई है यह पाणिनिसे परवर्ती विदित होतेहैं पूर्ववर्ती होते तो पाणिनि इनका उल्लेख करते,

उणादिवृत्ति—पाणिनिके पूर्व भी इस विषयके ग्रन्थ थे किस प्रकारके थे सो तो नहीं कहसकते, परन्तु पाणिनि-कृत कृत्सूत्र और उणादिसूत्र इस वृत्तिका अवलम्बन हैं

* यह चारों नाम विख्यात चार पुरुषोंसे भिन्न हैं कारण कि यही विक्रमादित्य हो तो उसको राज्यकी प्राप्तिका कोई उल्लेख नहीं है, और विक्रमादित्यके पिताका नाम गन्धर्वसेन था उनके दो रानी थीं उन दोनोंसे भर्तृहरि और विक्रमादित्य हुए दूसरी पत्नीके पिता धारानगरके राजा थे इनके कोई सन्तान न थी इससे विक्रमादित्य और भर्तृहरिको पुत्रकी समान पढाया, और भर्तृहरिको धारानगरीका राज्य दिया विक्रमादित्य अमात्यपदपर आरूढ हुए पीछे कुछ दिनोंमें विक्रमादित्यने लौटकर उज्जयिनीका राज्यभार अपने हाथमें लिया

* यह काश्मीरदेशस्थ पामपुरनिवासी सुपंडितबैनैलसाहबके मतानुसार १३०० ई० में थे ।

इनमें ३२९ प्रत्यय और ७४८ सूत्र हैं पाणिनिसे पूर्ववर्ती है कारण कि 'उणादयो बहुलम्' सूत्रसे पाणिनि स्वयं इनका उल्लेख करते हैं, इनपर उज्ज्वलदत्तकी वृत्ति प्रचलित और मान्य है कातंत्रव्याकरणकी दौर्गसिंहवृत्ति भी मान्य है सब व्याकरणोंमें उणादि संक्षिप्तरूपसे हैं, केवल कलाप व्याकरणका उणादि बडा और शृंखलाबद्ध है इसके सिवाय उणादिकोषनामक एक अभिधानग्रन्थ है वह भी अच्छा है.

वृत्तिकार उज्ज्वलदत्तने लिखाहै मैं गणपति ईश्वर और गुरुदेवको प्रणाम करके उज्ज्वलवृत्तिको बनाताहूँ, वृत्तिन्यास, अनुन्यास रक्षित, भागवृत्ति, भाष्य, धातुप्रदीप, उसकी टीका हैं और उपाध्यायके सर्वस्वस्वरूप सुभूति, कलिङ्ग हड्डचन्द्र इत्यादिने प्राचीनग्रन्थोंके अवलम्बन और आलोचन करके इनको बनायाहै, उणादिवृत्ति अनेक हैं वह सब सूत्र शब्दरूप धातुगतवैलक्षण्यको प्राप्त होगयेहैं इससे उनपर निर्भर न रहकर उन सबको विचारकर और अन्यग्रन्थोंका सार लेकर मैं इस वृत्तिको बनाता हूँ।

उज्ज्वलदत्तका दूसरा नाम जाजलि है यह सुभूतिके शिष्य हैं उज्ज्वलदत्त किस समय हुए इसका निश्चय तो कठिन है, पर यह अमरसिंहके परवर्ती हैं कारण कि उनकी वृत्तिमें अमरकोषके अनेक उदाहरण उद्धृत हुए हैं, इन वृत्तिकारने मुखबन्ध श्लोकोंमें ऐसा खेद प्रकाश किया है कि जो मनुष्य मेरी इस वृत्तिको देखकर अपने पुरुषत्वकी कामनासे मेरे नामको लोप करनेमें प्रवृत्त होगा उसका समस्त पुण्य नष्ट होजायगा (श्लोक ७)

इसके सिवाय पाणिनिव्याकरणके अवलम्बनसे अनेक ग्रन्थ बनेहैं उनमेंसे कुछ एकके नाम लिखते हैं, पुरुषोत्तमदेवकृत भाषावृत्ति इसके टीकाकार सृष्टिधर हैंटी काका नाम भाषावृत्त्यर्थविवृति है.

भट्टोजिदीक्षितकृत शब्दकौस्तुभ, ग्रन्थकार इसको पूर्ण नहीं करसके थे बालमभट्ट इसके टीकाकार हैं टीकाका नाम प्रभा है,

रामचन्द्रआचार्यकृतप्रक्रियाकौमुदी है इसमें पाणिनिके सब सूत्रोंका व्यवहार हुआ है परन्तु पाणिनिव्याकरणकी रीति छोडकर अन्यरीतिसे यह ग्रन्थ बना है, इसपर विट्ठलआचार्यकृत प्रसाद और जयन्तचन्द्रकृत तत्त्वचन्द्रनामक टीका हैं.

भट्टोजिदीक्षितकृत सिद्धान्तकौमुदी इसकी मनोरमा[1] तत्त्वबोधिनी शब्देन्दुशेखर लघुशब्देन्दुशेखर प्रभृति टीका हैं।

लघुकौमुदी और मध्यकौमुदी वरदराजकृत.

परिभाषासंग्रह, परिभाषावृत्ति, और परिभाषेन्दुशेखर[2] नागेशभट्टकृत, वैद्यनाथपागुण्ड इसके टीकाकार हैं ।

भर्तृहरिकारिका वा वाक्यप्रदीप[3] यह आदिसे अन्ततक श्लोकोंमें रचित है कातंत्र वा कलापव्याकरण बहुत बडा है वह भी पाणिनिकी रीतिके अनुसार न होकर अन्य ही रीतिसे बनाहै परन्तु प्रत्ययसंज्ञा पाणिनिके ही अनुसार है, इसमें पाणिनि, पतञ्जलि, व्याडि, भागुरि प्रभृति व्याकरणोंका सारांश संकलित हुआ है, पाणिनिके दो दो तीन २ सूत्र एकत्र कर इसका एक २ सूत्र बनाहै यथा हि—

१ कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् उणादि १।१

२ छन्दसीणः—उणा०

३ हृसनिजनिचरिचटिभ्यो ञुण्—उणा०

इन सूत्रोंको एकत्र करके कातंत्रका एकसूत्र बना-यथा— "कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूहृसनिजनिचरिचटिभ्य उण्" कातंत्रके अनेक स्थलोंपर पाणिनिके सूत्र अविकल हैं किसी २ स्थलपर कुछ प्रक्षेप और निक्षेप भी है इसमें एक परिभाषा और एक परिशिष्ट अंश होनेसे यह बडा सुगम होगया है.

प्रयोगरत्नमाला—इसमें पाणिनिके सूत्र और कलापसूत्र एकत्र हैं सब सूत्र पद्योंमें ग्रथित हैं इन सब सूत्रोंको पद्योंमें रचना करके ग्रन्थकार पुरुषोत्तमने बडा परिश्रम किया है, उन्होंने भूमिकामें लिखा है,

श्रीमल्लदेवस्य गुणैकसिन्धोर्महीमहेन्द्रस्य यथानिदेशम्।
यत्नात्प्रयोगोत्तमरत्नमाला वितन्यते श्रीपुरुषोत्तमेन ॥

इस पद्यसे प्रगट होताहै कि यह ग्रन्थ श्रीमल्लदेवके राजत्वकालमें निर्मित हुआहै श्रीमल्लदेव कूचविहारके राजा थे, महर्षि पाणिनिने अष्टाध्यायीके सिवाय धातुपाठ, लिङ्गानुशासन और शिक्षा आदि भी ग्रन्थ बनाये हैं जो बहुधा बम्बईकी छपी प्रत्येक सिद्धान्तकौमुदियोंमें सन्निविष्ट हैं । सम्पूर्णः

ज्वालाप्रसादमिश्र.

१ हरिदीक्षित मनोरमाके टीकाकार हैं इसके ऊपर भी भावप्रकाशिका नाम एक टीका है ।

२ इसके ऊपर एक चिदस्थिमालानामक टीका है ।

३ कोलब्रुकसाहबने वाक्यपदीयके भ्रमसे वाक्यप्रदीपको भर्तृहरि प्रणीत लिखा है, वाक्यप्रदीप हरिवृषभकृत है उसके टीकाकार पुण्यराज हैं ।

॥ श्रीः ॥

भट्टोजिदीक्षित।

भट्टोजिदीक्षितने संस्कृतके साहित्यमें बडे ऊंचे स्थानको अपने अधिकारमें करलिया है। उन्होंने महर्षि पाणिनिके जगद्विख्यात "अष्टाध्यायी" व्याकरणके सूत्रोंका अवलम्बनकर अतिप्रसिद्ध "सिद्धान्तकौमुदी" बनाई, और इसकी सहायतासे इन महात्माने पाणिनिके माहात्म्यका सारे संसारमें प्रचार किया। आज हम जगद्विख्यात पंडितका जीवनचरित्र व इनके समयका निर्णय करतेहैं।

कन्नौज (कान्यकुब्ज) बहुतकालसे भारतवर्षके इतिहासमें प्रसिद्ध है। भूगोलके जाननेवाले ग्रीकनिवासी टलेमिने (अनुमान १४०-१६० ई० में) प्राचीन कन्नौजनगरीका नाम लिखाहै। तबसे लेकर सन् ईसवी बारहसौके पिछले हिस्सेतक कन्नौजका नाम भारतवर्षके इतिहासमें वारंवार लिखाहुआ दिखलाई देताहै। ईसवी सन् चौथी शताब्दीके मध्यभागमें कन्नौज गुप्त सम्राटोंके अधिकारका एक उत्तम और प्रधान नगर गिनाजाताथा फिर चौथी शताब्दीसे लेकर छठी शताब्दीके मध्यमजन्मतक कन्नौज गुप्त महाराजाओंके अधिकारमें रहा। ईसवी पांचवीं शताब्दीके आरम्भमें (३९९-४१४ ई०) चीनके विख्यात भ्रमण करनेवाले फाहियानने कन्नौजको देखकर अपने भ्रमणवृत्तान्तकी पुस्तकमें उसकी सम्पत्तिका वर्णन कियाहै तिस कालमें कन्नौज गुप्त महाराजाओंके अधिकारमें था। गुप्तमहाराज नरसिंहगुप्तका सेनापति और सामन्तराज यशोधर्म्म हुनराजके मिहिर कुलको पराजित करके स्वयं महाराज बन बैठा। ज्ञात होताहै कि, कदाचित् यह मालवेमें गुप्त महाराजाओंका शासक होकर उनपर राज करताथा अपने बाहुबलके द्वारा हुनराजके हाथसे गुप्तराज्यका उद्धारकर सेनापति यशोधर्मने पिछले गुप्तसम्राट दूसरे कुमारगुप्तके हाथसे राज्यका भार अपने हाथमें लेलिया। इसने महाराजाधिराज विष्णुवर्द्धनकी उपाधि धारण करके कन्नौजको अपने अधिकारमें करके राजधानी बनाया। इस यशोधर्मके नामकी जो दो शासनलिपि पुरातत्त्ववित् फ्लीटसाहबके खोजसे मन्दसरमें निकली हैं, उनमें एक ५३३-३४ ई० में खुदी है महाराज विष्णुवर्द्धनके समयसे भारतवर्षके बीच कन्नौज प्रधान नगर गिनाजानेलगा। अनुमान ५३० से ५८० सन् ई० पचासवर्षतक विष्णुवर्द्धन कन्नौजका राज करता रहा, गुप्त महाराजाओंकी अवनतिके पीछे इसी भांति वर्द्धनवंशका राजपाट कन्नौजमें प्रतिष्ठित हुआ। इस वर्द्धनवंशका आदिवासस्थान थानेश्वर था,

वर्द्धनवंशकी प्रतिष्ठा और सम्पत्ति इसके संग बढती रही, ईसवी छठी शताब्दीके मध्यभागसे कन्नौजकी प्रतिष्ठा सम्पत्ति बहुत बढगई। तबसे कन्नौजसंस्कृतकी चर्चाके विषयमें एक विख्यातस्थान होगया, वर्द्धनवंशका पिछला राजा हर्षवर्द्धन शिलादित्य ६०७-६४८ ई० तक समस्त भारतवर्षका चक्रवर्ती महाराज था, इसी हर्षवर्द्धनके समयमें अर्थात् सन् ६३४ ई० में हियां साङ्० ने कान्यकुब्जमें आकर भलीभांतिसे उसकी शोभाका वर्णन किया, ऐसा सुननेमें आया है कि, इन्हीं महाराज हर्षवर्द्धनने रत्नावली और नागानन्दनामक संस्कृतके नाटक बनाये। विख्यात बाणभट्टने इन्हीं महाराज हर्षवर्द्धनकी राजसभामें रहकर अपने स्वामीका जीवनचरित्र "हर्षचरित" लिखा महाकविचक्रचूडामणि बाणभट्टके पिताका नाम चित्रभानु था। यह अर्थपतिका पोता और कुबेरका परपोता था। हर्षवर्द्धनके आश्रयमें रहकर बाणभट्टने कादम्बरी पार्वतीपरिणयनाटक और चंडिकाशतक बनाया, मयूरभट्टने भी इसी हर्षवर्द्धनकी राजसभामें रहकर "सूर्यशतक" बनाया।

महाराज हर्षवर्द्धनके पीछे सौवर्षसे कुछ ऊपर ईसवी आठवीं शताब्दीके मध्यभागमें यशोवर्मानामक राजा कन्नौजमें राज करता था। काश्मीरके इतिहास या राजतरंगिणीके मतसे काश्मीरके महाराजा ललितादित्यने इस यशोवर्माको वारंवार पराजित करके अन्तमें राज्यगद्दीसे उतार दिया। महाकवि भवभूति और वाक्पतिनामक

१ हर्षचरितके आरम्भमें बाणभट्टने अपनेसे पहले हुये कविसुबन्धुकी वासवदत्ताके अनुकरणपर प्रसिद्ध कादम्बरी बनाई, बाणभट्टसे पहले सुबन्धु ईसवी छठी शताब्दीके शेषभागमें कन्नौजकी राजसभामें आया। पंडितवर E. E. Hall साहबने वासवदत्ताकी गौरव युक्त भूमिकामें सबसे पहिले यह बात दिखाई। "कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।" (हर्ष चरित १८ श्लोक)।

२ राजतरंगिणीकी चौथी तरंगमें ललितादित्यके राज्यका वर्णन कियागया है। तिसके संग २ में कन्नौजके स्वामी यशोवर्माके पराजित होनेका वृत्तान्त भी लिखा है।

कविवाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्द्यताम्॥
राजतरंगिणी ४। ११।

एक दूसरे कवि इस यशोवर्माकी सभामें विद्यमान थे। कहते हैं कि, ललितादित्यके समयमें (७१९–९१ ई०) विख्यात महाराज शङ्कराचार्यजी दिग्विजय करते २ काश्मीरमें आयकर कुछ कालतक सरस्वती पीठमें विराजमान रहे। (परन्तु यह शंकराचार्य शंकरस्वामीकी गद्दीके अधिकारीमेंसे होंगे भाष्यकार नहीं कारण कि भाष्यकारको २३०० वर्षसे अधिक होते हैं)

यशोवर्मासे राज छूटनेके परे ही कन्नौजमें एक नवीन राजवंश देवशक्तिसे आठवीं शताब्दीके पिछले भागमें प्रतिष्ठित हुआ इस देवशक्तिके नीचेके पंचम वंशधर महेन्द्रपालकी सभामें राजशेखरने बालभारत, बालरामायण, (प्रचण्ड पांडव) कर्पूरमंजरी और विद्धशालभंजिका यह चार नाटक बनाये, इस कविने बालरामायणमें महाकवि भवभूतिका नाम लिया है।

बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा
ततः प्रपेदे भुवि भर्तुमेकताम्॥
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
स वर्त्तते सम्प्रति राजशेखरः॥
(बालरामायण १।१६)

ईसवी नवमशताब्दीके शेषभागमें राजा महेन्द्रपालकी देवसभामें राजशेखर आया भवभूतिके राजशेखरसे पहले होनेका प्रमाण बालरामायणके उपरोक्त श्लोकसे प्रमाणित होताहै।

देवशक्तिके पिछले वंशधरको पराजित करके बनारससे गाहडवार राजपूतवंश कन्नौजमें प्रतिष्ठित हुआ अनुमान १०५० सन् ईसवीमें चन्द्रदेवने काश्यपगोत्री राजवंशको कन्नौजमें प्रतिष्ठित किया। चन्द्रदेवके पिताका नाम चन्द्र, और दादाका नाम यशोविग्रह था। चन्द्रदेवने कन्नौजके राजा साहसांकको पराजित करके कन्नौजमें अपना अधिकार फैलाया, इस चन्द्रदेवके पुत्र राजा मदनपालने १०९७ से लेकर ११९४ सन् ई० तक कन्नौजमें राज्य किया। राजा मदनपालने मदनविनोद-निघण्टु नामक एक वैद्यक ग्रन्थ बनाया[1]।

इस मदनपालहीकी सभामें विराजमान रहकर महेश्वरने "साहसाङ्कचरित" और "विश्वकोश" अभिधान रचा विल्सन्साहबके अनुमानसे महेश्वरने सन् ११११ ई० में विश्वकोश बनाया। महेश्वरने "वैद्यराजशेखर" और कविराजपरमेश्वर कहकर विश्वकोशके शेषभागमें अपना परिचय दिया। गुजरातके सुप्रसिद्ध जैन नरपति कुमारपालके सभासद जैनाचार्य हेमचन्द्रके "अभिधानचिन्तामणि" का नानार्थभाग विश्वकोशसे संगृहीत हुआ है।

महेश्वरकविराजके पिताका नाम ब्रह्मेश्वर और दादाका नाम केशव था, केशवका महेशनामक चचा वैद्यकशास्त्रमें अत्यन्त प्रसिद्ध होगया। महेशके पिताका नाम दामोदर और दादाका नाम श्रीकृष्ण था, श्रीकृष्ण गाधिपुरकी राजसभामें विद्यमान था, श्रीकृष्णका पिता हरिश्चन्द्र चरकसंहिताकी टीका बनाकर प्रसिद्ध हुआ, विश्वकोशके आरम्भमें कविराज महेश्वरने इस प्रकार अपना परिचय दिया है। शाके १६१९ पौषमासका लिखा हुआ एक विश्वकोश पाया गया है। अबतक जो कुछ लिखा गया तिससे यह निश्चित जाना जासकता है कि, प्राचीन समयसे कन्नौज संस्कृतकी चर्चाके लिये विख्यात है। भट्टोजिदीक्षित इसी कन्नौजकी राजसभामें स्थित थे। इसी कारण उनके होनेसे जो कन्नौजमें संस्कृतकी चर्चा होती थी उसका वर्णन यहांपर लिखागया। जिस समय महेश्वर कविराजने राजा मदनपालकी राजसभामें विराजमान रहकर "विश्वकोश" अभिधान बनाया उस कालमें हृदयधरभट्ट कन्नौजराजाका मंत्री था। महाराजा मदनपालकी मृत्युके परे उनका पुत्र गोविन्दचन्द्रदेव कन्नौजके सिंहासनपर बैठा। ११२०सन् ई० का खुदा हुआ ताम्रपत्र कि, जिसपर महाराज गोविंददेव चन्द्रका नाम

---

१ पंडित आनन्दरामके मतसे यह भवभूति महाकवि उन भवभूतिसे अलग हैं इसका अनुमान यह है कि महाकवि भवभूतिने ई० सन् ५ वीं शताब्दीमें प्रगट होकर महावीरचरित उत्तररामचरित और मालतीमाधव यह तीननाटक बनाये। यह समस्तनाटक उज्जयिनीनगरके विख्यात "कालप्रियनाथ" महादेवजीके मन्दिरमें खेलेगये। भवभूति ईसवी पांचवीं शताब्दीमें उज्जयिनीके स्वामी महाराजविक्रमादित्यकी सभामें कालिदास और अमरसिंहके समान विद्यमान था। और यह बात सत्य भी प्रतीत होती है।

Mr. A. R. Baruah's Essay on Bhavabhoti and his place in sanskrit Literature.

—जयति मदनपालः सर्वं विद्याविशालः
कृतसरसिजमित्रः कर्मधर्मे पवित्रः।
सुजनपिकरसालस्तुष्टगोपालबालः
रुचिरतरचरित्रश्चारुचातुर्यचित्रः
श्रीसारसा कन्दर्पतेरवद्या
विद्यातरङ्गपदमव्ययमेव बिभ्रत्॥

१ गाधिपुर, कुशस्थल, महोदय और कान्यकुब्ज यह कन्नौजके प्राचीन नाम हैं इन नामोंसे यह पायाजाता है कि, महेश्वरके पूर्वपुरुष भी इसी राजसभामें विद्यमान थे। महेश्वरने कविराज भोगीन्द्र, कात्यायन, साहसाङ्क, वाचस्पति, व्याडि, विश्वरूप, अमरसिंह, मंगल, शुभाङ्कवोपालित और भाण्डवाके बनाये कोषसे सहायता लेकर विश्वकोश बनाया। इसमें महेश्वरसे पहले होगये हुये कोशकारोंका नाम पायाजाता है, और यह भी जानाजाता है कि महेश्वरके समयमें इन कोशकारोंके बनाये हुये ग्रन्थ प्रचलित थे।

लिखाहै—पाया गयाहै इन्होंने अनुमान सन् १११९ ई० से लेकर सन् ११६० तक कन्नौजमें राज्य किया फिर गोविन्दचन्द्रदेवके पुत्र विजयचन्द्रदेवने ११६० से लेकर ११७६ तक कन्नौजका राज्यभार संभाला । इसी विजयचन्द्रका पुत्र जयचन्द्र कन्नौजका पिछला स्वाधीन राजा हुआ । ११७७–९३ ई० तक सत्रह वर्ष राज करके, महा बुद्धिमान् शहाबुद्दीन गौरीके हाथसे हारकर महाराज जयचन्द्र मारागया, और अपने रुधिरसे ही इन महाराजने स्वदेशद्रोहिता और पापका प्रायश्चित्त किया ।

हृदयधरभट्टका पुत्र लक्ष्मीधर महाराज गोविन्दचन्द्रदेवके यहां महासन्धि विग्रहादिकके पदपर नियत था । महाराजकी आज्ञासे इस सुपण्डित ब्राह्मण सचिवने द्वादशकाण्डमें "कृत्यकल्पतरु" नामक प्रसिद्ध और विस्तारित ग्रन्थ बनाया, लक्ष्मीधरका सुविस्तीर्ण "कृत्यकल्पतरु" नामक ग्रन्थ देवगिरिनिवासी हेमाद्रिके बनाये "चतुर्वर्गचिन्तामणि" नामक सुप्रसिद्ध स्मृतिग्रन्थसे सौवर्ष पहिले लिखागया और संगृहीत हुआ । दक्षिणपथके अन्तर्गत देवगिरिके यदुवंशीय राजा कृष्णके भ्राता राजा महादेवकी (१२६०–७१ ई०) आज्ञासे उनके सभासद हेमाद्रिने ईसवी १३ शताब्दीके शेषभागमें "चतुर्वर्गचिन्तामणि" नामक ग्रन्थ बनाया था । सन् ईसवी १२ शताब्दीके शेषभागमें कन्नौजके महाराजा गोविन्दचन्द्रदेवकी आज्ञासे लक्ष्मीधरभट्टने "कृत्यकल्पतरु" संगृहीत किया ॥ चतुर्वर्गचिन्तामणिकी समान लक्ष्मीधरका ग्रन्थ कई एक प्रधान भागोंमें विभक्त है । तिनमें "व्यवहार" "काल" और "मोक्षकाण्ड" मिलगयाहै । १५१० शकाब्द (१५८८ ई०) का लिखा "कृत्यकल्पतरु" का कालकाण्ड नदिया जिलाके उलाग्राममें दीनानाथ भट्टाचार्यके स्थानपर विद्यमान है ।

इन्हीं लक्ष्मीधरके पुत्र भट्टोजीभट्ट हुये । यह ई० १२ शताब्दीके मध्य और शेषभागमें कन्नौजके स्वामी महाराजा गोविन्दचन्द्र और विजयचन्द्रकी सभामें विद्यमान थे । भट्टोजिदीक्षितने "सिद्धान्तकौमुदी"के सिवाय "शब्दकौस्तुभकारिका" "धात्वर्थ" "तत्त्वकौस्तुभ" "पूजाप्रकरण" "तिथिनिर्णय"और श्राद्धकाण्ड, आशौच प्रकरण, हेमाद्रिसारभूत, चतुर्विंशतिमतव्याख्या, आचारकाण्ड, संस्कारकाण्ड, प्रायश्चित्तकाण्ड, कालनिर्णय, प्रवरनिर्णय, मनोरमा, दायभाग, तन्त्रसिद्धान्तदीपिका त्रिस्थलीसेतु तैत्तिरीयसन्ध्याभाष्य बनाया, महर्षि पतंजलिके बनाये हुये महाभाष्यके अवलम्बनसे पाणिनिके अष्टाध्यायीसूत्रोंकी व्याख्याके रूपमें (शब्दकौस्तुभ) बनाया गया, इस पुस्तकमें जो उन्होंने अपना वृत्तान्त लिखा है, प्रयोजनीय समझकर उसको यहांपर उद्धृत किया वह व्याकरण और स्मृति दोनोंको भलीभांतिसे जानते थे । इन महाशयने "तत्त्वकौस्तुभ" में मध्वाचार्यके वेदान्तभाष्यका मत खण्डन करके शंकराचार्यका मत ग्रहण किया है । " भट्टोजिदीक्षितभट्ट सर्व शास्त्रदर्शी महोपाध्याय पंडित थे वाराणसी नगरमें ब्राह्मणके यहां इनका जन्म हुआ । अति प्राचीन कालमें काशीका भट्टवंश संस्कृतचर्चा और पंडिताईके लिये विख्यात है ।

" विश्वेशं सच्चिदानन्दं वन्देऽहं योऽखिलं जगत् ।
चरीकर्ति बरीभर्ति सञ्जरीहर्ति लीलया ॥
नमस्कुर्वे जगद्वन्द्यं पाणिन्यादिमुनित्रयम् ।
श्रीभर्तृहरिमुख्यांश्च सिद्धांतस्थापकान्बुधान् ॥
नत्वा लक्ष्मीधरं तातं सुमनोवृन्दवन्दितम् ।
फणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभमुद्धरे ॥
समर्प्य लक्ष्मीरमणे भक्त्या श्रीशब्दकौस्तुभम् ॥
भट्टोजिभट्टजनुषः साफल्यं लब्धुमीहते ॥

भट्टोजिदीक्षितके समान श्रीहर्षदेव भी महाराजा विजयचन्द्रकी सभामें विद्यमान थे, श्रीहर्षका जन्म काशीमें हुआ उनके पिताका नाम श्रीहरि और माताका नाम मामल्लदेवी था मामल्लदेवीके भ्राता मम्मटभट्टने " काव्यप्रकाश " नामक अलंकारका विख्यात ग्रन्थ बनाया । विजयचन्द्रकी आज्ञासे श्रीहर्षने महाभारतके नलोपाख्यानका अवलम्बन कर " नैषधचरित " नामक महाकाव्य बनाया नैषधचरितके सिवाय इन श्रीहर्षने " नवसाहसांकचरित " " छन्दःप्रशस्ति " " विजय प्रशस्ति " और " खण्डनखण्डखाद्य " रचना किया । इन्होंने अपने बनाये हुये ग्रन्थोंमें कवित्व और दार्शनिकताका अपूर्व मेल दिखाया है ॥

भट्टवैद्यनाथका "कौस्तुभटीका और कृष्णमिश्रका "भावप्रदीप" शब्दकौस्तुभकी यह दो टीका लिखी गयीं। भट्टोजिदीक्षितकी बनाई "सिद्धान्तकौमुदी " का अवलम्बन करके उनके शिष्य वरदराजने "मध्यसिद्धान्तकौमुदी

---

१ राजशेखरनामक एक जैन लेखकने सन् १३४८ ई० में प्रबन्धकोष नामक ग्रन्थ बनाया, इस पुस्तकमें उससे कन्नौजके महाराजा जयचन्द्रकी सभामें श्रीहर्षदेवके स्थित होनेका वर्णन लिखा है यह श्रीहर्ष वंगदेशमें आयेहुये पंचगौडोंमें भरद्वाजगोत्रके श्रीहर्षसे अलग है डाक्टरबूलरके मतसे यही जयचन्द्र गोविन्दचन्द्रदेवका पुत्र और जयचन्द्रसे अभिन्न है । डा० रामदाससेनने भी इसी बातको माना है ।

और "लघुसिद्धान्तकौमुदी" बनाई। संवत् १२५० अर्थात् (११९३ ई०) में मध्यसिद्धान्तकौमुदी बनी।

नत्वा वरदराजः श्रीगुरून्भट्टोजिदीक्षितान्।
करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम्॥
कृतिर्वरदराजस्य मध्यसिद्धान्तकौमुदी।
तस्याः संख्या तु विज्ञेया खबाणकरवह्निभिः॥

इन वरदराजने बारहवीं शताब्दीके शेषभागमें "व्यवहार निर्णय" स्मृतिविषयक ग्रन्थ बनाया। शिवानन्दभट्टकी आज्ञासे उनके पुत्र रामभट्टने "मध्यमनोरमा" नामक वरदराजकृत "मध्यसिद्धान्तकौमुदी" की व्याख्या बनाई। "सिद्धान्तकौमुदी" के अवलम्बनसे "सारकौमुदी" नामक एक और व्याकरण बनाया। भट्टोजिदीक्षितने अपनी बनाई सिद्धान्तकौमुदीका "प्रौढमनोरमा" नामक टीका बनाया। भट्टोजिके वीरेश्वर और भानुजी नामक दो पुत्र हुये। वीरेश्वरका बनाया हुआ कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, वाघेलवंशीय राजा कीर्तिसिंहदेवकी आज्ञासे भानुजीने अमरकोशकी "व्याख्यासुधा" नामक अत्युत्तम व्याख्या रची। भानुजीने इसमें अपनेसे पहले रायमुकुटादिटीकाकारोंका भ्रम दिखाकर अपनी विज्ञताका परिचय दिया है। भट्टोजिदीक्षितके दूसरे शिष्य महेशमिश्रके पुत्र वनमालीमिश्रनामक एक मैथिल ब्राह्मणने "कुरुक्षेत्रप्रदीप" ग्रन्थमें पुण्यतीर्थ कुरुक्षेत्रके माहात्म्यको वर्णन किया है।

भट्टोजिदीक्षितके पोते और वीरेश्वरके पुत्र हरिदीक्षितने भट्टोजिरचित "प्रौढमनोरमा" टीकाकी "लघुशब्दरत्न" नामक व्याख्या रची, इन हरिभट्टका शिष्य नागेश(नागोजी)भट्ट अति प्रसिद्ध ग्रंथकार हुआ नागेशके पिताका नाम शिवभट्ट और माताका नाम सतीदेवी था। नागेशभट्टकृत लघुशब्देन्दुशेखर, भाष्य प्रदीपोद्द्योत, वैयाकरणसिद्धांतमंजूषा, सप्तशतीव्याख्या और "स्फोटवाद" पायागयाहै। वैद्यनाथभट्टने "लघुशब्देन्दुशेखर" और "वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा" ग्रन्थकी टीका बनाई।

अधीत्य फणिभाष्याब्धिं सुधीन्द्रहरिदीक्षितात्।
न्यायतंत्रं रामरामाद्वादिरक्षोघ्नरामतः॥
याचकानां कल्पतरोररिकक्षहुताशनात्।
शृङ्गवेरपुराधीशाद्रामतो लब्धजीविकः॥
वैयाकरणनागेशः स्फोटायनऋषेर्मतम्।
परिचिंत्योक्तवांस्तेन प्रीयतामुमया शिवः॥
(वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा)

शृंगवेरपुरके राजा हिम्मतिवर्माके पुत्र रामवर्माकी सभाके यह नागेशजी पंडित थे और इनके गुरु थे इन रामवर्माने अध्यात्मरामायणका "सेतु" नामक एक टीका भी बनायाहै।

विसेनवंशजलधौ पूर्णः शीतकरोऽपरः।
नाम्ना हिम्मतिवर्म्माभूद्धैर्य्येण हिमवानिव॥
तस्माजातो रामदत्तश्चन्द्राचन्द्र इवापरः।
मित्राणाञ्च रिपूणाञ्च मानदः प्रथितः प्रभुः॥
भट्टनागेशशिष्येण बध्यते रामवर्मणा।
सेतुः परोपकृतयेऽध्यात्मरामायणाम्बुधौ। (सेतु)

भट्टोजिदीक्षितकी "प्रौढमनोरमा" के भाष्यरूपसे "लघुशब्देन्दुशेखर" नागेशभट्टने बनाया।

"पातञ्जले महाभाष्ये कृतभूरिपरिश्रमः।
शिवभट्टसुतो धीमान्सतीदेव्यास्तु गर्भजः॥
नत्वा फणीशं नागेशस्तनुतेऽर्थप्रकाशकम्।
मनोरमोमार्द्धदेहं लघुशब्देन्दुशेखरम्॥"
(लघुशब्देन्दुशेखर)

हरिदीक्षितकृतलघुशब्दरत्नकी पायगुण्डवैद्यनाथभट्टने "भावप्रकाश" नामक टीका बनाई। इन वैद्यनाथने "लघुशब्देन्दुशेखर" ग्रन्थकी टीका "चिदस्थिमाला" नामक रची, गंधाधरकृत "लघुशब्देन्दुशेखर" की टीका "इन्दुप्रकाश" और उदयकरकी बनाई टीका "ज्योत्स्ना" नामसे प्रसिद्ध है।

जयकृष्णभट्टने "सिद्धान्तकौमुदी" की "सुबोधिनी" नामक टीका बनाई। जयकृष्णके पिताका नाम रघुनाथ और दादाका नाम गोवर्द्धन था। इनका जन्म मौनिकुलमें हुआ। जयकृष्णभट्टमें स्फोटचटके, कारकवाद, शुद्धिचन्द्रिका और वृत्तिदीपिका बनाई। इनकी माताका नाम जानकी था। जयकृष्णभट्ट माधवेन्द्रसरस्वतीके शिष्य थे, इनके पुत्र राघवेन्द्रभट्टने अमरकोशअभिधानका एक भाष्य बनाया इन ही राघवेन्द्रप्रणीत "अभिज्ञान शकुन्तला" की एक टीका काशीमें पायीगईहै।

---

१ नत्वा गुरुं वैद्यनाथः पायगुण्डाख्यको कृतिम्।
चिदस्थिमालां तनुते लघुशब्देन्दुशेखरे॥

२ पित्रोः पादयुगं नत्वा जानकीरघुनाथयोः।
मौनी श्रीकृष्णभट्टेन तन्यते स्फोटचन्द्रिका॥
(स्फोट चन्द्रिका)

३ ध्यात्वा व्यासं गुरुं नत्वा माधवेन्द्रसरस्वतीम्।
मौनी श्रीकृष्णभट्टेन तन्यते वृत्तिदीपिका॥
(वृत्तिदीपिका)

४ कात्यायनव्याडिश्रीमाधवादीन्कातन्त्रतन्त्राणि विचार्य यत्नात्।
श्रीराघवेन्द्रोऽमरसिंहकोशे तनोति भाष्यं सुधियां हिताय॥
(अमरभाष्य)

महामहोपाध्याय भट्टोजिदीक्षितकी बनाई "सिद्धान्तकौमुदी" का अवलम्बन करके इन्द्रदत्त उपाध्यायने "गूढफक्किकाप्रकाश" नामक टीका बनाई ।

गर्गवंशावतंसो यो वैयाकरणकेसरी ।
उपाध्यायोपनामेन्द्रदत्तस्यैषास्ति संस्कृतिः ॥
इन्द्रदत्तेन विदुषा कृतोऽयं संग्रहो मुदा ।
सिद्धान्तकौमुदीगूढफक्किकार्थः प्रकाश्यते ॥

अबतक जो जो कुछ लिखागया इससे निश्चय प्रमाणित होताहै कि ईसवी १२ शताब्दीके मध्यभागमें कन्नौजके महाराजा गोविन्दचन्द्रदेवके राज्य करनेके समय काशीमें महामहोपाध्याय भट्टोजिदीक्षितने जन्म ग्रहण किया इनके पिता लक्ष्मीधरभट्ट उस समय वाणातासी राज्यके मंत्री थे महाराज गोविन्दचन्द्रदेवकी आज्ञाके अनुसार लक्ष्मीधरने "कृत्यकल्पतरु" नामक स्मृतिका एक बडा संग्रह किया, संभव है कि "अद्वैतमकरन्द" नामक वेदान्तिक ग्रन्थ भी इन्हीं लक्ष्मीधरभट्टने बनाया, भट्टोजिदीक्षितके शिष्य वरदराजने सन् ११९३ ई० में "मध्यसिद्धान्तकौमुदी" बनाई । इससे भट्टोजिदीक्षितका समय निरूपित होताहै । "नैषधचरित" काव्यके बनानेवाले श्रीहर्ष और "व्यवहारनिर्णय" नामक स्मृतिशास्त्रके बनानेवाले वरदाचार्यके समयमें भट्टोजी हुये । यह महामहोपाध्याय पण्डित "सिद्धान्तकौमुदी" बनाकर जगत्में विख्यात हुयेहैं जो यह सिद्धान्तकौमुदी न बनाते तो महर्षि पाणिनिके अष्टाध्यायीव्याकरणसूत्रका अनुशीलन रहित होकर संस्कृत साहित्यमेंसे पाणिनिका नाम तक लोप होजाता ।

भट्टोजिदीक्षितने "तत्त्वकौस्तुभ" में अपने समयके मध्वाचार्यका * मतखण्डन करके शंकराचार्यके कहे अद्वैतब्रह्मवादकी अभ्रांति और सत्यता प्रतिपादन की । व्याकरणदर्शन और स्मृति आदि सर्व शास्त्रोंको भट्टोजि भलीभांतिसे जानते थे । अध्यापक वेवरका मत है कि, भट्टोजिदीक्षित १७ शताब्दीमें हुये और तभी सिद्धान्तकौमुदी बनी । डाक्टर जलिका मत है कि ई० १६ शताब्दीके शेष या १७ शताब्दीके आरम्भमें दक्षिणापथके तामिलदेशमें वरदराजने उत्पन्न होकर "व्यवहारनिर्णय" नामक स्मृति ग्रन्थ बनाया है, कोई कहतेहैं कि भट्टोजिदीक्षित सारस्वत ब्राह्मण थे. शालिवाहनशके १५०० शाकेमें विद्यमान थे इन्होंने पण्डितराज जगन्नाथको समझाया था और जगन्नाथपण्डितराजका समय सन् १६६६ ईसवी है नागोजिभट्टका समय सन् १७०६ है नागोजिभट्टसे भट्टोजिदीक्षित तृतीय पूर्वपुरुष थे इससे वह सन् १६४६ में विद्यमान थे उनका निर्णयवृक्ष यह है ।

शेषश्रीकृष्णः ।

भट्टोजिदीक्षितः (शिष्य) शेषवीरेश्वरः (पुत्रः)
वीरेश्वरदीक्षितः (पुत्रः) पंडितराजजगन्नाथः (शिष्यः)
हरिदीक्षितः (पुत्रः) नागोजीभट्टः (शिष्यः)

इनके वंशके पुरुष महाराष्ट्र देवालयमें पूजा करते थे यह विशेष प्रतिष्ठा प्राप्तिके निमित्त काशीमें आकर पढने लगेथे थोडे ही समयमें यह भट्टाचार्य हुये श्रीमद् अप्पय दीक्षितने १६३७ में इनके ग्रन्थ देखकर इनका बडा सन्मान किया, शब्दकौस्तुभ १ लाख श्लोकोंमें इनका रचाहै जो पूरा नहीं मिलता । जो कुछ भी हो दीक्षित महोदयका स्वयंलिखितसमय न मिलनेसे दूसरे ग्रन्थोंसे अनुमान करना पडताहै अप्पयदीक्षितके समयका इसमेंभी विरोध है इन लोगोंके अनुमानका असूलक न होना इस प्रबन्धमें भलीभांतिसे दिखाया गयाहै । यह पुरातन ग्रन्थोंके अनुशीलनसे लिखा गया यदि कोई महाशय और निर्णय लिख भेजेंगे तो वह उनके धन्यवादसहित इसमें लिखा जायगा.

निवेदक
पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र.

* १११९ ई० (११२१) शकाब्दमें दक्षिणापथके अन्तर्गत तुलवदेशमें वैष्णवसंप्रदायके प्रवर्तक मध्वाचार्यभट्टने जन्म ग्रहण किया इनके पिताका नाम मधिजीभट्ट था मध्वाचार्यने शिवमंदिरमें विद्याभ्यासकर अच्युतप्रच आचार्यके उपदेश से वैष्णवधर्ममें दीक्षित हो उडदपिनगरका मन्दिर बनाय वह विष्णुमूर्तिकी प्रतिष्ठाकी वैष्णवधर्ममें इनकी सम्प्रदाय पृथक् है ।

सन् १६४६ से सन् १७०४ पर्यन्त भट्टोजिका जो समय निर्धारण कियाजाताहै हमको भी यह उचित प्रतीत होता है कारण कि, इस निर्णयपर बहुत जनोंकी सम्मति है संभव है सन् १२०० वाले दीक्षितजी कोई दूसरे हों और कन्नौजकी राजसभामें हों परन्तु दोनोंके पिताका नाम एक है, जो कुछ भी हो कन्नौजका इतना निबन्ध इन्हींके कारण लिखागया है ।

अथ भाषाटीकायुतकौमुदीस्थविषयानुक्रमणिका।

इति विषयानुक्रमणिका समाप्ता।

॥ श्रीः ॥

मङ्गलाचरणम् ।

यस्य मायावशं याताः सर्वे ब्रह्मादयः सुराः ।
नृत्यन्ति नैव जानन्ति तन्नमामि महेश्वरम् ॥ १ ॥
येनैतत् सकलं सृष्टं देवेन सचराचरम् ।
सुखाय सर्वजीवानां तं भजामि प्रजापतिम् ॥ २ ॥
वन्देऽहं कमलाकान्तं भक्ताभीष्टफलप्रदम् ।
यस्य स्मरणमात्रेण दुर्लभं सुलभायते ॥ ३ ॥
यो दानवाधीशकुलं विशालं निहत्य भूमेरपनीय भारम् ।
ररक्ष गोविप्रगणं कृपालुर्लीलामनुष्योऽवतु मां मुरारिः ॥ ४ ॥
गम्भीरभावैः परिपूरितार्था सिद्धान्तपूर्वा कुमुदप्रभान्ते ।
तस्याः सुहृद्भिर्ननु नोदितोऽहं संजीविनीं वै वितनोमि टीकाम् ॥ ५ ॥
इयं सञ्जीविनी टीका सर्वलोकस्य जीवनम् ।
ज्वालाप्रसादमिश्रेण मया लोकस्य तन्यते ॥ ६ ॥
बोभूयात्सिद्धिसंपूर्णा सर्वसिद्धान्तसम्मता ।
सिद्धान्तकौमुदी ह्येषा सिद्धसिद्धिसमावृता ॥ ७ ॥

॥ श्रीः ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अथ वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी ।

भाषाटीकासहिता

अथ संज्ञाप्रकरणम् ।

मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्तीः परिभाव्य च॥ वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीयं विरच्यते॥१॥

दोहा।

शम्भु शिवा गणपति गिरा, मुनित्रय शीश नवाय ।
बृहत कौमुदीको तिलक, भाषा लिखत बनाय ॥ १॥

तीनों मुनियोंको नमस्कार कर और उनके भाषणोंका परिचिन्तन कर यह वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी मैं रचताहूं ।

विवरण—पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि यह तीन मुनि व्याकरण शास्त्रके प्रवर्तक हैं, इनमें पाणिनि मुनिने व्याकरणके सूत्रोंकी रचना की है। सूत्र शब्दका अर्थ यह कि, थोडे अक्षरोंमें बहुत अर्थ दिखादेताहै, पाणिनिके सूत्रोंमें जो कुछ न्यूनता दीखीहै, उसकी निवृत्तिके अर्थ वररुचि (कात्यायन) मुनिने जो वाक्य रचेहैं उनको वार्तिक कहतेहैं, इसी कारण कात्यायन वार्तिककार कहेजातेहैं ।

पाणिनि और कात्यायनके ग्रन्थोंका पूर्ण विचार करके उनके सिद्धान्तको पतञ्जलि मुनिने विस्तारपूर्वक स्पष्ट कियाहै, वह ग्रन्थ 'महाभाष्य' कहाताहै, और पतञ्जलि 'भाष्यकार' कहेजातेहैं, कौमुदीकार भट्टोजिदीक्षितने मंगलाचरणमें इन्ही तीनों मुनियोंको नमस्कार कियाहै ।

अनेक वैयाकरणोंने उन तीनों ग्रन्थोंके अर्थोंके विषयमें जो सिद्धान्त कियेहैं वे वैयाकरणसिद्धान्त कहे जातेहैं, और यह ग्रन्थ उन वैयाकरणसिद्धान्तोंकी कौमुदी (चांदनीकी सदृश प्रकाशक) है, इस कारण इस ग्रन्थका नाम वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी है ॥ १ ॥

अइउण् १ । ऋलृक् २ । एओङ् ३ । ऐऔच् ४। हयवरट् ५ । लण् ६। ञमङणनम् ७। झभञ् ८ । घढधष् ९ । जबगडदश् १०। खफछठथचटतव् ११। कपय् १२। शषसर् १३ । हल् १४ ॥

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि । एषामन्त्या इतः । लणसूत्रेऽकारश्च । हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः ॥

इसप्रकार शिवजीसे आये हुए यह चौदह सूत्र अण्–आदि संज्ञाके निमित्त हैं, इनमेंसे प्रत्येक सूत्रके अन्तमें जो ण्, क्, ङ्,– इत्यादि वर्ण हैं, उनकी इत् संज्ञा है, इसी प्रकार "लण्" इस सूत्रमें अकार भी इत्संज्ञक है, हकारसे लेकर आगे जो वर्ण हैं उनमें जो अकार वर्ण है वह केवल स्पष्ट उच्चारणके निमित्त जोडा गयाहै ।

विवरण—माहेश्वर सूत्र—इस विषयमें ऐसी कथा है कि, प्रारंभमें पाणिनिजी अति मूढ थे, गुरुगृहमें दूसरे शिष्य इनका बहुत उपहास करतेथे, उनसे दुःखी होकर पाणिनि वहांसे निकल कर महेश्वरकी सेवा करने लगे, शिवजीने प्रसन्न होकर नृत्यके अन्तमें चौदह वार अपना डमरू बजाया, उससे जो शब्द निकले वही यह चौदह सूत्र हैं, इसी कारण इनको शिवसूत्र वा माहेश्वर सूत्र कहतेहैं, इनका नाम चतुर्दशसूत्री और अक्षरसमाम्नाय भी है, समाम्नायका अर्थ वेद अर्थात् ईश्वरसे पायाहुआ ज्ञान है, यह सूत्र ईश्वरसे प्राप्त हुए इस कारण इनकी योग्यता भी वेदोंके तुल्य श्रेष्ठ मानी गई और उसी आधारसे पाणिनिका रचा हुआ ग्रंथ वेदाङ्गमें गिनागयाहै, इस व्याकरणके आठ अध्याय हैं, इनको अष्टाध्यायी कहतेहैं ।

संज्ञा, शास्त्रमें अवश्य ध्यान रखनेके नियत शब्दका नाम है, आगे बहुतसी संज्ञा आवेंगीं, उनके विषयमें वहीं विचार कियाजायगा, संज्ञाका और प्रयोजन लाघव है अर्थात् थोडे शब्दोंसे बहुतसे अर्थको लाना ।

इत्का अर्थ केवल किसी सूचनाके हेतु अन्तमें जोडेहुए वर्णका निकल जाना है, इतर वर्णोंके साथ गणना करनेका वर्ण नहीं है, पृथक पृथक् इतोंसे होनेवाली सूचना जहांकी तहां समझमें आवेंगीं ।

ऊपरके सूत्रोंमें ह, य, व, र,–इत्यादिवर्ण व्यञ्जनरूप हैं, अर्थात् स्वर वर्णोंके आश्रय विना उनका स्पष्ट उच्चारण नहीं होता । अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ, यह स्वर है इस कारण ह, य, व, र,–इत्यादिकोंके अन्तमें अ, यह स्वर जोडनेसे स्पष्ट उच्चारण होताहै, इनमें स्वर न मिलायाजाय तो ह्, य्, व्, र्,– इत्यादि विराम युक्त लिखने पडेंगे ।

ह, य, व, र,–इत्यादि वर्णोंके साथ 'अ' वर्ण केवल उच्चारणके निमित्त जोडा गया है, तथापि लण् इस सूत्रमें जो 'ल'

१ "नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् । उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥"

है इसमें जो 'अ' जोडा गया है वह केवल उच्चारणके निमित्त नहीं है, किन्तु इत् अर्थात् किसी कार्यके सूचनार्थ जोडाहुआ समझना चाहिये, इसका प्रयोजन आगे $\frac{१।३।२}{३}$ में समझमें आवेगा।

वर्णका अर्थ रंग है, यह और किसी भी रंगसे प्रघातको प्राप्त नहीं होता, इसीसे वर्णका अर्थ अक्षर (अविनाशी) भी है, विशेषकर मूलाक्षरों और उनके उच्चारणोंमें वर्ण शब्दका प्रयोग होताहै, जैसे हकार अकार, ह-वर्ण, अ-वर्ण, इत्यादि [और र-वर्णमें कार नहीं लगाते, किन्तु इसको रेफ ऐसा कहते हैं] इत् अण्-इत्यादि संज्ञा पाणिनिसूत्रसे कैसे सिद्ध होती हैं, यह दिखानेको आगे दो सूत्र दियेहैं ।

सिद्धान्तकौमुदी एक प्रकारसे अष्टाध्यायीकी ही टीका है, परन्तु अष्टाध्यायीमें जैसा सूत्रोंका क्रम है, वैसा इसमें नहीं रक्खाहै, अष्टाध्यायीमें एक कार्य विधान करनेवाले जितने सूत्र हैं वह सब एकत्र रक्खे हैं, परन्तु कौमुदीमें अलग २ पदोंकी सिद्धिके निमित्त जो पृथक् २ प्रकरण कियेहैं उनके अनुरोधसे जो जो सूत्र लगे हैं उनको छांट २ कर उन २ प्रकरणोंमें रक्खाहै इस कारण कौमुदीमें सूत्रोंका क्रम मूलके अनुसार नहीं है, परन्तु ऐसा होनेपर भी कोई सूत्र टीका विना रह नहीं गया और विद्यार्थियोंको सुबीता होगयाहै ॥

१ हलन्त्यम् । १ । ३ । ३ ॥

हलितिसूत्रेऽन्त्यमित्स्यात् ।

१-" हल् " इस माहेश्वर सूत्रमें अन्त्य ल् यह वर्ण इत् है, इस प्रकार पाणिनिसूत्रसे इत् सिद्ध करके-॥

२ आदिरन्त्येन सहेता । १ । १ । ७१ ॥

अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात् । इति हलसंज्ञायाम् ॥

२-अन्त्य इत्करके सहित जो आदि अर्थात् पहिला वर्ण और अन्त्य इत्, इन दोनोंको मिलाके जो उच्चारित हो वह बीचके अक्षरोंकी और अपनी भी संज्ञा हो अर्थात् उससे मूल वर्ण और मध्यके प्रत्येक वर्णका भी बोध हो, इस कारण "हयवरट्" इसमेंका ह और सबसे पिछला "हल्" सूत्रमेंका ल् जो अन्त्य इत् यह दोनों मिलकर जो 'हल्' ऐसी संज्ञा हुई तो ह और हसे लतकके मध्यमें रहनेवाले समस्त वर्णोंका बोध हुआ इस प्रकारसे हल् संज्ञा सिद्ध होनेपर-॥

(१) हलन्त्यम् । १ । ३ । ३ ॥

उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्यात् । उपदेश आद्योच्चारणम् । ततोऽणजित्यादिसंज्ञासिद्धौ ॥

(१)-" हलन्त्यम् " $\frac{१।३।३}{१}$ उपदेशमें जो अन्त्य हल् उसको इत् जानो, उपदेशका अर्थ मूलका उच्चारण है, मूलका उच्चारण-सूत्र, अथवा पाणिनि कात्यायन पतञ्जलि इनका उच्चारण है, इससे सिद्ध हुआ कि, माहेश्वर सूत्रोंमेंके ण्, क् ङ्,-इत्यादि जो अन्त्य हल् हैं वे सब इत् हुए, तब $\frac{१।१।७१}{२}$ इस सूत्रसे अण्, अच्,-इत्यादि संज्ञा सिद्ध हुई । अण् अर्थात् अ, इ, उ, और अच् अर्थात् अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, और इसी प्रकार और भी जानना ।

अच्में अइउण् ऋऌक् एओङ् ऐऔच् इस प्रकार (पढेजानेसे) ण्, क्, ङ्, इत्यादिका भी ग्रहण होना चाहिये परन्तु इत् गणनामें नहीं आते, इसका निर्णय अगले सूत्रके विवरणमें 'प्रत्याहारेषु इतां न ग्रहणम्' इत्यादिमें होनेवाला है, इस प्रकार अण् अच्,-इत्यादि संज्ञा सिद्ध होनेपर-॥

३ उपदेशेऽजनुनासिक इत् । १ । ३ । २ ॥

उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्संज्ञः स्यात् । प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः । लण्सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञा । प्रत्याहारेष्वितां न ग्रहणम्, अनुनासिक इत्यादिनिर्देशात् । न ह्यत्र ककारे परेऽच्कार्यं दृश्यते । आदिरन्त्येनेत्येतत्सूत्रेण कृताः संज्ञाः प्रत्याहारशब्देन व्यवह्रियन्ते ॥

३-उपदेश अर्थात् सूत्रोंमें अनुनासिक जो अच् सो इत् हो, पाणिनिके सूत्रोंमें यह अनुनासिक लिखकर दिखानेका प्रचार नहीं, केवल मुखसे ही बतानेकी चाल है, इसीसे वैयाकरणोंने अमुक२ अच् अनुनासिक हैं यह बात परंपरासे जानकर वे वे इत् हैं ऐसा टीका ग्रन्थोंमें लिख रक्खाहै, इस कारण उनके जाननेकी विशेषता नहीं है, यदि उनके जाननेकी इच्छा हो तो कार्यसे कारण इस न्यायसे उनके इत्त्वसे जान लेना, जैसे $\frac{४।१।२}{१८३}$ इस सूत्रमें सु प्रत्ययमेंका उ यह अच् अनुनासिक है, तथापि सुके ऊपर ँ ऐसा अनुनासिक चिह्न नहीं लिखा, तथापि वहां उ इत् है ऐसा आगे लिखे होनेसे जानना चाहिये कि, उ यह अच् अनुनासिक होनेके कारण इत्त्वको प्राप्त हुआ है, और उसीसे (लण्सूत्रस्था०) "हयवरट्" "लण्" इनमें र, और लमें जो अ इत् है यह दोनों मिलके 'र' ऐसा जो उच्चारण हुआ उससे $\frac{१।१।७१}{२}$ सूत्रके आधारसे र और ल इन प्रत्येकोंका बोध होताहै, इस कारण 'र' यह र और ल दोनोंकी संज्ञा है, कभी कभी रके स्थानमें ल-की प्राप्ति होती है, उसकी सिद्धि करनेको 'र' प्रत्याहारका उपयोग है ।

प्रत्याहारोंमें इतोंका ग्रहण नहीं होता, कारण कि, इस सूत्रमें पाणिनिने स्वयं ही अनुनासिक ऐसा उच्चारण कियाहै, अर्थात् अ और च् इन दोनोंके मध्यमें अ इ उ ऋ ऌ इनके अनन्तर क् जो इत् उसकी गणना स्वतः उन्होंने अचोंमें

---

१ अष्टाध्यायीमें यह सूत्र एक ही वार पढा गया है और यहां दो जगह और दो प्रकारका अर्थ कैसे ? इसका उत्तर यह कि, अण् आदि संज्ञाकी सिद्धिमें "आदिरन्त्येन०" सूत्रकी प्रवृत्तिके समय इत्पदार्थज्ञानके लिये "हलन्त्यम्" की उपस्थिति होतीहै, और इसकी प्रवृत्तिमें हल्पदार्थज्ञानके लिये "आदिरन्त्येन०" की उपस्थिति होतीहै, इस प्रकार दोनोंकी प्रवृत्तिमें परस्पर दोनोंकी उपस्थिति होतीहै, इसीका नाम अन्योऽन्याश्रय दोष है, इसी दोषके-वारणके लिये "हलन्त्यम्" की आवृत्ति की गयी है, [एकके पुनःपुनः पठनको आवृत्ति कहतेहैं]। "हल्" सूत्रसे अन्त्य (ल) इत् हो" एतदर्थक एक "हलन्त्यम्" से इत्पदार्थज्ञान होनेपर "आदिरन्त्येन०" की प्रवृत्तिमें फिर अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं पडता॥

नहीं की, यह बात प्रत्यक्ष दीखतीहै, कारण कि, जो उसकी गणना अचोंमें की होती, तो अनुनासिक इस शब्दमें सिमें जो इ और अगला क यह मानाहुआ अच् इन दोनोंके एकत्र होनेके कारण अच्कार्य (यण्) होजाता, पर यहां वैसा नहीं हुआ, और यह प्रकार अनेक स्थलोंमें है, इससे प्रत्याहारोंमें इतोंका ग्रहण नहीं होता, यह बात सिद्ध हुई, दो अच् एकत्र होनेसे जो संधि होतीहै, उसको अच्कार्य कहते हैं, यह बात आगे संधिप्रकरणमें कही जायगी ।

"आदिरन्त्येन $\frac{१।१।७१}{२}$" इस सूत्रसे कीहुई संज्ञाओंको प्रत्याहार शब्दसे व्यवहार कियाहै । व्याकरणमें सब मिलाकर ४३ प्रत्याहारोंका काम पड़ता है इन४३प्रत्याहारोंका बोध* विचारसे भलीप्रकार ध्यानमें आजायगा । कौन २ से इत् हैं इस विषयमें अष्टाध्यायीमेंका सूत्रक्रम अध्याय १ । पाद ३—।

२ उपदेशेऽजनुनासिक इत् ।

३ हलन्त्यम् ।

४ न विभक्तौ तुस्माः ।

५ आदिर्ञिटुडवः ।

६ षः प्रत्ययस्य ।

७ चुटू ।

८ लशक्वतद्धिते ।

इन सब सूत्रोंके इस स्थलमें समझनेकी विशेष आवश्यकता नहीं है, तो भी इनका क्रम समझ लेनेसे बहुत लाभ है, इसके लिये थोडासा विस्तार करना आवश्यक है, अष्टाध्यायीकी सूत्ररचना ऐसी है कि, किसी विषयके सम्बन्धका मुख्य सूत्र प्रथम आताहै, उसके अर्थकी पूर्णता करनेवाला सूत्र उसके पीछे आताहै, उसमें अपवाद, विकल्प, निषेध इत्यादि सूत्र जहांके तहां आतेहैं, परन्तु इन सबोंमें ध्यान रखनेकी मुख्य बात यह है कि, पूर्व सूत्रमें आया हुआ शब्द फिर अगले सूत्रोंमें नहीं आता, उनमें उस सूत्रकी अनुवृत्ति आतीहै अर्थात् उन पूर्व सूत्रोंमेंसे जहां जिसका प्रयोजन होताहै लिया जाताहै, इस प्रकारसे पूर्व सूत्रोंमेंके शब्द आगेके सूत्रोंके अर्थ पूर्ण करनेको लियेजातेहैं, इसीको अनुवृत्ति कहते हैं, इससे जो कोई मध्यका सूत्र लिया जाय तो उसकी भरतीके निमित्त पूर्व सूत्रोंमेंसे किस शब्दकी अनुवृत्ति इसमें आती है यह समझ लेना चाहिये, कौमुदीकारने यह अनुवृत्ति जहांकी तहां कहदीहैं, तो भी विना क्रमके समझे ध्यानमें नहीं आती । पुरातन पद्धतिके अनुसार पहले अष्टाध्यायी कंठ हो तो वह अनुवृत्ति शीघ्र समझमें आजाती है, परन्तु जिन्होंने अष्टाध्यायी कंठकरके कौमुदी नहीं पढीहै, वे अष्टाध्यायीकी पुस्तकसे इस बातको लक्षमें लासकते हैं, उदाहरणके लिये "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" यह आरंभका सूत्र है, इसमेंके इत् शब्दकी अनुवृत्ति 'हलन्त्यम्' इस अगले सूत्रमें करके ऐसा सम्बन्ध समझना चाहिये, इसलिये $\frac{१।३।३}{१}$ इस सूत्रमें कौमुदीकारने 'हलन्त्यम्' इस सूत्रकी वृत्ति 'हल् इतिसूत्रे अन्त्यम् इत् स्यात्' ऐसी ही दी है, वृत्तिका अर्थ है सूत्रका स्पष्ट अर्थ, इसी प्रकार 'लशक्वतद्धिते' तक अगले सूत्रोंमें इत् शब्दकी अनुवृत्ति लेनी चाहिये, विशेष निरूपण जहां यह सूत्र आवेंगे कियाजायगा ॥

उच्चारणमें अचोंमें जो भेद पडताहै उसके दिखानेके लिये अगला सूत्र—

४ ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः।१।२।२७॥

उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः । वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद्ध्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात् । स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा ॥

४–उ, ऊ, ऊ ३ इन तीन उकारोंको वः कहते हैं, इनके उच्चारणकालके समान उच्चारणकाल है जिस अच्का वह अच् क्रमसे ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञावाला हो । वह प्रत्येक अच् उदात्तादि भेदसे तीन प्रकारके हैं, यथा—

५ उच्चैरुदात्तः।१।२।२९॥

ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागेषु निष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः स्यात् । आ । ये ॥

५–मुखमें जो तालुआदि वर्णोंके उच्चारणके स्थान हैं, उनके उच्च और नीच आदि यह भाग हैं, उनमेंसे उच्च भागमें वायुका आघात होकर जो अच् निष्पन्न होताहै वह उदात्त है, यथा 'आ ये' यह दोनों ही स्वर उदात्त हैं, वह उदाहरण "आ। ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा मरुद्भिरग्न आगहि" (ऋ० मं० १ सू० १९ मंत्र ८) में है । उदात्तादि स्वरोंमें जो नियम हैं, वे अभी समझने कठिन हैं, विशेषरूपसे स्वरप्रकरणमें समझमें आवेंगे, इस समय यह उदात्त है इतना ही जानलेना उचित है । तालु आदि स्थानोंका विवरण $\frac{१।१।९}{१०}$ सूत्रसे समझमें आवैगा ॥

६ नीचैरनुदात्तः।१।२।३०॥

स्पष्टम् । अर्वाङ् ॥

६–तालु आदि स्थानोंमें नीचेके भागोंसे निष्पन्नहुआ जो अच् वह अनुदात्त कहाताहै, यथा–'अर्वाङ्' यह उदाहरण

---

* अण् १ । अक् २ । अच् ३ । अट् ४ । अण् ५ यह प्रत्याहार लण् इस सूत्रके णकार पर्यन्त जानना । अम् ६। अश् ७। अल् ८ । इक् ९ । इच् १० । इण् ११ । उक् १२ । एङ् १३ । एच् १४ । ऐच् १५ । हश् १६ । हल् १७ । यण् १८ । यम् १९ । यञ् २० । यय् २१ । यर् २२ । वश् २३ । वल् २४ । रल् २५ । ञम् २६ । मय् २७ । ङम् २८ । झष् २९ । झश् ३० । झय् ३१ । झर् ३२ । झल् ३३ । भष् ३४ । जश् ३५ । बश् ३६ । खय् ३७ । खर् ३८ । छव् ३९ । चय् । ४० । चर् ४१ । शर् ४२ । शल् ४३ । यह ४३ प्रत्याहार हैं इनमें बीचके इत्संज्ञक अक्षरोंको छोडकर सब लिये जातेहैं जैसें अण्–प्रत्याहारसे अ, इ, उ । अट्--प्रत्याहारसे अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्,--वर्ण जानेजाते हैं इसी प्रकार दूसरे प्रत्याहारोंसे वे वे अक्षर जानने चाहियें ॥

१ यहां ऐसा सन्देह होताहै कि, अक्षरसमाम्नायमें--अ, इ--का त्यागकर उ-का ग्रहण क्यों किया ? इसका उत्तर यह है कि, सम्भवतः पाणिनिजी प्रातःकालिक रात्रिमें इस सूत्रको बना रहे थे, और उसी समय मुरगेने 'कु-कुह-कू३' ऐसा शब्द किया, उसमें ह्रस्व दीर्घ प्लुतका प्रसिद्ध उदाहरण समझके 'ऊकालः' ऐसा कहा ।

"अर्वाङ् त्रिचक्रो मधुवाहनो रथो जीराश्वो अश्विनोर्यातु सुष्टुतः । त्रिवन्धुरो मघवा विश्वसौभगः शं न आवक्ष द्विपदे चतुष्पदे" (ऋ० मं० १ सू० १५७ मं० ३) का है, इसमेंका 'अ' यह अनुदात्त है, वेदमें अनुदात्त स्वर दिखानेके लिये अक्षरके नीचे–आडी रेखा देते हैं, उदात्तका चिह्न कुछ नहीं है ॥

७ समाहारः स्वरितः । १ । २ । ३१ ॥

उदात्तत्वानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात् ॥

७–उदात्त और अनुदात्त यह स्वरोंके दो धर्म जिसमें एकत्र आते हैं उस अच्की स्वरित संज्ञा है ॥

८ तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् । १ । २ । ३२ ॥

ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम् । स्वरितस्यादितोऽर्धमुदात्तं बोध्यम् । उत्तरार्धं तु परिशेषादनुदात्तम् । तस्य चोदात्तस्वरितपरत्वे श्रवणं स्पष्टम् । अन्यत्र तूदात्तश्रुतिः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धा । क१ वोऽश्वाः । रथानां न येऽराः । शतचक्रं यो३ऽह्यः–इत्यादिष्वनुदात्तः । अग्निमीळे इत्यादावनुदात्तश्रुतिः । स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकत्वाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा ॥

८–सूत्रमें ह्रस्व शब्द जो आयाहै, उसका प्रस्तुत विषयसे कुछ सम्बन्ध नहीं है, इस कारण उसको छोड देना चाहिये । स्वरितका पूर्वार्द्ध उदात्त जानो, इससे यह स्पष्ट है कि, अवशिष्ट भाग उत्तरार्द्ध अनुदात्त जानना चाहिये, परन्तु स्वरितका उत्तरार्द्ध जो अनुदात्त वह कब स्पष्ट सुनाई देताहै, जब उसके आगे उदात्त अथवा स्वरित हो । अन्यत्र केवल उदात्त ही सुनाई पडताहै, यह बात प्रातिशाख्य (वैदिक व्याकरण)में प्रसिद्ध है, तथाहि–" क १ वोऽश्वाः क्वा ३ भीशवः कथंशेककुथायय । पृष्ठसदोनसोयमः" (ऋ० ५ । ६१।२) । "रथानांनयेऽराःसनाभयोजिगीवांसोनशूराअभिद्यवः । वरेयवो नमर्याघृतप्रुषोऽभिस्वर्तारोअर्कंनसुष्टुभः" (ऋ० मं० १० सू० ७८ मं० ४) । "यंसुपर्णःपरावतःश्येनस्यपुत्रआभरत्शतचक्रं यो ३ ह्योवर्तनिः" (ऋ० मं० १० सू० १४५ ऋचा ४) इन मंत्रोंमें 'वो' और 'रा' इन अक्षरोंके स्वर उदात्त होनेके कारण उनके पूर्वके 'क' मेंका 'अ' और 'ये' मेंका ए इन दोनों स्वरितोंके उत्तरार्द्धमें रहनेवाले जो अनुदत्तांश उनका भी बोलनेमें स्पष्ट श्रवण होताहै, वैसेही 'ह्यः' स्वरित आगे है, इसलिये पिछले 'यो ३' मेंका जो 'ओ ३' इसके उत्तरार्द्धमें रहनेवाले अनुदत्तांशका भी स्पष्ट श्रवण होताहै, इत्यादि, परन्तु "अग्निमीळे पुरोहितंयज्ञस्यदेवमृत्विजंहोतारं रत्नधातमम्" (ऋ० मं० १ सू० १ मं० १) इस मंत्रमें पुरोहित शब्दके 'पु' अक्षरका 'उ' जो अच् है, वह अनुदात्त होनेके कारण पिछले 'ळे' मेंके 'ए' स्वरित होते भी उसमेंका अनुदात सुनाई न देकर केवल उदात्तमात्र सुनपडताहै, स्वरित स्वर दिखानेके लिये वेदमें अक्षरके शिर-पर खडी रेखा करते हैं, जहां एक दो तीन १ । २ । ३ अंक लिखकर नीचे ऊपर स्वर दियेगये हैं वहां वे स्वरित अनुक्रमसे ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत जानने, और उनके उत्तरार्द्धमेंके अनुदात्तोंका श्रवण भी स्पष्ट है, ऐसा जानना । ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत इस प्रकारसे प्रत्येक अच्के तीन भेद हैं, और उस प्रत्येकके उदात्त, अनुदात्त, स्वरित यह तीन भेद हैं, इस प्रकारसे प्रत्येकके नौ नौ भेद होते हैं, फिर उनके अनुनासिक और निरनुनासिक ऐसे दो दो भेद होते हैं ॥

९ मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः । १ । १ । ८ ॥

मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात् । तदित्थम् अ इ उ ऋ इत्येतेषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः । लृवर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात् । एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात् ॥

९–मुख और नासिका इन दोनोंसे जिस वर्णका उच्चारण होताहै, उसे अनुनासिक जानो, इस प्रकारसे अ, इ, उ, ऋ, इनमेंसे प्रत्येक वर्णोंके अठारह २ भेद हुए । लृ वर्णके बारह भेद हैं, कारण कि, उसका दीर्घ नहीं है । ए, ओ, ऐ, औ इनमें भी प्रत्येकके बारह २ भेद होते हैं कारण कि, इनका ह्रस्व नहीं होता ॥ अब सवर्ण इस संज्ञाका निरूपण करते हैं–

१० तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् । १ । १ । ९ ॥

ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात् । अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः । इचुयशानां तालु । ऋटुरषाणां मूर्धा । लृतुलसानां दन्ताः । उपूपध्मानीयानामोष्ठौ । ञमङणनानां नासिका च । एदैतोः कण्ठतालु । ओदौतोः कण्ठोष्ठम् । वकारस्य दन्तोष्ठम् । जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम् । नासिकाऽनुस्वारस्य । इति स्थानानि । यत्नो द्विधा । आभ्यन्तरो बाह्यश्च । तत्राद्यश्चतुर्धा । स्पृष्टेषत्स्पृष्टविवृतसंवृतभेदात् । तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम् । ईषत्स्पृष्टमन्तस्थानाम् । विवृतमूष्मणां स्वराणां च । ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम् । प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव । एतच्च सूत्रकारेणैव ज्ञापितम् । तथाहि–॥

१०–तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न यह दोनों जिनके समान हों वे वर्ण परस्पर सवर्णसंज्ञक जानने चाहिये, पहले स्थान कहतेहैं–

अ, क, ख, ग, घ, ङ, ह तथा विसर्ग इनका कण्ठ स्थान है । इ, च, छ, ज, झ, ञ, य और श इनका तालु स्थान है । ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र और ष इनका मूर्धा

स्थान है । लृ, त, थ, द, ध, न, ल और स इनका दन्त स्थान है । उ, प, फ, ब, भ, म और उपध्मानीय इनका ओष्ठ स्थान है । ञ, म, ङ, ण, न इनका नासिका स्थान भी है । ए और ऐका कण्ठतालु स्थान है । ओ और औका कण्ठोष्ठ, वकारका दन्त और ओष्ठ स्थान है । जिह्वामूलीयका जिह्वामूल स्थान है, अनुस्वारका नासिका स्थान है ।

यह जो कु, चु, टु, तु, पु, इत्यादि हैं इनमें वर्गोंके पांच पांच अक्षरोंका समावेश होताहै, इस कारण कुका अर्थ क, ख, ग,घ, ङ, ऐसा किया जाताहै ऐसे ही और भी जानो। विसर्जनीयका अर्थ विसर्ग है, उपध्मानीयका अर्थ प फ इनसे पहले आनेवाला अर्द्ध विसर्ग ⌣ है, इसी प्रकार जिह्वामूलीय क ख से पहले आनेवाला अर्द्ध विसर्ग ⌣ है, एत्, ऐत्, ओत्, औत्, इनसे ए, ऐ, ओ, औ, यह वर्ण जानने चाहिये । कु, चु, इत्यादिकोंमें 'उ' और ए, ऐ इत्यादिकोंमें 'त्' जोडनेके १।१।६९/१४ और १।१।७०/१५ सूत्र आगे आवेंगे॥ स्थान कहचुके ॥

प्रयत्न दो प्रकारके हैं–आभ्यन्तर और बाह्य, इन दोनोंमें पहला आभ्यन्तर प्रयत्न चार प्रकारका है–स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत और संवृत इन भेदोंसे । उनमें स्पृष्ट प्रयत्न स्पर्श वर्णोंका है, ईषत्स्पृष्ट अन्तःस्थोंका, विवृत प्रयत्न ऊष्मा और स्वरोंका, वाक्ययोजनामें ह्रस्व अवर्णका संवृत प्रयत्न होताहै और पदसिद्धि होनेतक उसका प्रयत्न विवृत ही जानना चाहिये ।

विवरण–आस्यका अर्थ मुख है, परन्तु यहां सूत्रमें आस्ये भवम्=आस्यम् अर्थात् आस्य (मुख) में रहनेवाला 'आस्य' इस अर्थसे मुखके जिस स्थानसे वर्ण निकलताहै उसकी आस्य संज्ञा है, मुखमें ऊपरके जेबडेमें गलेकी नलकीसे लेकर ओष्ठतक वर्णोत्पत्तिके पांच स्थान हैं, उनके नाम अनुक्रमसे कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ हैं, कण्ठ–गलेके टेंटुएका शिखर कहाताहै, दन्त नाम दांत, ओष्ठसे ऊपरका ओष्ठ, मूर्धा नाम दांतोंके पिछले भागकी उंचाई, और इस उंचाईके पीछे तालु स्थान है । जिह्वाके चार भाग हैं, मूल, मध्य, उपाग्र और अग्र यह और नीचेका होठ मिलकर जो पांच अवयव होते हैं उनका अनुक्रमसे कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ इनसे परस्पर सम्बन्ध होताहै, इन अवयवोंका जो एक दूसरेसे पूर्ण स्पर्श है वही स्पृष्ट प्रयत्न है, और थोडा स्पर्श हो तो ईषत्स्पृष्ट, और उनका एक दूसरेसे दूर होना विवृत प्रयत्न और उनका एक दूसरेके समीप आना संवृत प्रयत्न जानो। वाक्ययोजनामें 'अ' इस ह्रस्व स्वरका उच्चारण संवृत प्रयत्न वाला होताहै, अर्थात् कण्ठस्थान और जिह्वामूल यह दोनों बहुत निकट होतेहैं परन्तु प्रक्रियामें अर्थात् शब्दकी सिद्धि होनेतक उसे विवृत प्रयत्नवाला ही समझना चाहिये, अर्थात् उसके उच्चारण कालमें जिह्वामूल कण्ठ स्थानसे दूर होना चाहिये, इसका कारण यह है कि इ, ई, उ, ऊ के समान 'अ' का दीर्घ आ होनेके लिये दोनोंका प्रयत्न एक ही होना चाहिये, नहीं तो उच्चारण करते समय जो संवृत अकार है, वह दीर्घ करनेसे लम्बा २ 'अ' ही रहेगा परन्तु 'आ' न होगा, इस कारण व्याकरणमें पहलेसे ही उसको विवृत समझना चाहिये, और व्याकरणका कार्य हो जानेपर प्रयोगमें उसको संवृत जानना चाहिये, इस प्रकारसे यह कठिनाई दूर होजाती है । ऊपर यह भी कहा है कि, विवृत प्रयत्नसे ऊष्मा और स्वर उत्पन्न होतेहैं, परन्तु उसमें एक और भी अन्तर्भेद है, कि, विवृतमें आधे स्पृष्ट प्रयत्नसे ऊष्मा, और केवल अस्पृष्ट प्रयत्नसे स्वर उत्पन्न होतेहैं यह जानना चाहिये ॥

यह जो ह्रस्व अकारके प्रयोगमें संवृतत्व और प्रक्रियामें विवृतत्व कहा है इसको सूत्रकारने स्वयं ही विज्ञापित किया है–

११ अ अ इति । ८ । ४ । ६८ ॥

विवृतमनूद्य संवृतोऽनेन विधीयते । अस्य चाष्टाध्यायीं सम्पूर्णां प्रत्यसिद्धत्वाच्छास्त्रदृष्ट्या विवृतत्वमस्त्येव । तथा च सूत्रम् ॥

११ विवृतका अनुवाद करके संवृतका इस सूत्रसे विधान होताहै, अनुवाद नाम पिछले सिद्धार्थका उच्चारण है, यह सूत्र अष्टाध्यायीमें सबसे अन्त्य होनेसे सम्पूर्ण व्याकरण सिद्ध होनेतक असिद्ध अर्थात् अपना कार्य करनेमें असमर्थ है, इस कारण तबतक प्रयोगमें अकारको भी शास्त्र दृष्टिसे विवृतत्व ही है ।

विवरण–इस सूत्रमेंका प्रथम अ विवृत दूसरा अ संवृत है, यह बात यद्यपि सूत्रमें स्पष्ट नहीं है, तो भी अनुनासिकादिके अनुसार प्रतिज्ञासे ही जाना जाता है, और वह विजातीय है, इस कारण उसको "अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१/८५" इसके अनुसार दीर्घ नहीं होता, इसी प्रकार "अणुदित् १।१।६९/१४" सूत्रके अनुसार अविधीयमान अचोंके अन्तर्गत चाहे सवर्णोंका ग्रहण होता है, तो भी यहां वैसा नहीं होता, ऐसा भाष्यादिकोंके व्याख्यानसे जानिये । इसका लिंगभेद नहीं और इसकी विभक्ति भी गई, "सुपाम्० ७।१।३९/३५६१" इससे लुक् "१।१।६१/२६०" इससे संज्ञा ॥ इस असिद्धपनेका प्रमाण कहते हैं–

१२ पूर्वत्रासिद्धम् । ८ । २ । १ ॥

अधिकारोऽयम् । तेन सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम् । बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा । विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति ॥

खयां यमाः खयः ⌣क⌣पौ
विसर्गः शर एव च ॥
एते श्वासानुप्रदाना
अघोषाश्च विवृण्वते ॥ १ ॥
कण्ठमन्ये तु घोषाः स्युः
संवृता नादभागिनः ॥
अयुग्मा वर्गयमगा
यणश्चाल्पासवः स्मृताः ॥ २ ॥

१ मूलमें 'नासिका च' यहां चकार पढनेसे इन वर्णोंके अपने २ वर्गके अनुकूल तालु आदि स्थान भी हैं ।

वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः । पलिक्नीः (क्) नीः, चख्ख्नतुः (ख्) नतुः, अग्ग्निः (ग्) निः, घ्घ्नन्ति (घ्) नन्तीत्यत्र क्रमेण कखगघेभ्यः परे तत्सदृशा एव यमाः । तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः खयः तथा तषामेव यमाः, जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ, विसर्गः शषसाश्चेत्येतेषां विवारः श्वासोऽघोषश्च । अन्येषां तु संवारो नादो घोषश्च । वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमाः प्रथमतृतीययमौ यरलवाश्चाल्पप्राणाः[१] । अन्ये महाप्राणा इत्यर्थः । बाह्यप्रयत्नाश्च यद्यपि सवर्णसंज्ञायामनुपयुक्ताः । तथाप्यान्तरतम्यपरीक्षायामुपयोक्ष्यन्त इति बोध्यम् । कादयो मावसानाः स्पर्शाः । यरलवा अन्तस्थाः शषसहा ऊष्माणः । अचः स्वराः[२] । ᳵक ᳶप इति कपाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशौ जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ । अं अः इत्यचः परौ अनुस्वारविसर्गौ । इति स्थानप्रयत्नविवेकः ॥ ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम् ॥ * ॥ अकारहकारयोरिकारशकारयोर्ऋकारषकारयोर्लृकारसकारयोश्च मिथः सावर्ण्ये प्राप्ते- ॥

१२-यह अधिकारसूत्र है, इससे सवासात अध्यायके सामने त्रिपादी असिद्ध है, इसका अधिकार अष्टाध्यायीकी समाप्तितक एकसा है, इस कारण पूर्वमें जो सवासात अध्याय बीत गये हैं, उनका कार्य होजानेतक अगला पौन अध्याय असिद्ध अर्थात् अपने काम करनेमें असमर्थ जानना चाहिये । और उस पौन अध्यायमें भी पूर्वशास्त्रके सामने पश्चात् आनेवाला शास्त्र उसी प्रकारसे असिद्ध है, अत एव अन्तके पौन अध्यायमेंका कोईसा सूत्र किसी भी पूर्व सूत्रका बाधक नहीं होता ।

विवरण-सारांश यह कि, त्रिपादीमेंका कोईसा सूत्र और उसके पूर्वका दूसरा कोई सूत्र [अर्थात् वह सूत्र त्रिपादीमेंका हो चाहे सवासात अध्यायमेंका हो] ऐसे दो सूत्रोंके कार्य किसी प्रसंगमें प्राप्त होनेपर पहले पूर्व सूत्रका कार्य होगा, और फिर पर सूत्रके कार्यको जो अवकाश होगा तो ही उसका कार्य होगा, अवकाश न होगा तो वह कार्य वहां न होगा. परन्तु पूर्व सूत्रका कार्य होनेतक किसी प्रकारसे भी उसका कुछ बल नहीं रहेगा, उसी प्रकारसे वह पर सूत्र पूर्व सूत्रको नहीं दीखता, अर्थात् उस पर सूत्रका कार्य होनेके पश्चात् फिर अवकाश होतेहुए भी पूर्व सूत्रका कार्य्य नहीं होता, 'पूर्वत्रासिद्धम्' इसके कहनेका यह कारण है कि, सामान्यतः पूर्व सूत्रसे पर सूत्र श्रेष्ठ होता है, ऐसी व्यवस्था है, यह परिभाषा आगे १।४।२ / २६ सूत्रमें आवेगी, परन्तु यहां उसके विपरीत प्रकार होनेके कारण यह अधिकार सूत्र करना पडा । अधिकार नाम प्रकरणके आरंभका सूत्र, उस अधिकार सूत्रकी अनुवृत्ति उस प्रकरणके अन्ततक प्रत्येक सूत्रमें होती है, सूत्र छः प्रकारके होते हैं-

> संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।
> अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ॥

अर्थात् संज्ञासूत्र १, परिभाषासूत्र २, विधिसूत्र ३, नियमसूत्र ४, अतिदेश सूत्र ५ और अधिकारसूत्र ६, यह छः प्रकारके हैं । संज्ञा शब्दका अर्थ प्रारंभमें देचुके हैं, जिस सूत्रसे कोई संज्ञा कही है वह संज्ञा सूत्र है १ । कहेहुए शास्त्रकी योजना किस २ प्रकारसे करनी चाहिये इस विषयके सूत्र परिभाषा सूत्र कहातेहैं २ । जो कुछ सामान्य शास्त्र कहा हुआ होताहै उसको विधि कहतेहैं, वह विधि जिसमें हो उसे विधि सूत्र जानो ३ । विधि सूत्रसे जो शास्त्रार्थ उत्पन्न होताहै, उसकी मर्यादाको आकुञ्चन करनेवाले शास्त्रको नियम कहतेहैं ४ । अन्य सूत्रोंमेंके शास्त्रार्थको मर्यादामें और अधिक विषयके लानेको अतिदेश कहतेहैं, और वह जिसमें हो वह अतिदेशसूत्र कहाताहै ५ । अधिकारका अर्थ ऊपर कर ही चुकेहैं, जिस सूत्रमें कोई अधिकार कहा हुआ होताहै, उसे अधिकारसूत्र ६ जानो ।

बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकारका है-विवार १, संवार २, श्वास ३, नाद ४, घोष ५, अघोष ६, अल्पप्राण ७, महाप्राण ८, उदात्त ९, अनुदात्त १० और स्वरित ११ इन भेदोंसे । वर्गोंमेंके पहले चार वर्णोंके आगे किसी भी वर्गका पंचम वर्ण आवे तो बीचमें एक पूर्वसदृश वर्ण अवश्य आताहै, उसको प्रातिशाख्यमें यम कहाहै, उदाहरण जैसे पलिक्क्नीः, चख्ख्नतुः, अग्ग्निः, घ्घ्नन्ति, इन शब्दोंमें क, ख, ग, घ, इन वर्णोंके पश्चात् वही वही वर्ण जो फिर आये हैं उन्हीको यम कहाहै । खय नाम वर्गोंमेंके प्रथम और दूसरे (चतुर्दश सूत्रीसे समझमें आतेहैं) खय उन्हीके यम, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्ग, श, ष, स, इन सबोंके विवार (कंठविकाश), श्वास अघोष यह प्रयत्न जानने चाहिये । इतरोंके संवार (कंठसंकोच), नाद, घोष जानने चाहिये । वर्गोंके प्रथम, तृतीय, पंचम, और प्रथम तृतीय यम, और य, र, ल, व, यह अल्पप्राण जानो, इतर सबका महाप्राण प्रयत्न जानना चाहिये, यह प्रकार सरलतासे ध्यानमें रहनेके लिये "खयां यमाः" यह दो कारिका मूलमें दीहुई हैं, अर्थ ऊपर खोल ही दियाहै, परन्तु फिर भी स्पष्ट कियेदेते हैं, खयोंके यम, खय, ᳵक ᳶप, विसर्ग और शरप्रत्याहारके अक्षर यह श्वासप्रयत्नवान् अघोष और विवार (कण्ठविकाशकारी) प्रयत्नवान् हैं, और इनसे अन्य जो हैं वे घोष, संवार (कंठसंकोच) कारी और नाद प्रयतवान् हैं । वर्गों और यमोंके विषम स्थानके वर्ण तथा यण् प्रत्याहारके अक्षर अल्पप्राण प्रयत्नवाले और इतर[२] महाप्राण प्रयत्नवाले जानने । बाह्य प्रयत्न यद्यपि सवर्ण संज्ञामें अनुपयोगी है तथापि अतिशय सादृश्य जाननेके समय इनका अवश्य उपयोग होताहै, यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये । अब ऊपर कहेहुए स्पर्शादिका अर्थ कहतेहैं । क-से लेकर मकार पर्यन्त पांचों वर्गोंके अक्षर स्पर्श कहातेहैं । य, र, ल, व,

---

१ यहां मूलमें 'च' पढनेसे अच् वर्णोंका भी अल्पप्राण प्रयत्न है ॥
२ वर्गोंके दूसरे चौथे और शल् प्रत्याहारके वर्ण ।

यह अन्तस्थ । श, ष, स, ह यह ऊष्मा कहाते हैं, सब अच् स्वर कहातेहैं, जिह्वामूलीयका अर्थ कके पूर्वमें आनेवाले अर्ध विसर्गके समान है, वह ≍ क ऐसा लिखाजाता है, उपध्मानीयका अर्थ पके पहले आनेवाले अर्ध विसर्गके समान, वह ≍ प इस प्रकारसे लिखाजाताहै, अं और अः यह अनुस्वार ˗ और विसर्ग(:)स्वरोंके पश्चात् आनेवाले हैं इनमें ˗ को अनुस्वार और (:) को विसर्ग कहते हैं। इस प्रकार स्थान और प्रयत्नोंका विचार कियागया । इनके विशेष समझनेको स्थान प्रयत्नका कोष्ठक देखो ।

स्थानप्रयत्नबोधक कोष्ठ ।

स्थान	तत्सम्बन्धी अवयव	प्रयत्न											आभ्यन्तरप्रयत्न
		स्पृष्ट स्पर्श					ईषत्स्पृष्ट अन्तस्थ		विवृत — अर्धास्पृष्ट ऊष्म		विवृत — अस्पृष्ट स्वर	संवृत स्वर	
		विवार श्वास अघोष		संवार नाद घोष			संवार नाद घोष		विवार श्वास अघोष	संवार नाद घोष			
		अल्पप्राण	महाप्राण	अल्पप्राण	महाप्राण	अल्पप्राण		अल्पप्राण	महाप्राण	महाप्राण	उदात्त अनुदात्त स्वरित	उदात्त अनुदात्त स्वरित	बाह्यप्रयत्न
						अनुनासिक		अनुनासिक			अनुनासिक अननुनासिक	अनुनासिक अननुनासिक	नासिका कृतभेद
											ह्रस्व दीर्घ प्लुत	ह्रस्व	काल कृत भेद
कण्ठ	जिह्वामूल	क	ख	ग	घ	ङ			≍क	ह	अ १८	अ ६	
तालु	जिह्वामध्य	च	छ	ज	झ	ञ	य	यँ	श		इ १८		
मूर्धा	जिह्वोपाग्र	ट	ठ	ड	ढ	ण	र		ष		ऋ १८		
दन्त	जिह्वाग्र	त	थ	द	ध	न	ल	लँ	स		लृ १२		वर्ण
ओष्ठ	ओष्ठ	प	फ	ब	भ	म			≍प		उ १८		
दन्तोष्ठ							व	वँ					
कण्ठतालु											ए ६ ऐ ६		
कण्ठोष्ठ											ओ ६ औ ६		
नासिका													

ऋ और लृ यह वर्ण परस्पर सवर्ण जानने चाहिये (यह कात्यायनका वार्तिक है वार्तिककी पहचानके लिये इस ग्रन्थमें उसके आगे फूल * बनायाहै) । "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १।१।९/१०" इस सूत्रसे देखाजाय तो अ और ह इन दोनोंका, इ और श इन दोनोंका, ऋ और ष इन दोनोंका, लृ और स इन दोनोंका परस्पर सावर्ण्य प्राप्त हुआ तो—॥

१३ नाऽऽज्झलौ । १ । १ । १० ॥ आकारसहितोऽच् आच् स च हल् चेत्येतौ मिथः सवर्णौ न स्तः । तेन दधीत्यस्य हरति, शीतलम्, षष्ठम्, सान्द्रम्,–इत्येतेषु परेषु यणादिकं न । अन्यथा दीर्घादीनामिव हकारादीनामपि ग्रहणकशास्त्रबलादरुत्वं स्यात् ।तथाहि–॥

१३—आ और अच् मिलकर आच् । यह आच् और हल् परस्पर सवर्ण नहीं हैं, अर्थात् अ आ और ह इनका, ह्रस्व इ और श इनका, ह्रस्व ऋ और ष इनका, ह्रस्व लृ और स इनका परस्पर सावर्ण्य नहीं है, इसलिये दधि शब्दके आगे हरति, शीतलम्, षष्ठम्, सान्द्रम्, यह शब्द आवें तो संधिकार्य यणादिक नहीं होते । यह सूत्र न होता तो ग्रहणकशास्त्र

(" अणुदित्० १।१।६९ / १४ " सूत्र) के बलसे दीर्घादिकोंमें जैसे अच् इस शब्दकी प्रवृत्ति होती है वैसे ही हकारादिकोंमें भी प्रवृत्त होकर यहां भी संधिकार्य हुआहोता ।

विवरण–" तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् " इसमें स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न जिनके समान हों वे परस्पर सवर्ण हों ऐसा अर्थ है,उसमें अमुक वर्ण ऐसा निर्देश न होनेसे स्थान–प्रयत्नसे जितने समान वर्ण हैं वे सब अर्थात् दीर्घानुनासिकभेदसे उत्पन्न हुए भी परस्पर सवर्ण होते हैं, परन्तु " नाज्झलौ " इस निषेध सूत्रमें आ अच् और हल् यह स्पष्ट निर्देश होनेसे आ और माहेश्वर सूत्रोंमें अ से लेकर च् तक जो वर्णमात्र हैं, और ह से लेकर ल् तक जो वर्ण हैं, यह परस्पर सवर्ण नहीं ऐसा सिद्ध होताहै, इस कारण दीर्घ प्लुत ई ऋ वर्ण, वैसे ही प्लुत ऌ और प्लुत आ यह वर्ण अपने २ अनुनासिकादि भेदों सहित अनुक्रमसे श, ष, स, ह, इनके साथ सवर्ण हुएहैं । " नाज्झलौ " इस सूत्रसे उसका विषेध नहीं हुआ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये इस प्रकारसे कौन २ सा वर्ण किस २ वर्णका सवर्ण है, इसका निर्णय होगया । यणादिक संधिकार्य किसको कहते हैं यह आगे ६।१।७७ / ४७ से समझमें आवेगा। ग्रहणक शास्त्रका अर्थ एक वर्णके अन्तर्गत अन्य वर्णका समावेश करनेवाला शास्त्र, यह संज्ञा " अणुदित्० " इत्यादि सूत्रको प्राप्त है, तथाहि– ॥

१४ अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः । १ । १ । ६९ ॥

प्रतीयते विधीयत इति प्रत्ययः । अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात् । अत्राण् परेण णकारेण । कु–चु–टु–तु–पु एते उदितः । तदेवम्–अ इत्यष्टादशानां संज्ञा । तथेकारोकारौ । ऋकारस्त्रिंशतः । एवं ऌकारोऽपि । एचो द्वादशानाम् । एदैतोरोदौतोश्च न मिथः सावर्ण्यम्, ऐऔजितिसूत्रारम्भसामर्थ्यात् । तेनैचश्चतुर्विंशतेः संज्ञाः स्युरिति नापादनीयम् । नाज्झलाविति निषेधो यद्यप्याक्षरसमाम्नायिकानामेव, तथापि हकारस्याकारो न सवर्णः, तत्राकारस्यापि प्रश्लिष्टत्वात् । तेन विश्वपाभिरित्यत्र होढ इति ढत्वं न भवति । अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा । तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा ॥

१४–अमुक होना चाहिये वा अमुक योजना करनी चाहिये इस प्रकारके वर्णन करनेको उसका विधान करना कहतेहैं, प्रतीयते नाम जिसका विधान कियाजाताहै उसको प्रत्यय कहतेहैं, जिसका विधान नहीं ऐसा कोईसा अण् उसी प्रकार उत् (उ यह इत् जिसमें लगाया गया हो वह वर्ण) यह दोनों सवर्ण संज्ञावाले (सवर्णके ग्राहक) हों, अर्थात् "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" से सिद्ध किये हुए जो सवर्ण उनका ग्रहण होताहै, इस स्थानमें जो अण् लियागया है वह माहेश्वर सूत्रोंमें दूसरे णकारतक लेना चाहिये, और कु, चु, टु, तु, पु, यह उदित हैं इस कारण इनसे अनुक्रमसे कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, इनका बोध होताहै ।

विधानरहित अ लियाजाय तो उससे ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक और अननुनासिक इन भेदोंसे जो अठारह प्रकार होतेहैं, उन सबका ग्रहण होताहै, वैसे ही इकार और उकार इनसे अठारह २ प्रकारोंका ग्रहण होताहै। ऋके अठारह और ऌके बारह भेद मिलकर जो तीस भेद होतेहैं, उन सबोंका ऋसे और ऌसे भी ग्रहण होताहै, कारण कि, ऋ और ऌ यह सवर्ण हैं, एच् (ए, ओ, ऐ, औ) के बारह प्रकारोंका ग्रहण होताहै । ए ऐ तथा ओ औ, इनकी परस्पर सवर्णता नहीं है, यद्यपि इनका स्थान प्रयत्न समान हैं तो भी चतुर्दश सूत्रीमें " ऐऔच् " ऐसा पृथक् सूत्र करनेसे उनका सावर्ण्य न होना दिखलाया गयाहै, इस कारण ए ओ, ऐ औ, इन प्रत्येकसे चौवीस २ वर्णोंके ग्रहणकी शंका न करके बारह २ भेदोंका ही ग्रहण समझना चाहिये ।

विवरण–अ, इ, उ, ऋ, ऌ, इनके दीर्घादि वर्ण चतुर्दश सूत्रीमें पृथक् पृथक् न देकर इन्हीके अन्तर्गत दिखायेहैं, वैसे ही ऐ औ यह यदि ए ओ इनके सवर्ण होते तो यह ए ओ इनके ही अन्तर्गत ग्रहण करलिये जाते, और " ऐ औच् " इस पृथक् सूत्रनिर्माणका कुछ प्रयोजन न था, परन्तु पृथक् सूत्र दियागयाहै, इससे बोध होताहै कि, ए ऐ और ओ औ इनका परस्पर सावर्ण्य नहीं है ।

" तुल्यास्य० " सूत्रसे जिस सवर्णका निश्चय कियागया उसीका "अणुदित्० " इस सूत्रसे ग्रहण कियाजायगा, कारण कि, सवर्ण शब्दका पूरा निश्चय हुए विना इस सूत्रकी प्रवृत्ति नहीं होसकती, और " नाज्झलौ " सूत्रसे जो अच् हल् वर्ण चतुर्दशसूत्रीमें पढे गये हैं उन्हींकी सवर्ण संज्ञाका निषेध होताहै उनके दीर्घादि भेदोंकी सवर्णसंज्ञाका नहीं, क्योंकि ग्राहकसूत्रसे यह पहले ही पढा हुआ है ।

इसी सम्बन्धमें भाष्यमें संज्ञासिद्धिका ऐसा क्रम है–

१ आदौ उपदेशः (अर्थात् माहेश्वरसूत्र)

२ ततः इत्संज्ञा ("उपदेशे" और "हलन्त्यम्" इन सूत्रोंसे)

३ ततः प्रत्याहारः (" आदिरन्त्येन० " इस सूत्रसे)

४ ततः सवर्णसंज्ञा (" तुल्यास्यप्रयत्नम्" ("नाज्झलौ") इन सूत्रोंसे)

५ ततः सवर्णग्रहणम् ("अणुदित्सवर्णस्य" इस सूत्रसे)।

" नाज्झलौ " यह निषेध यद्यपि अक्षरसमाम्नायके ही वर्णोंमें मुख्यकर लगताहै, तथापि इसमें प्रश्लेष अर्थात् पदच्छेदसे आ अधिक लिये जानेसे आ और ह परस्पर सवर्ण नहीं हैं, यह बात पिछले सूत्रके व्याख्यानसे स्पष्ट है, जो 'आ' का प्रश्लेष न कियाजाय तो आ और हके सावर्ण्यका निषेध न हो इस कारण जो कार्य 'ह' को प्राप्त होताहै वही कार्य 'आ' कोभी प्राप्त होवे, उदाहरण–तृतीयाका बहुवचन भिस् प्रत्यय 'ह' के आगे आवै तो "हो ढः ८।२।३१ / ३२४ " सूत्रके अनुसार जैसे 'ह' के स्थानमें 'ढ' होताहै, इसी प्रकार

विश्वपा शब्दके अन्त्य आके आगे भिस् प्रत्यय है तो 'आ' के स्थानमें भी 'ढ' होने लगेगा, परंतु ऐसा रूप शास्त्रमें नहीं है इस कारण सूत्रकारका आशय जानकर ' आ ' का प्रश्लेष कियेजानेसे 'आ' और 'ह' इनका सावर्ण्य जातारहा, और विश्वपाभिः इसमें आके स्थानमें 'ढ' न होनेपाया, दीर्घ ईकारादिकोंका शकारादिकोंसे सावर्ण्य रहते भी कोई बाधा नहीं आती, और उनके सावर्ण्यका निषेध भी नहीं ॥

इसका ज्ञापक (अर्थात् सूत्रोच्चारण प्रमाण) "कालसमयवेलासु० $\frac{3।3।167}{3179}$" यह सूत्र है, क्योंकि, "आदेशप्रत्यययोः $\frac{8।3।59}{212}$" इस सूत्रमें ऐसा नियम है कि, इण् अथवा ककारके आगे आदेशस्वरूप किंवा प्रत्ययसम्बन्धी सकार आवे तो सकारके स्थानमें षकार होताहै, 'ह' यह इण् है इस कारण इकारके आगे उक्त प्रसंगी षकार हो, यही योग्य है, परंतु 'ह' और 'आ' यह सवर्ण कहेजांय तो 'आ' के आगे भी उक्त प्रसंगमें षकारकी अवश्य प्राप्ति होतीहै, तथापि 'कालसमयवेला०' इस सूत्रके अन्त्य 'आ' के आगे सु प्रत्ययमेंका सकार होतेहुए भी उसके स्थानमें षकार नहीं हुआ ऐसा सूत्रमें स्पष्ट दीखपडताहै, इसलिये आकार और हकार यह सवर्ण नहीं है । जहां दूसरा प्रमाण नहीं वहां ऐसा ज्ञापक प्रमाण लेतेहैं पीछे $\frac{1।1।71}{2}$ इसमें ऐसेही अनुनासिक इस शब्दका प्रमाण लियाहै ।

य, व, ल, इनके अनुनासिक और अननुनासिक यह दो २ भेद हैं, इस लिये इन प्रत्येकोंसे दो दोका बोध होताहै ।

अण्में रहनेवाले ह, र, इनको अनुनासिकत्व नहीं है ऐसा शिक्षा ग्रंथमें कहाहै ॥

१५ तपरस्तत्कालस्य ।१।१।७०॥

तः परो यस्मात्स च तात्परश्चोच्चार्यमाणसमकालस्यैव संज्ञा स्यात् । तेन अत्-इत्-उत्-इत्यादयः षण्णांषण्णां संज्ञाः । ऋदिति द्वादशानाम् ॥

१५-जिस वर्णके आगे वा पीछे त् यह वर्ण जोडागयाहै वह उच्चारणसमकालिक वर्णका ही बोधक होता है, इस कारण अत्, इत्, उत्, इनमें केवल ह्रस्व स्वरही होनेसे इनसे इनका समकालिक अर्थात् ह्रस्व वर्ण ही लेना चाहिये, दीर्घ, प्लुतोंका ग्रहण नहीं होता, स्वरभेद और अनुनासिकभेद इनसे जो छः भेद हैं, उनका ही केवल ग्रहण होताहै, इसी भांति सब स्वरोंका प्रकार जानना । ह्रस्वके स्थानमें ह्रस्व और दीर्घके स्थानमें दीर्घ लेना चाहिये । ऋ, ऌ की सवर्णता होनेसे ऋत्, ऌत् इन प्रत्येकोंसे बारह २ वर्णोंका बोध होताहै ॥

१६ वृद्धिरादैच् । १ । १ । १ ॥

आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात् ॥

१६-आ, ऐ, औ, इनकी वृद्धि संज्ञा है ।

यद्यपि अष्टाध्यायीमें यह प्रथम सूत्र है तो भी कौमुदीकारकी रचनाके अनुसार यह सोलहवां सूत्र हुए विना क्रमसे इसका पूरा अर्थ समझमें नहीं आता, यह बात सूत्रसे ध्यानमें आवेगी, यही सर्वत्र जानना ॥

१७ अदेङ्गुणः । १ । १ । २ ॥

अदेङ् च गुणसंज्ञः स्यात् ॥

१७-अ, ए, ओ, इनकी गुण संज्ञा है । इसमें अदेङ् इसकी गुण यह नई संज्ञा की है इस कारण जिसको नई संज्ञा की ऐसा अदेङ् उद्देश्य है वह पहले और गुण यह जो संज्ञा विधेय वह पीछे आया यह ठीकही हुआ, परन्तु "वृद्धिरादैच् $\frac{1।1।1}{16}$" इस सूत्रमें वृद्धि यह संज्ञा आदैच् इसको होती है तो भी "आदैज्वृद्धिः" ऐसा न कहनेमें यह हेतु है कि, यह सूत्र अष्टाध्यायीके आरंभका है, और 'वृद्धि' यह मंगलवाचक शब्द है इस कारण प्रारंभमें लायेहैं ऐसा जानना चाहिये ॥

१८ भूवादयो धातवः । १ । ३ । १ ॥

क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः ॥

१८-क्रियावाचक भूआदिक शब्दोंकी धातु संज्ञा है ।

व्याकरणमें जिनका वारंवार काम पड़ताहै ऐसे दूसरे और ग्रंथ हैं । जैसे-शिक्षा, गणपाठ, धातुपाठ, उणादिसूत्र, लिंगानुशासन और फिट्सूत्र । शिक्षामें वर्णोंकी उत्पत्ति और उच्चारण कहाहै, गणपाठमें अष्टाध्यायीके अनेक सूत्रोंमें वर्णन किये गये (सूचितकिये) शब्दसमुदाय दिये हैं उनको गण कहते है, धातुपाठमें संस्कृत भाषाके सब क्रियापदोंकी बीजस्थिति दिखाई है, उनको धातु कहते हैं, उणादिसूत्र कृदन्तप्रकरणके अंगभूत हैं, लिंगानुशासनमें शब्दोंके लिंगभेदका प्रतिपादन है, फिट्सूत्रोंमें वैदिक स्वरोंका निरूपण है, इनमेंसे धातुपाठ, लिङ्गानुशासन, उणादि और फिट्सूत्र इनको कौमुदीकार अपने ग्रंथमें लाये हैं, शिक्षामें केवल अवश्यभाग स्थान प्रयत्न प्रकरणमें आया ही है, गणपाठ के कितनेही गण कौमुदीमें आयेही हैं तो भी सब नहीं आये । गणपाठ, धातुपाठ, अष्टाध्यायी और लिङ्गानुशासन, यह चार ग्रन्थ पाणिनिके बनाये हुए हैं, शिक्षा किसी पाणिनिके अनुयायीने बनाई है, उणादिसूत्र शाकटायनकृत हैं, और फिट्सूत्र शान्तनवाचार्यने रचे हैं ।

धातुपाठमें 'भू सत्तायाम्' यह धातु दी है, इस कारण भ्वादयो धातवः ऐसा कहना उचित था, तथापि 'वा गतिगन्धनयोः' ऐसा उसीमेंका एक धातु डालकर "भूवादयो धातवः" ऐसा सूत्र लिखनेका कारण यह है कि, भू इससे केवल उस वर्गका बोध हुआ परन्तु 'वा' से तत्सदृश क्रियावाचकका बोध होताहै ॥

१९ प्राग्रीश्वरान्निपाताः ।१।४।५६॥

इत्यधिकृत्य ॥

१९-यह अधिकार सूत्र है । 'ईश्वरशब्दात्प्राक् निपाताः स्युः' अर्थात् इस सूत्रसे आगे और "अधिरीश्वरे $\frac{1।4।97}{644}$" इस सूत्रके ईश्वर शब्दसे पहले जो शब्द एकतालीस सूत्रोंमें कहेगये हैं उनकी निपात संज्ञा है ॥

२० चादयोऽसत्त्वे । १ । ४ । ५७ ॥

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपातसंज्ञाः स्युः ॥

२०–च, वा, ह, इत्यादि बहत्तर शब्दोंका १।१।३७/४४७ इस सूत्रमें कथित गण अव्यय प्रकरणमें दियाहै, उसमें लिङ्ग संख्यादिका भेद नहीं है उनसे वस्तुओंका बोध नहीं होता, इस कारण उनको अद्रव्यार्थ कहते हैं अर्थात् अद्रव्य अर्थवाले चादिकोंकी निपात संज्ञा है ॥

२१ प्रादयः । १ । ४ । ५८ ॥

अद्रव्यार्थाः प्रादयस्तथा ॥

२१–प्र, परा,–इत्यादि बाइस शब्दोंका जो प्रादिगण है उसमेंके शब्द भी अद्रव्यार्थ हैं इस कारण उनकी निपात संज्ञा है, इनकी व्याख्या अगले सूत्रमें है ॥

२२ उपसर्गाः क्रियायोगे।१।४।५९॥

२३ गतिश्च । १ । ४ । ६० ॥

प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञा गतिसंज्ञाश्च स्युः । प्र परा अप सम् अनु अव निस् निर् दुस् दुर् वि आङ् नि अधि अपि अति सु उद् अभि प्रति परि उप एते प्रादयः ॥

२२–२३–प्र आदि शब्द क्रियापदमें जोडे गये हों तो उनकी उपसर्ग और गति संज्ञा होती है । प्रादि स्पष्ट हैं "गतिश्च" इसमें चकारका ग्रहण उपसर्ग संज्ञाके समावेशके निमित्त है, नहीं तो "आ कडारादेका संज्ञा १।४।१/२३२" इससे पर्याय होजाता अर्थात् कभी गतिसंज्ञा कभी उपसर्गसंज्ञा होती । इसका फल तो 'प्रणेयम्' इत्यादिमें "उपसर्गादसमासे–" इस सूत्रसे णत्व हुआ अर्थात् यदि (च) न कहते तो 'आ कडारात्' इस सूत्रसे इस प्र की केवल गति संज्ञा ही मानी जाती तो णकार न होता कारण कि णकार उपसर्ग मान कर होताहै और गतिसंज्ञाके कारण "गतिकारक०" से पूर्वोक्त उदाहरणमें कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर भी होताहै इस कारण उपसर्ग और गति दोनोंके लिये चकारका समावेश कियाहै ॥

२४ नवेति विभाषा । १ । १ । ४४ ॥

निषेधविकल्पयोर्विभाषा संज्ञा स्यात् ॥

२४–विभाषा इस संज्ञासे निषेध और विकल्प इन दोनोंका बोध होताहै, यहां 'न इति' और 'वा इति' ऐसा अर्थ है, न इति का अर्थ निषेध और वा इति का अर्थ विकल्प जानो, अगले १।१।६८/२५ सूत्रसे न वा इन्हीं शब्दोंके रूप नहीं लेना, यह बात दिखानेके लिये इति शब्द आगे लायेहैं, न और वा इनकी क्रमसे निषेध और विकल्प अर्थोंमें स्वतंत्रता है ।

विभाषा तीन प्रकारकी होती है–प्राप्तविभाषा, अप्राप्तविभाषा और उभयत्र (प्राप्ताऽप्राप्त) विभाषा । जहां सामान्य शास्त्रसे किसी प्रसंगमें कोई कार्य प्राप्त होकर एकरूप सिद्ध होतेहुए मतभेदसे विशेष शास्त्रसे वह कार्य न होकर दूसरा ही एक अलग रूप बन जाय वहां प्राप्तविभाषा कही जाती है, जैसे ६।१।९२/७७ में । और सामान्य शास्त्रसे एकरूप सिद्ध होतेहुए मतभेद करके विशेष शास्त्रसे कुछ अधिक कार्य होकर जहां औ रही एक अलग रूप सिद्ध होताहै वहां अप्राप्तविभाषा हुई कहतेहैं, जैसे ८।३।२९/१३१ सूत्रमें । जब प्राप्तिके प्रसंगमें उसके निषेधयुक्त पाक्षिक रूप और अप्राप्तिके प्रसंगमें उसकी प्राप्तिका पाक्षिक रूप ऐसे दोनों प्रसंगोंमें एक ही शास्त्रसे अधिक रूप सिद्ध होतेहैं वहां उभयत्रविभाषा कहते हैं जैसे ६।१।१३०/६९ सूत्र देखो ॥

२५ स्वं रूपं शब्दस्याऽशब्दसंज्ञा । १ । १ । ६८ ॥

शब्दस्य स्वं रूपं संज्ञि शब्दशास्त्रे या संज्ञा तां विना ॥

२५–व्याकरणमें कोईसा शब्द मुखसे उच्चारण किया तो उससे उसी शब्दके उसी रूपका बोध होताहै, उसके अर्थका अथवा उसी अर्थके दूसरे शब्दका बोध नहीं होता, परंतु शब्द (व्याकरण) शास्त्रसम्बंधिनी जो संज्ञा है, उसकी वैसी बात नहीं होती, वह संज्ञा जिसकी होतीहै उसीका उस संज्ञासे बोध होताहै ।

उदाहरण–गृह शब्द जो आवे तो सचमुच गृह शब्दका अर्थ पत्थर, चूना, लकडी इत्यादिसे बनाया हुआ ऐसा ध्यानमें न लाना चाहिये अथवा गृहके स्थानमें सदन आगार इत्यादि इन सभी अर्थोंके शब्दोंका प्रयोग भी कार्यके योग्य नहीं, केवल जो गृहको कहे तो वहां 'गृह' यही शब्द लिया जायगा; परंतु वृद्धि, गुण, ह्रस्व, दीर्घ,–इत्यादि जो व्याकरणकी संज्ञा हैं उनसे वही २ शब्द नहीं लिये जांयगे किन्तु वृद्धिसे आ, ऐ, औ इत्यादि लेने होंगे ।

यहां 'अशब्दसंज्ञा' इस शब्दसे शब्दशास्त्रकी संज्ञाको छोडकर ऐसा अर्थ करना चाहिये जिसकी कोई संज्ञा की हो वह संज्ञी कहाताहै । स्पष्ट यह कि जैसे "अग्नेर्ढक् ४।२।३३/१२३६" इस सूत्रसे अग्नि शब्दके उत्तरही ढक् प्रत्यय होताहै (आग्नेयम्), अग्निवाचक अनल वा शुचि शब्दोंसे ढक् नहीं होता, अशब्दसंज्ञाका उदाहरण यह कि "उपसर्गे घोः किः ३।३।९२/३२७०" इस सूत्रके द्वारा घुसंज्ञक (दा और धा) धातुके उत्तर कि प्रत्यय हो किन्तु घु शब्दके उत्तर न हो कारण कि यह व्याकरणकी संज्ञामात्र है ॥

२६ येन विधिस्तदन्तस्य ।१।१।७२॥

विशेषणं तदन्तस्य संज्ञा स्यात्स्वस्य च रूपस्य ॥ समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः ॥ * ॥ उगिद्वर्णग्रहणवर्जम् ॥ * ॥

२६–जिस विशेषणके निमित्त कोई विधि कही हुई होती है, वह विशेषण उसके अन्तकी संज्ञा होताहै अर्थात् वह विशेषण जिस वर्णसमुदायके अन्तभागमें हो उस सब समुदायको वह उक्त कार्य होताहै ।

उदाहरण–कृदन्त प्रकरणमें "एरच् ३।३।५६/३२३१" इसमें 'इ' धातुको अ प्रत्यय लगकर नाम उत्पन्न होताहै ऐसा कहा

है, परंतु 'इ' यह 'धातु' इसका विशेषण है इस कारण इसका अर्थ इकारान्त धातुओंको अ प्रत्यय लगानेसे नाम होता है ऐसा समझना चाहिये, इस कारण 'चि, जि' इत्यादि धातुओंको वह प्रत्यय लगकर 'चयः, जयः' इत्यादि नाम सिद्ध होतेहैं, सिद्धिका प्रकार आगे आवेगा।

स्वस्य च रूपस्य—अपने रूपकी भी वह संज्ञा होतीहै, ऊपरके सूत्रोंमेंकी 'इ' लेकर स्वतः 'इ' धातुका भी बोध होताहै इस कारण उसका अय ऐसा रूप बनकर 'प्रति' इस उपसर्गके योगसे प्रति अय 'प्रत्यय' ऐसा रूप होताहै।

जिस विशेषणके निमित्त समासोंका वा प्रत्ययोंका विधान होताहै उससे उसके अन्तका बोध नहीं होता।

जैसे "द्वितीयाश्रितातीत० २।१।२४/६८६ इत्यादि सूत्रसे श्रित इत्यादि पद आगे रहते वे पूर्व शब्दोंसे मिलकर 'कृष्णं श्रितः कृष्णश्रितः' इत्यादि प्रकारसे द्वितीयातत्पुरुष समास होत है परंतु श्रित इत्यादि पद जिनके अन्तमें हों ऐसे परमश्रित इत्यादि पद आगे रहते 'कृष्णं परमश्रितः' इत्यादि वाक्योंमें समास नहीं होता ऐसाही वाक्य रहताहै, "अग्नेर्ढक् ४।२।३३/१२७६" इस सूत्रसे अग्निशब्दसे ढक् (एय) प्रत्यय होके 'आग्नेय' ऐसा शब्द सिद्ध होताहै परन्तु अग्नि शब्द जिनके अन्तमें है ऐसे परमाग्नि इत्यादि शब्दोंसे ढक् प्रत्यय नहीं होता।

प्रत्ययविधानमें विशेषणसे तदन्तका ग्रहण नहीं होता यह सत्य है तो भी जहां उगित् यह शब्द सूत्रमें हो अथवा किसी एक वर्णका उच्चारण कियागया हो वहां तदन्तका ग्रहण होताहै जैसे भवतु (भवत्) यह सर्वनाम है इसमें उ यह उक् प्रत्याहारमेंका वर्ण इत् है इस कारण "उगितश्च ४।१।६/४५५" इससे उसमें ङीप् प्रत्यय लगाकर 'भवती' ऐसा स्त्रीलिंग शब्द बनताहै, वैसेही अतिभवत् इस तदन्त शब्दसे 'अतिभवती' ऐसा शब्दभी सिद्ध होताहै।

"अत इञ् ४।१।९५/१०९५" इससे अशब्दसे अपत्यार्थमें इ प्रत्यय होकर 'इ' ऐसा रूप होताहै उसी प्रकारसे दक्ष इस अदन्त शब्दसे वही प्रत्यय होनेसे 'दाक्षिः' ऐसा रूप होताहै॥

२७ विरामोऽवसानम् ।१।४।११०॥

वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात्॥

२७—किसी भी वर्णके अनन्तर जो अन्य वर्णका अभाव है, उसकी अवसान संज्ञा है॥

२८ परः संनिकर्षः संहिता ।१।४।१०९॥

वर्णानामतिशयितः संनिधिः संहितासंज्ञः स्यात्॥

२८—परका अर्थ अत्यन्त, वर्णोंकी जो अत्यन्त समीपता (स्वाभाविक अर्धमात्राके उच्चारण कालसे अधिक कालका व्यवधान न होना) उसको संहिता कहतेहैं॥

२९ सुप्तिङन्तं पदम् ।१।४।१४॥

सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात्॥

२९—सुप्का अर्थ नामविभक्ति प्रत्यय ४।१।२/१८३ और तिङ्का अर्थ धातुविभक्ति प्रत्यय ३।४।७८/२१५८ यह जिसके अन्तमें हों वे क्रमसे सुबन्त और तिङन्त जानने चाहियें, उन दोनोंकी पद संज्ञा है।

यहां अन्तका ग्रहण, अन्यत्र संज्ञाविधिमें प्रत्यय ग्रहणमें तदन्तका ग्रहण नहीं होता यह दिखानेको है, इससे "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" इससे द्विवचनान्तको प्रगृह्य संज्ञा नहीं हुई, नहीं तो 'कुमार्योरगारं कुमार्यगारम्' यहां प्रकृतिभाव होजाता॥

३० हलोऽनन्तराः संयोगः ।१।१।७॥

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः॥

३०—बीचमें अच लाकर जो हल् अलग नहीं किये गये उनकी संयोग संज्ञा है अर्थात् दो वा अधिक व्यञ्जनोंके समुच्चयको संयोग कहतेहैं॥

३१ ह्रस्वं लघु ।१।४।१०॥

३२ संयोगे गुरु ।१।४।११॥

संयोगे परे ह्रस्वं गुरुसंज्ञं स्यात्॥

३१—ह्रस्व अक्षरकी लघु संज्ञा है। जैसे 'दधि' इस शब्दमेंके 'अ' और 'इ' यह दोनों वर्ण ह्रस्व हैं इस कारण इनको लघुसंज्ञक जानना चाहिये॥

३२—आगे संयोग हो तो ह्रस्वकी भी गुरु संज्ञा होतीहै। यथा 'विष्णु' इस शब्दमें 'ष्णु' यह संयोग आगे होनेके कारण पहले 'वि' मेंकी 'इ' ह्रस्व है तो भी उसकी गुरु संज्ञा होतीहै॥

३३ दीर्घं च ।१।४।१२॥

दीर्घं च गुरुसंज्ञं स्यात्॥

॥ इति संज्ञाप्रकरणम्॥

३३—दीर्घ अक्षर भी गुरु जानना चाहिये। यथा 'रामः' इसमें 'रा' में 'आ' दीर्घ है इस कारण यह भी गुरु है॥

इति संज्ञाप्रकरणम्।

अथ परिभाषाप्रकरणम्।

३४ इको गुणवृद्धी ।१।१।३॥

गुणवृद्धिशब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी विधीयेते तत्रेक इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते॥

३४—यहां "वृद्धिरादैच्" "अदेङ् गुणः" इन सूत्रोंसे गुण, वृद्धि पदकी अनुवृत्ति करके ऐसा अर्थ करते हैं कि गुण वृद्धि शब्द करके जहां गुण वृद्धिका विधान हो वहां 'इ, उ, ऋ, लृ, इन वर्णोंके स्थानमें' ऐसे अर्थका 'इकः' यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित होताहै, आशय यह कि जहां यह न बताया गया हो कि किसके स्थानमें गुण, वृद्धि होंगी वहां इक्के स्थानमें होंगी ऐसा जानना, यथा "मिदेर्गुणः"

१ इस प्रकरणमें संधिकार्योपयोगिनी संज्ञा आगई हैं यह न समझना कि सब ही संज्ञा आगई हैं॥

७।३।८२/२।३४६ ,, मिद् धातुको गुण हो तो इसमें ऐसा जानना कि मिद् धातुकी जो ' इ ' उसको गुण हो, ऐसे ही " मृजेर्वृद्धिः ७।२।१४" इसमें मृज्की ऋ इक् है तो इसके ही स्थानमें वृद्धि होतीहै ऐसा जानो ।

इकः जो अनुकरणवाचक शब्द है उसका यहां सम्बन्ध नहीं है,यह बात दिखानेके निमित्त षष्ठ्यन्त ऐसा कहा है । और जहाँ गुण वृद्धि यह शब्द न आकर गुण वृद्धिसंज्ञक " अ ए ओ, आ ऐ औ " इन वर्णोंका साक्षात् विधान हो तो वहां इकः यह पद नहीं लिया जायगा, यह दिखानेको 'गुण वृद्धि शब्दकरके जहां गुण वृद्धिका विधान हो ' ऐसा कहाहै, और जहां स्थानी निर्दिष्ट नहीं है उसी स्थानमें यह विधि लगती है, स्थानी निर्दिष्ट होनेपर नहीं लगती, यथा " सार्वधातुकार्द्धधातुकयोः ७।३।८४" इत्यादि सूत्रोंमें साक्षात् स्थानी निर्दिष्ट न होनेसे इक्के स्थानमें हो ऐसा जानना * ॥

३५ अचश्च । १ । २ । २८ ॥

ह्रस्वदीर्घप्लुतशब्दैर्यत्राज्विधीयते तत्राऽच इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते ॥

३५-ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, ऐसे स्पष्ट शब्दोंकी योजना करके जहां ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत इनका विधान हो वहां ' अचोंके स्थानमें हो ' ऐसे अर्थका ' अचः ' यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित होताहै, जहां ह्रस्व, दीर्घ वा प्लुत ऐसा शब्द नहीं रहता यह सूत्र वहां नहीं लगता ।

अचस् जो एक अनुकरणवाचक शब्द, उसका यहां कुछ सम्बन्ध नहीं यह दिखानेके लिये ' ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत ' यह शब्द लायेहैं, यथा " ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य १।२।४७/३१८ ,, इसमें प्रातिपदिकको नपुंसक लिंगमें ह्रस्व होताहै ऐसा अर्थ है

* (प्र०) "इको गुण०" इस सूत्रमें इक्का ग्रहण क्यों किया ? (उत्तर) इक् ग्रहण न करेंगे तो अनिक्को भी होगा, अर्थात् दीर्घ आकार, संधिके अक्षर (ए, ऐ, ओ, औ) और व्यंजन इनको भी गुण होजायगा. यथा याता यहां आकारको भी गुण होजायगा, ग्लायति इसमें संधिके अक्षर ऐको भी गुण होगा [ग्लै]। और उम्भितुम् इसमें व्यञ्जनको भी गुण होजायगा । (प्रश्न) यह कहना ठीक नहीं कि इक् ग्रहण न करें तो आकारको गुण होजायगा, इक् ग्रहण न करें तो भी आकारको गुण नहीं होता, यह आचार्योंकी वृत्तिसे विदित है, "आतोऽनुपसर्गे कः ३।२।३/२९१५ ,, इसमें कित् ग्रहण इस निमित्त है कि कित्परे रहते आकारका लोप हो, यदि आकारको गुण हो तो कित् ग्रहण व्यर्थ पडता है, इससे आकारको गुण नहीं होता, यदि कहो कि इस सूत्रमें कित् ग्रहण उत्तरके निमित्त है तो भी "गापोष्टक् २/२९२२ ,, इस सूत्रमें तो अनन्यार्थ है । विधान सामर्थ्यसे संधिके अक्षरोंको भी गुण नहीं होसकता, और व्यंजनको भी गुण नहीं होसकता कारण कि "सप्तम्यां जनेर्डः ३।२।९७/३००७ ,, इस सूत्रमें डित्करण इस निमित्त है कि टिका लोप हो, यदि व्यंजनको गुण होगा तो डित् ग्रहण व्यर्थ होगा, कारण कि आन्तर्यसे नकारको अकार गुण होगा, और उसका पररूप होजायगा, मन्दुरजः इत्यादि प्रयोग बन जायँगे. इस कारण सूत्रमें इक्ग्रहण व्यर्थ ही है । (उत्तर) इक्ग्रहण केवल व्यंजनके निमित्त है गम् धातुसे अ-प्रत्यय करनेपर मकारको ओकार प्राप्त होताहै, इस कारण इक्ग्रहण उचित ही है ॥

तथापि उससे उसका अन्त्य १।१।५२/४२ अच्के स्थानमें ह्रस्व होताहै ऐसा जानना चाहिये यथा ' श्रीपम् ' ।

" शमामष्टानां दीर्घः श्यनि ७।३।७४/२५१९ ,, इसमें शम्प्रभृति आठ धातुओंको श्यन् (य) विकरण कालमें १।१।६९/२५०५ से दीर्घ होताहै ऐसा कहाहै इससे शम् इत्यादिकोंमेंके ' अ ' इस अच्के स्थानमें दीर्घ होताहै ऐसा जानना चाहिये ॥

३६ आद्यन्तौ टकितौ । १ । १ । ४६ ॥

टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः ॥

३६-किसी एक शब्दको कहाहुआ आगम टित् अर्थात् जिसके सूचनार्थ ट् यह इत् जोडा गयाहै ऐसा हो तो वह आगम उस शब्दका आद्यावयव होताहै अर्थात् उस शब्दके पूर्वभागमें वह लगताहै । वैसेही कित् अर्थात् जिसमें क यह इत् जोडा गया हो वह आगम जिस शब्दको कहागयाहो उसका अन्त्य अवयव होताहै अर्थात् वह उसके अन्त्य भागको लगताहै ।

यथा 'षट् सन्तः' इस प्रयोगमें "ङः सि धुट् ८।३।२९/१३१ ,, इससे संधि होनेसे उसमेंके सकारको विकल्प करके धुट् (ध्) का आगम होताहै, परंतु धुट्में टकार इत् होनेसे वह आगम उस सकारका आद्य अवयव होकर षड् ध् सन्तः ऐसा हुआ फिर दूसरे नियमोंसे 'षट्त्सन्तः' ऐसा रूप होताहै सो आगे लिखेंगे ।

इसी प्रकार 'सन् शम्भुः' में "शि तुक् ८।३।३१/१३३ ,, इससे संधि होनेके कारण उसके नकारको तुक् (त्) आगम होताहै परंतु यहां क् इत् होनेसे ऐसा जानना चाहिये कि वह आगम उस नकारका अन्त्य अवयव होकर ' सन्त् शम्भुः ' ऐसा रूप होताहै फिर और सूत्रोंसे आगे लिखे अनुसार 'सञ्छम्भुः' रूप बनताहै ।

उच्चारणके निमित्त ट् न लिखकर ट लिखाहै ऐसा आगे बहुत स्थानोंमें आवेगा । शब्दके असली अवयवको प्रकृति कहतेहैं, पदसिद्धिके निमित्त प्रकृतिके अनेक रूपान्तर होतेहैं, कभी कुछ अधिक वर्ण भी लगतेहैं, कभी एकको हटाकर उसके स्थानमें दूसरे वर्ण लातेहैं, कभी कुछ वर्ण सब ही मिट जातेहैं ।

अर्थविशेष दिखानेके निमित्त प्रकृतिके आगे जो वर्ण लगतेहैं वे प्रत्यय कहातेहैं, प्रकृति वा प्रत्यय इनकी पदसिद्धिके निमित्त जो विशेष वर्ण लगतेहैं, उनको आगम कहतेहैं । वर्णोंको मिकालकर उनके स्थानमें जो दूसरे वर्ण लायेजातेहैं उनको आदेश कहतेहैं, आगमसे अन्य वर्णका नाश नहीं होता, आदेशसे होताहै, इस कारण-मित्रवत् आगमः, शत्रुवत् आदेशः, ऐसा कहाजाताहै ।

वर्णका मिटजाना इसका अर्थ पहले कहाहै और फिर उसका न दीखपडना इसको लोप ("अदर्शनं लोपः १।१।६०/५३ ,,) कहतेहैं, पीछे १४ सूत्रमें प्रत्यय शब्दका जो अर्थ लिया गयाहै वह यहां भीहै, तो भी उसमें और इसमें थोडासा भेद है यह सहजमें ध्यानमें आसकताहै ॥

३७ मिदचोन्त्यात्परः । १ । १ । ४७ ॥

अच इति निर्धारणे षष्ठी । अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात्परस्तस्यैवान्तावयवो मित्स्यात् ॥

३७–मित् जिसमें मकार इत् है ऐसा कोईसा आगम किसी शब्दको कहागया हो तो वह उस शब्दके अन्त्य स्वरका अन्त्य अवयव होगा और जो अन्त्य स्वरके आगे कोई हल् हो तो भी उसको एक ओर निकालकर बीचमें आप रहैगा, अचोंमेंसे अन्त्य अच् छांटनेवाली 'अचः' यह 'निर्धारण' अर्थमें षष्ठी है ।

यथा पच् धातुसे पचत् (पकानेवाला) ऐसा शब्द होताहै इससे स्त्रीलिंगमें ङीप् प्रत्यय होनेपर "शप्श्यनोर्नित्यम् ७।१।८१;; ४४६ इससे नुम् (न्) का आगम होताहै ऐसा नियम है, परन्तु नुम्‌मेंका मकार जो इत् है इससे ऐसा बोध होताहै कि न् यह आगम पचत् इसके अन्त्य अच्के पीछे आकर स्त्रीवाचक (ई) प्रत्ययके साथ पचन्ती (पकानेवाली) ऐसा शब्द सिद्ध होताहै ॥

३८ षष्ठी स्थानेयोगा । १ । १ । ४९ ॥

अनिर्धारितसंबन्धविशेषा षष्ठी स्थानेयोगा बोध्या । स्थानं च प्रसङ्गः ॥

३८–सूत्रोंमें षष्ठीकी योजना कीहुई है तो भी जब उसके सम्बन्धी शब्दकी पहचान स्पष्ट नहीं है अर्थात् जिसका संबंधी शब्द आगे न हो तब उस षष्ठ्यन्त शब्दके स्थान अर्थात् प्रसंगमें ऐसा उस षष्ठीका अर्थ लेना चाहिये (४२ सूत्र देखो) आशय यह कि जिस षष्ठीका कोई सम्बन्ध विशेष निर्दिष्ट नहीं है, वह षष्ठी 'स्थानेयोगा' जाननी चाहिये, स्थानका अर्थ प्रसंग है प्रसंगके स्थानमें जिसका योग हो उसीका स्थानमें योग है ।

उदाहरण–"इको यणचि ४७" अच् आगे रहते इक्‌को यण् हो ऐसा शास्त्र है, उसमें 'इकः यण् अचि' ऐसे शब्द हैं और इकः (इक्‌का) यह षष्ठी है परन्तु इस षष्ठीका कोई सम्बन्ध निश्चित नहीं है, इस लिये इस षष्ठीसे ऐसा अर्थ लेना चाहिये कि इक्‌के स्थान नाम प्रसंगमें यण् हो ॥

३९ स्थानेऽन्तरतमः । १ । १ । ५० ॥

प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात् । यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः ॥

३९–प्रसंग होनेपर प्राप्त होनेवाले आदेशोंके मध्यमें स्थान व प्रयत्न करके अतिशय सदृश आदेश हो, अर्थात् किसी एक स्थानीके प्रसंगमें एकसे अधिक आदेशोंकी प्राप्तिके कारणसे वहां कौनसा आदेश लेना यह शंका हुई तो स्थानी वर्णसे अति सदृश अर्थात् अतिशय समान वर्ण जो उसमें मिलै वह लेना चाहिये, जहां अनेक प्रकारका आन्तर्य (सादृश्य) दीखै वहां स्थानसम्बन्धी सादृश्यका बल विशेष जानना चाहिये ॥

४० तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य । १ । १ । ६६ ॥

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम् ॥

४०–सप्तमी निर्देशके द्वारा जिसका विधान हुआहो ऐसा कार्य सप्तमी विभक्त्यन्त पदके वर्णान्तराव्यवहित पूर्वको ही जानना अर्थात् 'अमुक पर होते हुए' इस अर्थके पदका उच्चारण कर जो कुछ कार्य कहाहो उससे वह व्यवधानरहित पूर्व अर्थात् पिछले अति निकटवर्ती वर्णको होताहै * ।

४१ तस्मादित्युत्तरस्य । १ । १ । ६७ ॥

पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम् ॥

४१–पञ्चमीनिर्देश (अमुकसे आगे इस प्रकार पंचम्यन्त शब्दका उच्चारण) कर जो कार्यविधान किया हो तो उसके आगेका अति निकट जो वर्ण उसको वह उक्तकार्य होगा ऐसा अर्थ लेना चाहिये ।

---

१ निर्धारणका अर्थ चुनलेना है । षष्ठी शब्दसे षष्ठी विभक्ति लो इसका प्रकरण आगे आवैगा । 'मित् अन्त्यात् अचः परः' नाम सित् यह अन्त्य अच्के उपरान्त लगताहै, इतनाही अर्थ बहुत था ऐसा समझ कर अचः यह पंचमी होनेसे भी कुछ बाधा नहीं पडती ऐसा पहले दीखताहै, परन्तु पञ्चमीका कार्य दूसरा है वह ४१ सूत्रमें जानेगे वह यहां ठीक नहीं लगता. दूसरी बात यह कि षष्ठी किये विना वह मित् आगम मूल शब्दका अवयव नहीं होसकता ॥

२ और जहां सम्बन्धविशेष निर्धारित होगा वहां ऐसा न होगा, "ऊदुपधाया गोहः ६ । ४ । ८९" "शास इदङ्हलोः ६ । ४ । ३४" इत्यादि सूत्रोंमें उपधाके सन्निधानसे अवयव षष्ठी निर्दिष्ट है इस कारणसे 'गोहः' 'शासः' इस स्थलमें षष्ठी 'स्थानेयोगा' न होगी ॥

१ आन्तर्य (सादृश्य) चार प्रकारके होतेहैं, स्थानतः, अर्थतः, गुणतः और प्रमाणतः । १ स्थानतःका अर्थ स्थानसे, यथा क ख ग घ ङ अ ह इन सबका स्थान कंठ है, इससे इनका स्थानतः सादृश्य है । २ क्रोष्टु और क्रोष्ट्र इन शृगालवाची दोनों शब्दोंका अर्थसे सादृश्य है । ३ गुणका अर्थ प्रयत्न है, ह और घ इन दोनों वर्णोंका संवार नाद घोष महाप्राण प्रयत्न है इस कारण यहाँ गुणतः सादृश्य है । ४ प्रमाणका अर्थ उच्चारणकाल आदि है इससे ह्रस्व ह्रस्वका और दीर्घ दीर्घका प्रमाणतः सादृश्य है ।

क्रमसे उदाहरण–१ 'दधि + अत्र=दध्यत्र' इस स्थलमें इकारके स्थानमें यकार हुआ क्योंकि दोनोंका ही उच्चारणस्थान तालु है । २ 'वातण्डयुवतिः' इस स्थलमें अर्थकी सदृशता है अतः वतण्डी शब्दके स्थानमें वातण्ड्य आदेश हुआ । ३ 'वाक्+हरिः=वाग्घरिः' इस स्थलमें घोष, नाद, महाप्राण, संवार हकारके स्थानमें उसी प्रकारके गुणोंसे युक्त घकार हुआ । ४ 'अमुम्, अमू' इत्यादि स्थलमें ह्रस्व और दीर्घके स्थानमें "अदसोसेर्दादु दो मः ८।२।८० ४१९" से क्रमसे ह्रस्व और दीर्घ उकार हुए हैं ॥

* "इको यणचि ४७" इसका अर्थ यह कि अच् पर होते इक् को यण् हो, पर यहां यण्का विधान करते हुए 'अचि' ऐसे सप्तम्यन्त पदकी योजना की है, इससे जानना चाहिये कि जो अव्यवहित पूर्व (बीचमें अन्य वर्ण न होकर पीछे जो अतिनिकट) इक् हो उसीके स्थान में यण् होगा, इस कारण ४७ सूत्रसे 'सुधी, उपास्यः' इसकी संधि करनेमें 'उ' यह अच् आगे है इस कारण उसका अव्यवहित पूर्व जो इवर्ण उसके स्थानमें 'य' यह यण् होकर 'सुध्युपास्यः' ऐसा रूप होनेवाला है, व्यवधानरहितका कारण यह कि जहां व्यवधान हो वहां यण् न हो, यथा–'अग्निचित्+अत्र=अग्निचिदत्र' यहां तकारके व्यवधानसे अच् परे रहते 'चि' के इकारके स्थानमें यकार न हुआ

उदाहरण–" उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ८।४।६१/११८ " ' उद् इसके आगे स्था और स्तम्भ इनको पूर्वसवर्ण आदेश होताहै ' ऐसा शास्त्र कहताहै, पर वह कहां होताहै ? तो ' उदः ' यह पंचमी है, इस कारण ऐसा जानना चाहिये कि उद् इसका अव्यवहित पर (अगला अति निकट) जो स्था वा स्तम्भ शब्द उसको वह आदेश होताहै । उद्के आगे अस्थात् ऐसा स्थासे बनाहुआ रूप आया है, तो बीचमें अ यह व्यवधान होनेसे पूर्वसवर्ण नहीं होगा " आदेः परस्य १।१।५४/४४ " सूत्र देखो ॥

४२ अलोन्त्यस्य । १ । १ । ५२॥

षष्ठीनिर्दिष्टस्यान्त्यस्याल आदेशः स्यात् ॥

४२–षष्ठ्यन्त शब्दकी योजना करके जो आदेश हो वह उस शब्दके प्रसंगमें ३८ के अनुसार होता तो है परन्तु वह उस सम्पूर्ण शब्दका नाश करके उसके स्थानमें होताहै, ऐसा नहीं है, वह केवल उसके अन्त्य अल् (वर्ण) का नाश करके उतनेहीके स्थानमें होताहै अर्थात् षष्ठीसे दिखाया आदेश अन्त्य अल्को हो ।

उदाहरण–" त्यदादीनामः ७।२।१०२/२६५ " अर्थात् त्यद् इत्यादि दश शब्दोंके आगे विभक्ति होनेपर ' अ ' आदेश होताहै ऐसा शास्त्रमें कहाहै, परन्तु वह आदेश ४२ सूत्रसे उस शब्दके अन्त्य अल्के स्थानमें होताहै ऐसा जानना-चाहिये, इस कारण ' द्वि ' ऐसा जो त्यदादिमेंका शब्द उसके अन्त्य इकारके स्थानमें अ होकर द्व ऐसा रूप हुआ । आगे विभक्ति–प्रत्यय लगकर द्वौ, द्वाभ्याम् इत्यादि रूप सिद्ध हुए हैं, यह बात और है ॥

४३ ङिच्च । १ । १ । ५३ ॥

अयमप्यन्त्यस्यैव स्यात्।सर्वस्येत्यस्यापवादः॥

४३–ङित् (जिस आदेशमें ङकार इत् जोडा हो वह) आदेश भी अन्त्य अल्के ही स्थानमें होताहै । यह " अनेकाल्शित् सर्वस्य ४५ " सूत्रका अपवाद अर्थात् विशेष है ।

उदाहरण–" अवङ् स्फोटायनस्य ६।१।१२३/८८ " से आगे अच् रहते पदके अन्तमें गो शब्दको स्फोटायन ऋषिके मतमें अवङ् (अव) आदेश होताहै इसमेंके ङकारसे ऐसा जानना चाहिये कि यह अव आदेश गो शब्दके अन्त्य अल् ओको होताहै, इससे गो+अग्रम् की संधि करनेसे गव + अग्रम्=पीछे ८५ से गवाग्रम् होताहै ॥

४४ आदेः परस्य । १ । १ । ५४ ॥

परस्य यद्विहितं तत्तस्यादेर्बोध्यम् । अलोन्त्यस्येत्यस्यापवादः ॥

४४–किसी शब्दके अनन्तर आनेवाले पर अर्थात् आगेके शब्दको कोई कार्य कहागयाहो तो वह कार्य उस पर शब्दके आदिके (अर्थात् पहलेके) वर्णको होताहै ऐसा जानना चाहिये । यह ' अलोन्त्यस्य ४२ ' सूत्रका अपवाद है इसीसे अल्की अनुवृत्ति आती है ।

उदाहरण–ऊपर " अलोन्त्यस्य ४२ " के प्रसंगमें "उदः स्थास्तम्भोः " यह सूत्र आयाहै, वहां उद्के आगे स्था और स्तम्भ इनको पूर्वसवर्ण आदेश होताहै ऐसा शास्त्र है परन्तु उदके आगेका ऐसा कहनेसे यह जानना चाहिये कि यह आदेश स्था और स्तम्भ इनका प्रथम वर्ण जो सकार उसीके स्थानमें होनेसे ' उत्थानम्, उत्तम्भनम् ' इत्यादि रूप होतेहैं सम्पूर्ण शब्दके स्थानमें आदेश नहीं होता ॥

४५ अनेकाल्शित्सर्वस्य।१।१।५५॥

स्पष्टम् । अलोन्त्यसूत्रापवादः । अष्टाभ्य औशित्यादावादेः परस्येत्येतदपि परत्वादनेन बाध्यते ॥

४५–अनेकाल् (जिसमें एकसे अधिक वर्ण हों) किंवा शित् (जिसमें शकार इत् जोडागया हो) ऐसा कोई आदेश जिस शब्दको कहा हो तो उस सम्पूर्ण शब्दका नाश करके उसके स्थानमें उक्त आदेश: होगा " अलोन्त्यस्य ४२ " सूत्रका यह अपवाद है ॥ अष्टन् इस शब्दके आगे आनेवाले प्रथमा द्वितीयाके बहुवचन सम्बन्धी अस् प्रत्ययको औश् (औ) ऐसा शित् ७।१।२१/३७२ आदेश कहाहै, इस कारण औश् अस् ४।१।२/१०३ इस प्रत्ययमेंके दोनों वर्णोंका नाश करके उसके स्थानमें होताहै पर " आदेः परस्य ४४ " इस सूत्रसे केवल ' अ ' इस प्रथम वर्णको ही आदेश होकर शेष रहे हुए सकार सहित औस् ऐसा प्रत्ययका रूप जो बने तो भी नहीं होता ' औ ' ऐसा ही होता है, इसका कारण यह कि " अनेकाल्शित् सर्वस्य १।१।५५/४५ " यह सूत्र "आदेः परस्य १।१।५४/४४ " इस सूत्रके अनन्तरका है इस कारण इस सूत्रका बाधक होताहै (केवल अनेकाल् जैसे " अतो भिस ऐस् ७।१।९/२०३ "इसमें अनेकाल् है इससे भिस्के सम्पूर्ण अवयवके स्थानमें ऐस् हुआ) अनन्तर आनेवाला सूत्र पूर्वसूत्रसे बलवान् होताहै ऐसा नियम अगले सूत्रमें कहा जायगा ॥

४६ स्वरितेनाधिकारः । १ । ३ । ११ ॥

स्वरितत्वयुक्तं शब्दस्वरूपमधिकृतं बोध्यम् ॥ परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः ॥ असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥ अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः । निमित्तं विनाशोन्मुखं दृष्ट्वा तत्प्रयुक्तं कार्यं न कुर्वन्तीत्यर्थः ॥

॥ इति परिभाषाप्रकरणम् ॥

४६–सूत्रमें जो शब्द स्वरितयुक्त है वह अधिकृत जानना चाहिये अर्थात् वह अधिकार है, अगले सूत्रमें उसकी अनुवृत्ति करै ।

---

१ किसी सूत्रमें अच्कोही होनेवाला १।२।३१/७ इस सूत्रमें आया हुआ स्वरित और है, और यह स्वरित अच् हल् साधारण है यह सम्पूर्ण शब्दको होताहै, तथापि अनुनासिक १।३।२/३ इतके सदृश इस स्वरितको भी सूत्रमें लिखकर दिखानेकी शैली नहीं है अतः इसको व्याख्यानसे ही जानना चाहिये, और यह अधिकार कहांतक चलता है यह स्पष्ट न हो तो भी व्याख्यानसे जानना चाहिये ।

यहांतक जो परिभाषा आई हैं वे सब सूत्रपाठमेंकी हैं, और अगली तीन परिभाषा कितने एक सूत्रोंका आशय देखकर वैया–

(परि०) पर, नित्य, अन्तरङ्ग और अपवाद इनमें क्रमसे एक एक उत्तरोत्तर बली हैं अर्थात् अष्टाध्यायीमें सामान्यतासे त्रिपादीको छोड़कर अन्यत्र हर किसी भी पूर्व शास्त्रसे पर शास्त्रको बलवान् समझना चाहिये, परन्तु पूर्व सूत्रका कार्य जो नित्य होनेवाला हो तो वह पूर्वमें होते हुए भी पर शास्त्रसे बलवान् होताहै, फिर नित्य कार्य होतेहुए भी वह जो अन्य शब्दके सान्निध्य (निकट) होनेसे अथवा प्रत्ययके निमित्तसे होनेवाला हो तो उससे शब्दमेंके अंगके वर्णोंके निमित्तसे होनेवाला कार्य बलवान् जानना, और अपवाद शास्त्र इन सबसे बलवान् समझो, जो बलवान् होताहै उसका कार्य सबसे प्रथम होताहै, शास्त्रका अर्थ नियम वा सूत्र है । यथा–'तुदति' इस स्थलमें परवर्ती "पुगन्तलघूपधस्य च ७ । ३ । ८६" सूत्रको बाधकर नित्यत्वके कारण "तुदादिभ्यः शः ३ । १ । ७७" इस सूत्रसे 'श' प्रत्यय हुआ ॥ परसे अन्तरंग बलवान् है, यथा–'उभये देवमनुष्याः' इस स्थलमें परवर्ती "प्रथमचरम० १।१।३३/२२६" इस सूत्रसे विकल्पको बाध कर अन्तरङ्ग "सर्वादीनि० १।१।२७/२१३" सूत्रसे सर्वनाम संज्ञा होकर 'उभये' पद सिद्ध हुआ, परसे अपवाद बलवान् है, यथा–'दध्ना' इस स्थलमें परवर्ती "अस्थिदधि० ७।१।७५/३२२" से दधिको अनङ् आदेश होताहै तो परवर्ती "अनेकाल्शित् सर्वस्य १।१।५५/४५" सूत्रको बाधकर "ङिच्च १।१।५३/४३" इस अपवाद सूत्रसे अन्त्यादेश होताहै ॥ नित्यसे अन्तरंग बलवान् है, यथा 'ग्रामणिनी कुले' इस स्थलमें ग्रामणी शब्दको "इकोऽचि विभक्तौ ७।१।७३/३२०" इस सूत्रोक्त नित्य नुम्को बाधकर "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य १।२।४७/३१८" इस सूत्रसे पहले ह्रस्व होकर फिर नुम् हुआ, पहले नुम् करनेपर अजन्तत्व न रहनेसे ह्रस्व न होता ॥ अन्तरंगसे अपवाद बलवान् है, यथा–'दैत्यारिः' इस स्थलमें परवर्ती सवर्ण दीर्घ ६।१।१०१/८५ को बाधकर अन्तरंगत्वहेतुसे "आद् गुणः ६।१।८७/६९" की प्रवृत्ति होतीहै, परंतु अपवादके कारण सवर्णदीर्घ ही होताहै ॥

(परि०) अन्तरंग कार्य कर्त्तव्य रहते बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होताहै, अन्तरंग यह है कि प्रकृतिआदि निमित्तोंके समुदायमें जिस कार्यके उपकारी अवयव दूसरे कार्यकी अपेक्षासे समीप वा न्यून हों, बहिरंग वह है कि प्रकृति प्रत्यय वर्ण और पदके समुदायमें जिस कार्यके उपकारी अवयव दूसरे कार्यकी अपेक्षासे दूर वा अधिक हों, यथा–'पचावेदम्, पचामिदम्' यहां लोट्के उत्तम पुरुषके एकारको "एत ऐ ३।४।९३" सूत्रसे ऐकारादेश प्राप्त है सो ऐत्व अन्तरंगकी दृष्टिमें "आद् गुणः ६।१।८७" सूत्रसे हुआ गुण बहिरंग होनेसे असिद्ध है, इस कारण वहां एकारही नहीं तो ऐकार किसको हो ॥

(परि०) पाणिनिके मतानुरोधसे चलनेवाले वैयाकरण व्यर्थ तर्क नहीं करते अर्थात् कहीं किसी निमित्तसे कुछ कार्य होना सत्य है परन्तु जो उस निमित्तका ही आगे नाश होनेवाला हो तो उस निमित्तका कार्य वह नहीं करते ऐसा उनका सिद्धान्त है, यथा 'निषेदुषीम्' इत्यादि स्थलमें क्सु प्रत्ययको "आर्धधातुकस्येड् वलादेः ७।२।३५" से इट् प्राप्त होने पर भी "वसोः सम्प्रसारणम् ६।४।१३१" सूत्रसे सम्प्रसारण होनेपर इट्का निमित्त वलादित्व नष्ट होजावेगा यह विचार कर इट् नहीं करते ॥

इति परिभाषाप्रकरणम् ।

अथाच्सन्धिप्रकरणम् ।

सन्धिप्रकरण पढनेके पहले नीचे लिखी हुई बातोंको भले प्रकार ध्यानमें रखना चाहिये ।

१–'क' अक्षरमें क् और अ यह दो वर्ण हैं, 'का' में क् आ, 'कि' में क् इ, 'की' में क् ई, 'कु' में क् उ, 'क्य' में क् य् अ, 'द्यौः' में द् य् औः, 'क्ष' में क् ष् अ, 'ज्ञा' ज् ञ् आ, इत्यादि ।

२–'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' । स्वरहीन वर्ण (व्यंजन) अगले वर्णसे जोडना चाहिये, यथा क् अ मिलकर क, क् आ मिलकर का, श् र् ई मिलकर श्री, स् त् र् अ मिलकर स्त्र इत्यादि ।

३–पिछेले लिखे प्रत्याहार भले प्रकार ध्यानमें रखने चाहिये ।

४–संधिका अर्थ संहिता (२८ देखो) संहिता कब करै इसका नियम पीछे ८।४।१८/२२३२ सूत्रकी व्याख्यामें आवेगा । वह यह कि–

"संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥"

अर्थात् एक पदमें सर्व वर्ण, धातु, उपसर्ग, समासमेंके सब पद इन तीन प्रसंगोंमें संहिता अवश्य करनी चाहिये परन्तु वाक्योंके पृथक् २ शब्दोंमें बोलनेवालेकी इच्छा है कि वह संधि करै अथवा न करै, जब संहिता करनी होती है, तभी आगेके नियम लगाये जासकते हैं सन्धिके सूत्रोंमें संहिताका नियम होताहै ॥

४७ इको यणचि । ६ । १ । ७७ ॥

इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये । सुधी उपास्य इति स्थिते । स्थानत आन्तर्यादीकारस्य यकारः । सुध्य् उपास्य इति जाते ॥

४७–जब कार्य और निमित्तकी अत्यन्त निकटता विवक्षित हो अर्थात् संहिताके विषयमें इक्के स्थानमें यण् हो अच् परे रहते, यथा–

सुधीभिः उपास्यः (बुद्धिमानोंसे पूजनीय) इसका समास करनेपर समासके नियमानुसार विभक्तिप्रत्यय आकर सुधी+ उपास्यः ऐसी स्थिति हुई, तब सुधीके अन्तकी ई और उपास्यका प्रथम वर्ण उ यह दो वर्ण एकत्र होनेसे संहिता प्राप्त हुई, यहां उ अच् आगे आनेसे ई इस इक्के स्थानमें

–करणोंकी लिखी हुई हैं, ऐसी और परिभाषा भी हैं जो प्रसंगसे लिखी जांयगी परिभाषा जहां आवेंगी वहां (परि०) शब्द सूचनार्थ लिखेंगे ॥

यण् होताहै, परन्तु यण् कहनेसे य् व् र् ल् यह चार वर्ण हुए, इस कारण स्थानवाले ३९ सूत्रसे साहश्य देखा जाय तो ई से य् यण् मिलताहै, कारण कि यह दोनों तालव्य हैं इस कारण ईके स्थानमें य् हुआ तब सु ध् य् उपास्यः (सध्युपास्यः) ऐसा रूप हुआ* ॥

(द्वित्वप्रकरणम्) ।

४८ अनचि च । ८ । ४ । ४७ ॥

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि । इति धकारस्य द्वित्वम् ॥

४८-जो अच्के आगे यर् (हकार रको छोडकर कोई हल्) आवै और फिर उसके आगे अच् न हो तो उस यर्को विकल्पसे द्वित्व होताहै, इस कारण सु ध् य् उपास्यः इसमें ध् को द्वित्व होकर सु ध् ध् य् उपास्यः ऐसी एक और स्थिति प्राप्त हुई "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८।४।४५" इससे 'यरः' और 'वा' की तथा "अचो रहाभ्यां द्वे ८।४।४६" से 'द्वे' की अनुवृत्ति आती है ॥ (अब शंका और समाधान-) ।

४९ स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ । १ । १ । ५६ ॥

आदेशः स्थानिवत्स्यान्न तु स्थान्यलाश्रयविधौ । अनेनेह यकारस्य स्थानिवद्भावेनाऽच्त्वमाश्रित्याऽनचीति द्वित्वनिषेधो न शंक्योऽनल्विधाविति तन्निषेधात् ॥

४९-आदेश स्थानीके तुल्य होताहै अर्थात् स्थानी रहते जो कार्य होताहै वह आदेश होनेपर भी होताहै, परन्तु जो स्थानी अल् अर्थात् एक वर्ण हो और उसके आश्रयसे कार्य होता हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता, आशय यह कि ऐसे प्रसंगमें स्थानीके रहनेसे होनेवाला कार्य आदेश होनेपर नहीं होता, इस कारण यहां, यकारको स्थानिवद्भाव करके अच् मानकर उसके निमित्तसे "अनचि च ८।४।४७/४८" इससे धकारके द्वित्वको बाध आताहै, ऐसी शंका न करनी, कारण कि 'अनल्विधौ' अर्थात् अल्के आश्रयसे कुछ विधान होते आदेश स्थानिवत् नहीं होता ऐसा सूत्रमें ही उस विषयका निषेध है, अर्थात् धकारके द्वित्वको बाध नहीं आता.

विशेष विवरण-स्थानी उसको कहते हैं जो प्रथम तो हो पीछे न रहै, और आदेश उसको कहते हैं जो प्रथम न हो पीछे होजावै । जो एकके तुल्य दूसरेको मानके कोई काम करनाहै उसको अतिदेश कहते हैं, स्थानी और आदेशके पृथक् २ होनेसे स्थानीका कार्य आदेशसे नहीं निकल सकता, इसलियें आदेशको स्थानिवद्भाव करते हैं, जैसे रामाय यहां ङेको य आदेश होनेपरभी स्थानिवद्भावसे सुप्त्व आताहै, अत एव "सुपि च ७।३।१०२/२०२" से दीर्घ होताहै । यहां वत्करण इसलिये है कि संज्ञाधिकारमें यह परिभाषासूत्र पढा है, सो आदेशकी स्थानी संज्ञा न होजावै, न तो आदेशप्रयुक्तकार्य न होंगे । आदेशग्रहण इसलिये है कि आदेशमात्र स्थानिवत् होजावै, जैसे 'भवतु' यहां इकारके स्थानमें उकार हुआहै, उसके स्थानिवत् होनेसे ही पदसंज्ञा आदि कार्य होतेहैं । अनल्विधिग्रहण इस लिये है कि, अल्विधिमें स्थानिवद्भाव न हो, अल्विधि शब्दमें कईप्रकारका समास होताहै यथा अल् करके जो विधि, अलसे परे जो विधि, अल्की जो विधि, अल् पर रहते जो विधि, करनी हो वहां स्थानिवद्भाव न हो, अल् करके जो विधि वहां स्थानिवत् न हो, यथा-'व्यूढोरस्केन, महोरस्केन' यहां विसर्जनीयके स्थानमें सकारादेश हुआहै उसको यदि स्थानिवत् मानें तो विसर्जनीय जो अयोगवाहोंमें प्रसिद्ध है उसका अट् प्रत्याहारमें पाठ मानकर नकारको णकारादेश प्राप्त है सो होजाय । अलसे परे विधि यथा-'द्यौः' यहां दिव् शब्दके वकारको औकारादेश हुआहै, इस हल् वकारसे परे सु-विभक्तिका लोप "हल्ङ्याब्भ्यो० ६।१।६९/२५२" सूत्रसे प्राप्त है सो नहीं होता, कारण कि यहां हलसे परे सु नहीं है । अल्की जो विधि 'द्युकामः' यहां दिव शब्दके वकारको उकारादेश हुआहै, सो जो स्थानिवत् माना जाय तो उस वकारका लोप "लोपो व्योर्वलि ६।१।६६" इस सूत्रसे होजाय । अल्पर रहते जो विधि 'क इष्टः' यहां यकारके स्थानमें इकार संप्रसारण हुआ है सो जो स्थानिवत् माना जाय तो 'हशि च १६६" इस सूत्रसे उत्व होजाय, इत्यादि इस सूत्रका महान् विषय है, विशेष महाभाष्यमें देखलेना ॥

५० अचः परस्मिन्पूर्वविधौ । १ । १ । ५७ ॥

अल्विध्यर्थमिदम् । परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत्स्यात् स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्तव्ये । इति यणः स्थानिवद्भावे प्राप्ते ॥

५०-(शंका-) अल्विधिमें स्थानिवद्भाव नहीं होता यह ४९ से स्पष्ट है । कहां अल्विधिमें भी स्थानिवद्भाव होताहै । इसके लिये यह सूत्र है । स्थानी अच् होते उसके पूर्वमें रहनेवाले वर्णके सम्बन्धका कुछ कार्य करना हो तो उस अच्को पर वर्णके निमित्तसे जो आदेश हो वह स्थानिवत् होताहै अर्थात् ऐसे प्रसंगमें अच् रहते उसके पूर्व वर्णको जो कार्य होताहै वह आदेशकालमें (आदेश होनेपर) भी होताहै ।

यहां स्थानी ई यह जो अच् है उसके पूर्वमें रहनेवाले धकारको द्वित्व करना है, इससे इस प्रसंगमें ईके स्थानमें अगले उकारके निमित्तसे जो यकार हुआ उसको इस आधारसे स्थानिवद्भाव कर अच्त्व प्राप्त हुआ, अच्प्रत्वके कारणसे "अनचि च" सूत्रकी फिर प्राप्ति न होनेसे धकारके द्वित्वमें निषेध आताहै ऐसी शंका प्राप्त हुई ।

विशेष विवरण-जिस अच्के स्थानमें पर वर्णको निमित्त मानके आदेश हुआ हो और उसके पूर्वकी विधि करना हो

* आगे अच् रहते इक्के स्थानमें यण् आदेश होताहै इस कारण अणका विधान है, वैसे इक् अच् इनका विधान नहीं तो अविधीयमान जो इक् अच् उनके "अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः १।१।६९/१४" इस सूत्रसे दीर्घानुनासिकादि भेदोंका भी ग्रहण होताहै इससे सुधी उपास्यः इसमेंके धी अक्षरको दीर्घ ईकारान्त होते हुए भी यहां "इको यणचि ४७" इस सूत्रसे यण् हुआ, इसीप्रकार और-स्थानोंमें भी जानना, परन्तु विधीयमान जो अगला यण् उसमें उनके सवर्ण अनुनासिकका किसीप्रकार भी ग्रहण नहीं होता, इस रके सूत्रके प्लुत प्रगृह्यादि बाधक हैं, इनका विचार ९० से ११० तक प्रकृतिभाव संधिप्रकरणमें होगा ॥

तो अच्के स्थानमें जो आदेश है वह स्थानिवत् होजावै । पूर्व सूत्रसे अल्विधिमें स्थानिवद्भावका निषेध कियाहै परन्तु उसी विषयमें इस सूत्रसे स्थानिवद्भावका विधान है, इस कारण यह सूत्र उसका अपवाद है । अच्ग्रहण इस लिये है कि हल् के स्थानमें जो आदेश हो वह स्थानिवद्भाव न हो, जैसे 'आगत्य' यहां जो मकारका लोप हुआ है उसको स्थानिवत् माने तो तुक् का आगम न होवै। परस्मिन्ग्रहण इस निमित्त है कि जहां परनिमित्त अच्को आदेश न हो वहां स्थानिवद्भाव न हो, यथा 'आदीध्ये' यहां जो इट् प्रत्ययको एकारादेश होताहै, वह परनिमित्त नहीं है, उसको यदि स्थानिवत् मानै तो दीधी धातुके ईकारका लोप "यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः ७।४।५३/२४८८" से होजाय सो नहीं होता। पूर्वविधिग्रहण इस कारण है कि जहां पर विधि कर्तव्य हो वहां स्थानिवद्भाव न हो, जैसे--'नैधेयः' यह जब डुधाञ् धातुके आकारका लोप कित् प्रत्ययके परे होताहै तब निधिशब्द बनताहै उस आकारको यदि स्थानिवत् मानै तो द्व्यच् प्रातिपदिकाश्रित जो ढक् प्रत्यय होता है वह न होसकै परन्तु विधि वही है कि प्रातिपदिकके आगे प्रत्यय होताहै। (ऊपरकी शंकाका समाधान)–

५१ न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु १।१।५८

पदस्य चरमावयवे द्विर्वचनादौ च कर्तव्ये परनिमित्तोऽजादेशो न स्थानिवत् । इति स्थानिवद्भावनिषेधः ॥

५१–पदका अन्त अवयव, वैसेही द्विर्वचन अर्थात् द्वित्व, वरे, यलोप (यकारका लोप), स्वर, सवर्ण, अनुस्वार, दीर्घ, जश् , चर इन विधियोंके करनेमें जो परको निमित्त मानकर अच्को आदेश होताहै वह स्थानिवत् नहीं होता, जो पूर्व सूत्रसे स्थानिवद्भाव होताहै उसका यह नियत स्थानोंमें निषेधक है इस कारण इसमेंके द्विर्वचन इस शब्दसे स्थानिवद्भावका निषेध हुआ अर्थात् धकारको द्वित्व हुआ तब सु धॖ् धॖ् यॖ् उपास्यः ऐसी स्थिति हुई ॥

५२ झलां जश् झशि ।८।४।५३॥

स्पष्टम् । इति धकारस्य दकारः ॥

५२–झश् परे रहते झल्के स्थानमें जश् होताहै । इससे आगे धकार रहते पूर्वधकारके स्थानमें दकार हुआ, तब सु द् ध् य् उपास्यः रूप हुआ । यहां (यकारके लोपकी शंका)–

५३ अदर्शनं लोपः । १ । १ । ६०॥

प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात् ॥

५३–प्राप्त वर्णके अदर्शन (नहीं दीखने) को लोप कहतेहैं अर्थात् दृष्टिगोचर वर्णके मिटजानेका नाम लोप है यह भी और आदेशोंके समान आदेश है ॥

५४ संयोगान्तस्य लोपः ।८।२।२३॥

संयोगान्तं यत्पदं तदन्तस्य लोपः स्यात् । इति यलोपे प्राप्ते ॥ यणः प्रतिषेधो वाच्यः ॥*॥ यणो मयो द्वे वाच्ये ॥ * ॥ मय इति पञ्चमी यण इति षष्ठीति पक्षे यकारस्यापि द्वित्वम् । तदिह धकारयकारयोर्द्वित्वविकल्पाच्चत्वारि रूपाणि । एकधमेकयम् । द्विधं द्वियम् । द्विधमेकयम् । एकधं द्वियम् । सुद्ध्युपास्यः । मद्ध्वरिः । धात्त्रंशः । लाकृतिः ॥

५४–जिस पदके अन्तमें संयोग हो उसको संयोगान्त पद कहतेहैं, उसके अन्त्य वर्णका लोप होताहै । इसके अनु-

१ इनके उदाहरण आगे समझमें आवेंगे तथापि यहां पतेसहित संक्षेप लिखतेहैं । पदान्त "लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९/६७" द्विर्वचन १।१।५८/५१ वरे "यश्च यङः ३।२।१७६/२९८३" यलोप ३।२।१७६/२९८३ स्वर ६।१।१९३/३६७६ सवर्ण ६।४।२३/२५४४ शिष्लृधातु । अनुस्वार ६।४।२३/२५४४ दीर्घ ८।२।२७/२३६९ जश् २।४।३९/२३९८ चर् । २।४।४०/२४२४ ।

पदान्तविधि–'कौ स्तः' यहां अस् धातुके अकारका लोप परको मानकर हुआहै, उसको स्थानिवत् मानकर जो आवादेश प्राप्त है, सो नहीं होता । द्विर्वचनका उदाहरण यहां है ही । वरेविधि जो वरच् प्रत्ययके परे लोप होताहै, वहां स्थानिवद्भाव न हो, यथा–'यायावरः' जो यहां अकारका लोप परनिमित्त हुआहै उसके स्थानिवत होनेसे आकारका लोप "आतो लोप इटि च" से प्राप्त है सो न हुआ । यलोपमें 'यातिः' इसमें यङन्तसे क्तिन् फिर "अतो लोपः" अकारका लोप फिर (लोपो व्योर्वलि) यलोप हुआ । अल्लोपको स्थानिवत् होनेसे आकारका लोप हुआ, फिर यकारका हुआ । यहां आकारलोपके स्थानिवद्भावसे यलोप नहीं प्राप्त होताथा सो होगया । स्वरविधि–'चिकीर्षकः' यहां ण्वुल् प्रत्ययके परे चिकीर्ष धातुके–अकारका लोप होताहै, उसको स्थानिवत् माननेसे लित् प्रत्ययसे पूर्व (की) में उदात्त स्वर इष्ट है, सो नहीं होसकताथा सो यहां होगया । सवर्णविधि–'शिण्ढि' यहां श्नम् प्रत्ययके अकारका लोप हुआ, स्थानिवत् न माना गया । वा रुन्धः यहां श्नम् प्रत्ययके अकारका लोप हुआहै, उसके स्थानिवत् होनेसे धकारके परे अनुस्वारको परसवर्ण अर्थात् नकारादेश नहीं पाताथा सो हुआ । अनुस्वारविधि–'शिंषन्ति' यहां श्नम् प्रत्ययके अकारका लोप हुआ है उसके स्थानिवत् होनेसे नकारको अनुस्वार नहीं प्राप्त होताथा सो होगया । दीर्घविधि–'प्रतिदीव्ना, प्रतिदीवे' यहां प्रतिदिवन् शब्दके अकारका लोप हुआ । 'हलि च' से दीर्घ करनेमें वकारका लोप स्थानिवत् होनेसे दीर्घ नहीं पाता था सो होगया । जश्विधि–'सग्धिः'–यहां घस् धातुके अकारका लोप हुआ उसके स्थानिवत् होनेसे घकारको गकार नहीं पाता था सो होगया अदनं विधः अद् से क्तिन् "बहुलं छन्दसि" से घस्लृ आदेश "घसिभसोर्हलि" से उपधालोप, "झलो झलि" से सकारका लोप "झषस्तथोः०" से तको ध "झलां जश् झशि"से जश्त्वके कर्तव्यमें उपधालोप स्थानिवत् न हुआ । चर्विधि–'जक्षतुः' यहां भी घस् धातुके अकारका लोप हुआहै, उसके स्थानिवत् होनेसे घकारको ककारादेश नहीं प्राप्त होताथा सो होगया ॥ * ॥

* तथापि संयोगादिलोप, लत्व, णत्व,–स्थल छोडकर 'पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्' अर्थात् त्रिपादीके सूत्रोंमें स्थानिवद्भावकी प्राप्ति नहीं होती ऐसी परिभाषा है "अनचि च ८।४।४७" सूत्र त्रिपादीका है इस कारण सुध्युपास्यः इस उदाहरणमें स्थानिवद्भाव नहीं होता इस कारण यहां 'न पदान्त' इत्यादि यह प्रस्तुत सूत्र नहीं होता तो भी कार्य होजाता ऐसा वैयाकरण कहतेहैं ।

सार सुद्ध्य् इसके अन्त यकारका लोप प्राप्त है परन्तु* संयोगान्तमें 'यण् हो तो लोप नहीं होता' (वा० ४८०६) इससे यकारका लोप न हुआ।

अब यकारको भी द्वित्व कहतेहैं,* यहां कार्यके अनुरोधसे 'मयः' इसमें पंचमी और 'यणः' इसमें षष्ठी विभक्ति ऐसा पक्ष लियाहै इससे मयके आगे यण् आवे तो उस यणको द्वित्व होताहै (वा० ५०१८) ऐसा पक्ष होनेपर यकारको विकल्प करके द्वित्व हुआ। इस प्रकारसे धकार और यकार दोनोंको विकल्पसे द्वित्व करनेसे चार रूप हुए। एक ध् एक य्, दो ध् दो य्, दो ध् एक य्, एक ध् दो य्, यह चार रूप हुए। सुध्युपास्यः। सुद्ध्य्युपास्यः। सुद्ध्युपास्यः। सुध्य्युपास्यः। (पण्डितोंसे उपासनीय)। इसी प्रकार मधु+अरिः-मध्वरिः (मधु नामा दैत्यके शत्रु) (विष्णु)। धातृ+अंशः-धात्रंशः (ब्रह्माका अंश)। लृ+आकृतिः-लाकृतिः (लृकारकी आकृति) रूप जानो। मध्वरिः इसमें भी धकार वकारके द्वित्वसे चार रूप होंगे। धात्रंशः इसका धात्त्रंशः केवल यही ८।४।४६/५९ रूप होगा। लाकृतिमें अन्यरूपकी प्राप्ति नहीं है। (यणो मये द्वे वाच्ये) इसमें यण्में पंचमी और मयमें षष्ठी ऐसा पक्षभी आगे ७१ सूत्रमें लियाहै, यहां कार्यानुरोधसे ऐसा अर्थ कियाहै और भी द्वित्वके सूत्र प्रसंगसे कहतेहैं-

५५नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य ।८।४।४८॥

पुत्रशब्दस्य न द्वे स्तः आदिनीशब्दे परे आक्रोशे गम्यमाने। पुत्रादिनी त्वमसि पापे। आक्रोशे किम्। तत्त्वकथने द्विर्वचनं भवत्येव। पुत्त्रादिनी सर्पिणी॥ तत्परे च ॥❀॥ पुत्रपुत्रादिनी त्वमसि पापे॥ वा हतजग्धयोः ॥❀॥ पुत्त्रहती। पुत्रहती। पुत्त्रजग्धी। पुत्रजग्धी॥

५५-आदिनी (खानेवाली) यह शब्द आगे रहते गालीका अर्थ हो तो पुत्र शब्दमेंके अच्के आगेका जो यर् उसको द्वित्व नहीं होता। पुत्रादिनी त्वमसि पापे (हे पापिनी! तू बच्चे खानेवाली है)। गालीका अर्थ हो ऐसा क्यों कहा? सत्यभाषणमें द्वित्व होता ही है, यथा-पुत्त्रादिनी सर्पिणी * पुत्रादिनी शब्द आगे रहते भी पुत्र शब्दके तकारको द्वित्व नहीं होताहै (वा० ५०२१) यथा पुत्रपुत्रादिनी त्वमसि पापे। * आगे हत वा जग्ध शब्द हो तो पुत्र शब्दमें विकल्प करके द्वित्व होताहै (वा० ५०२२) पुत्त्रहती, पुत्रहती (बच्चा मारनेवाली) इत्यादि। *

* "अनचि च ४८" सूत्रसे पुत्र शब्दके तकारको द्वित्वप्राप्ति हुई है उसका इस सूत्रसे अंशतः निषेध कियाहै।

आदिन् शब्द सूत्रमें होते हुए उदाहरणमें आदिनी ऐसा स्त्रीलिंग शब्द लिया इसका कारण वा आधार क्या है तो (प्रातिपदिकग्रहणे लिंगविशिष्टस्यापि ग्रहणम्) अर्थात् मूल शब्द लेनेसे उसीसे उसके लिंगभेदयुक्त रूपोंका भी ग्रहण होताहै ऐसी परिभाषा है इसको लिंगविशिष्ट परिभाषा कहतेहैं। इससे यहां आदिनीका भी ग्रहण हुआ। और नागेशका कथन है कि सूत्रमें इन्नन्तका अनुकरण लुप्तसप्तमीक आदिनी शब्द है, अत एव "तत्परे च" इसकी व्याख्या हरदत्तने 'आदिनी शब्द है पर जिससे' ऐसी की॥

५६त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य।८।४।५०।

त्र्यादिषु वर्णेषु संयुक्तेषु वा द्वित्वम्। इन्न्द्रः। इन्द्रः। राष्ट्ट्रम्। राष्ट्रम्॥

५६-अच्से परे तीन अथवा अधिक वर्णोंका संयोग हो तो वहां विकल्पसे द्वित्वका निषेध होताहै, यह शाकटायनका मत है, यथा-इन्न्द्रः, इन्द्रः। राष्ट्ट्रम्, राष्ट्रम्। "अचो रहाभ्यां द्वे ८।४।४६" से अच्की अनुवृत्ति आती है।

५७ सर्वत्र शाकल्यस्य ।८।४।५१॥

द्वित्वं न। अर्कः। ब्रह्मा॥

५७-शाकल्यके मतके अनुसार सर्वत्र द्वित्वका निषेध जानना चाहिये अर्कः, ब्रह्मा इत्यादि॥*

५८ दीर्घादाचार्याणाम्।८।४।५२॥

द्वित्वं न। दात्रम्। पात्रम्॥

५८-आचार्योंके मतमें दीर्घके अनन्तर आनेवाले यर्को द्वित्व नहीं हो। दात्रम्। पात्रम्॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि अन्यत्र द्वित्व होना इनको मान्य है, आचार्य भी कोई वैयाकरण थे (अथवा सब आचार्योंके मतमें)॥

५९ अचो रहाभ्यां द्वे।८।४।४६॥

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः। हर्य्यनुभवः। हर्यनुभवः। नह्य्यस्ति। नह्यस्ति॥

५९-अच्के आगे रेफ वा हकार आकर उसके आगे यर् आवे तो उस यरको द्वित्व होताहै, यथा-हर्य्यनुभवः। नह्य्यस्ति।

यहां "अनचि च ४८" सूत्रसे रेफ और हकारको द्वित्व होना चाहिये परन्तु प्रस्तुत सूत्रसे अगले वर्णको ही द्वित्व होताहै। 'निमित्तत्वेन कार्यित्वस्य बाधः' अर्थात् जिसके निमित्तसे कार्य होताहै उसीमें अन्य निमित्तसे भी वही कार्य नहीं होसक्ता ऐसा तक्रकौण्डिन्य न्याय है-" ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय" अर्थात् ब्रह्मणोंको दही दो और कौण्डिन्यको मठा, तो यहां मठा देनेसे दही नहीं दीजाती, योंही रेफ हकारको निमित्त होनेसे कार्यिता नहीं होती। यह रूप विकल्प करके होते हैं, इस कारण द्वित्वरहित मूल रूप भी ग्राह्य हैं हर्यनुभवः। नह्यस्ति। अब लोपविषय कहते हैं-

१ पाणिनिसे पहले अनेक वैयाकरण थे, उनमें एक शाकटायन भी हुए हैं उनके मतसे यह निषेध होताहै परन्तु "अनचि च" इस सूत्रसे सामान्यसे द्वित्व है ही, और दूसरे वैयाकरणोंके भेद जहां कहेहैं वहां वृत्तिमें उनको केवल वा शब्दसे ही दिखलायाहै, कारण कि अन्य विकल्पोंमें और इनमें भेद नहीं है॥

* शाकल्यके मतसे सर्वत्र अर्थात् इस प्रकरणके किसी भी सूत्रसे द्वित्व प्राप्त हुआ हो तो भी उस द्वित्वका निषेध है, तो दो मत हुए और दोनों ही ठीक है एक उचित एक अनुचित ऐसा कहनेका वैयाकरणोंको अधिकार नहीं है, इस कारण अर्कः अर्क्कः, ब्रह्मा, ब्रह्म्मा यह दोनों प्रकारके रू ग्राह्य हुए ५९ सूत्र देखो।

दक्षिणमें शाकल्यके मतका प्रचार है, द्वित्वका नहीं. पूर्वोत्तरमें द्वित्वका प्रचार है, परन्तु द्वित्व लिखनेसे कोई विशेष लाभ नहीं है॥

६० हलो यमां यमि लोपः ।८।४।६४॥

हलः परस्य यमो लोपः स्याद्वा यमि। इति लोपपक्षे द्वित्वाभावपक्षे चैकयं रूपं तुल्यम्। लोपारम्भफलं तु आदित्यो देवताऽस्येति आदित्यं हविरित्यादौ। यमां यमीति यथासंख्यविज्ञानान्नेह। माहात्म्यम्॥

६०–हल्से परे यदि यम् आवे तो उसके आगे यम् होनेसे पहले यमका लोप विकल्पसे होताहै, तो हर्य्यनुभवः इत्यादिकोंमें पिछले सूत्रसे यकारको द्वित्व करके इस सूत्रसे उसका लोप किया, अथवा द्वित्व कियाही नहीं तोभी एक यकार युक्त रूप समानही सिद्ध होते हैं, तो फिर लोपविधायक सूत्रके कहनेका प्रयोजन क्या है? तो आदित्य है देवता जिसका इस अर्थमें ण्य (य) प्रत्यय $\frac{४।१।८५}{१०७७}$ होकर आदित्यं हविः (आदित्य देवताकी हवि) ऐसा प्रयोग होतेहुए इस सूत्रसे विकल्प करके एक यकारका रूप होकर आदित्यं हविः ऐसाभी रूप होताहै। 'यमां यमि' ऐसा अनुक्रम लेकर निश्चय किया है, इस कारण आगे वही यम रहते ऐसा अर्थ करना चाहिये $\frac{१।३।१०}{१२८}$ इसपरसे माहात्म्यम् इसमेंका 'य' यम् आगे रहते भी आनेवाले 'म्' यम्का लोप नहीं होता। तथापि आदित्यम्, माहात्म्यम् इत्यादिकोंमें 'अनचि च' इससे तकारको द्वित्व होकर, आदित्त्यम्, माहात्त्म्यम् इत्यादि पाक्षिक विकल्प रूप होतेहैं॥

(इति द्वित्वप्रकरणं लोपप्रकरणञ्च समाप्तम्)।

६१ एचोऽयवायावः ।६।१।७८॥

एचः क्रमादय् अव् आय् आव् एते स्युरचि॥

६१–आगे अच् रहते एच् (ए, ओ, ऐ, औ) के स्थानमें क्रमसे अय्, अव्, आय्, आव्, आदेश होतेहै, अर्थात् एको अय्, ओको अव्, ऐको आय्, औको आव्, यह हो। 'इको यणचि' से अचिकी अनुवृत्ति आतीहै।

(शंका और समाधान)–

६२ तस्य लोपः। १। ३। ९॥

तस्येतो लोपः स्यात्। इति यवयोर्लोपो न। उच्चारणसामर्थ्यात्॥ एवं चेत्संज्ञापीह न भवति। हरये। विष्णवे। नायकः। पावकः॥

६२–उस इत् का लोप हो। अर्थात् प्रयोगमें लोप होताहै। (प्रारंभमें माहेश्वर सूत्रके नीचे दीहुई इत्सम्बन्धी टिप्पणी देखो) और १ सूत्रसे अन्त्य हल्की इत्संज्ञा कहीहै, इस कारण अय् अव् आय् आव् इनके अन्त्य हल् जो य् व् य् व् इनकी इत् संज्ञा होकर लोप प्राप्तहुआ, परन्तु यकार वकारके उच्चारणके सामर्थ्यसे लोप नहीं होता, अर्थात् यदि लोप ही करना था तो आदेशोंमें य, व का उच्चारण ही क्यों किया इसी कारण उनकी इत् संज्ञा भी नहीं होती। 'उपदेशेऽजनु०' की अनुवृत्तिसे इत् लिया. "और एच् संयुक्त अक्षर है जैसे ए में अ इ है, अतः आन्तरतम्यसे दो दो अक्षरवालोंके स्थानमें दो दो अक्षरवाले आदेश किये।" उदाहरण–हरे+ए=हरये। विष्णो+ए=विष्णवे। नै+अकः=नायकः। पौ+अकः=पावकः॥

६३ वान्तो यि प्रत्यये ।६।१।७९॥

यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोरव् आव् एतौ स्तः। गोर्विकारो गव्यम्। गोपयसोर्यत्। नावा तार्यं नाव्यम्। नौवयोधर्मेत्यादिना यत्॥ गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम्॥ * ॥ अध्वपरिमाणे च॥ * ॥ गव्यूतिः। ऊतियूतीत्यादिना यूतिशब्दो निपातितः। वान्त इत्यत्र वकाराद् गोर्यूतावित्यत्र छकाराद्वा पूर्वभागे लोपो व्योरिति लोपेन वकारः प्रश्लिष्यते। तेन श्रूयमाणवकारान्त एवादेशः स्यात्। वकारो न लुप्यत इति यावत्॥

६३–यकारादि प्रत्यय आगे रहते ओ, औ के स्थानमें ऊपरके चार आदेशोंमेंसे अव् और आव् यह आदेश होतेहैं। (६१ से अव् और आव् की अनुवृत्ति होतीहै)। गो और पयस् इनके आगे विकार अर्थ (साक्षात् अथवा परंपरासे निष्पन्न पदार्थके दिखानेवाले) में यत् (य) प्रत्यय $\frac{४।३।१६०}{१५३८}$ होताहै। वह आगे रहते गोमेंके ओके स्थानमें अव् होकर गव्यम् ऐसा रूप होताहै, वैसेही 'नावा तार्यम्, नाव्यम्' "नौवयोधर्म० $\frac{४।४।९१}{१६४२}$" नौ, वयस्, धर्म, इत्यादिकोंके आगे तार्य (पार लेजानेके योग्य तुल्य, प्राप्य) इत्यादि अर्थमें यत् (य) प्रत्यय $\frac{४।४।९१}{१६४३}$ होताहै, वह आगे रहते नौमेंके औके स्थानमें आव् होकर नाव्यम् ऐसा शब्द होताहै।

* यूति शब्द आगे रहते वेदके प्रयोगमें (३५४३ वा०) और * मार्गके नापके अर्थमें लौकिक प्रयोगमें भी गोशब्दके ओके स्थानमें वान्त आदेश अर्थात् अव् होताहै (वा० ३५४४) ऐसा उपसंख्यान (पहले कहे विषयका विशेष वचन) जानना। गो+यूतिः=गव्यूतिः (दो कोसका नाप) इसमें "ऊतियूति० $\frac{३।३।९७}{३२७४}$" सूत्रसे यूति (मिश्रण) यह शब्द 'यु मिश्रणे' इस धातुसे निपातन करके लिया गयाहै, ('अन्यथा सिद्धस्य अन्यथोच्चारणं निपातनम्') प्रकृति प्रत्ययकी सिद्धि निराले प्रकारसे होतेहुए सूत्रमें कोईसा निराला रूप सिद्ध हो इस कारण सूत्रमें उसका अचिन्त्य रूप कहना निपातन है।

(शंका) "लोपः शाकल्यस्य $\frac{८।३।१९}{६७}$" सूत्रसे आगे अश् रहते पदके अन्तमें अकारके आगे रहनेवाले यकार वकारका विकल्पसे लोप होता है इस कारण गव्-य, गव्-यूति, इन-

---

१ संस्कृतमें पुँल्लिंग, नपुंसकलिंग कर्तृ कर्मादि अर्थ इत्यादि न जाननेके निमित्त विभक्तिप्रत्यय आते हैं, उदाहरणमें विभक्ति सहित पद दिखाये जातेहैं, "अपदं न प्रयुञ्जीत" अपदका उच्चारण न करना चाहिये इस भाष्यके कथनसे प्रथमादि विभक्तिसहित पद लिखा जाताहै। यथार्थ मूलशब्द गव्य नाव्य हुए वे नपुंसक लिंगकी विभक्ति सहित गव्यम्, नाव्यम् लिखे गयेहैं। इसका प्रकार षड्लिंगमें समझमें आवेगा॥

मेंका य् यह अश् आगे है, इस कारण गव् इनमेंके वकारको लोप प्राप्त हुआ परन्तु गव्य, गव्यूति शब्दका वकारलोपयुक्त रूप नहीं दीखता तो इसकी क्या व्यवस्था समझनी चाहिये ?

(उत्तर)–वान्त शब्दके वकारके पहले और 'गोर्यूतौ' इसके आगे छकारके पहले उच्चारणकी अनुकूलतासे वकारका प्रश्लेष है अर्थात् 'व्वान्तो यि प्रत्यये' किंवा 'गोर्यूतौ च्छन्दसि' ऐसी मूलस्थिति होनेमें "लोपो व्योर्वलि ६।१।६६/८७३" इस सूत्रसे अगले व् और छ इनके निमित्तसे पिछले वकारका लोप हुआहै इस कारण वह सूत्रमें नहीं दीखता, तो भी वह सूत्रमें है ही ऐसा समझना चाहिये । इसका उपयोग क्या है तो इस पर कहते हैं कि–उससे यहां दोनोंमेंसे कोईसा भी प्रश्लेष लिया जाय तो भी गोशब्दको व् व् अन्त अर्थात् अन्ततक जिसका वकार सुनाई देता रहै, आशय यह कि, अन्ततक वकाररूपसे रहनेवाला वकार अन्तमें है जिसके ऐसा वान्त आदेश होताहै । सारांश यह कि उसमेंके वकारका लोप नहीं होता ऐसा जानना * ॥

६४ धातोस्तन्निमित्तस्यैव । ६।१।८० ॥

यादौ प्रत्यये परे धातोरेचश्चेद्वान्तादेशस्तर्हि तन्निमित्तस्यैव नान्यस्य । लव्यम् । अवश्यलाव्यम् । तन्निमित्तस्यैवेति किम् । ओयते । औयत ॥

६४–यकारादि प्रत्यय आगे रहते ओ, औ इन एचोंको पूर्वसूत्रसे वान्त आदेश होताहै परन्तु धातुओंमें यह नियम सर्वत्र नहीं लगता, किन्तु धातुके अन्तमें रहनेवाले ओ,औ जो एच् हैं, वे उस यादि प्रत्ययके ही निमित्तसे हुए हों तो ही उनके स्थानमें वान्त आदेश होगा अन्यथा नहीं, यथा–लू–यम् लव्यम् । 'लूञ् (लू) छेदने' इस धातुके आगे योग्यतार्थक यत् (य) ३।१।९७/२८४२ होकर उसके निमित्तसे ऊकारको गुण हुआ और लोय ऐसी स्थिति होने पर ओ के स्थानमें अव् ऐसा वान्त आदेश होकर 'लव्यम्' (काटने योग्य) रूप सिद्ध हुआ । इसी प्रकार अवश्य अर्थवाला ण्यत् (य) ३।१।१२५/२८८६ प्रत्यय होकर उसके निमित्तसे लु को वृद्धि होकर लौ–य ऐसी स्थिति हुई और प्रस्तुत सूत्रसे औके स्थानमें आव् होकर 'लाव्यम्' (अवश्य काटने योग्य) ऐसा रूप सिद्ध हुआ ।

यादि प्रत्ययकेही निमित्तसे हो ऐसा क्यों कहा ? यदि ऐसा न कहते तो ओयते (किंचित् बुना जाताहै) औयत (बुना गया) यहां भी आदेश होजाता ।

आङ् (आ) पूर्वक वेञ् (वे) धातुके लट् आत्मनेपदमें ते होकर ३।१।६७/२७५६ से यक् प्रत्यय हुआ, यजादि होनेसे सम्प्रसारण, पूर्वरूप "अकृतसार्वधातुकयोर्दीर्घः"से दीर्घ, और आ+ऊयते में आङ्के साथ उकारको गुण होकर ओयते पद सिद्ध हुआ । यहां य प्रत्ययके पहले धातुसम्बन्धी ओकार है, तथापि वह यत् प्रत्ययके निमित्तसे नहीं हुआहै इस कारण उसके स्थानमें अव् आदेश नहीं होता ।

वैसेही आङ्पूर्वक 'वेञ्–तन्तुसन्ताने' इसी धातुसे कर्मणि लङ् अट्का आगम यक् सम्प्रसारण अर्थात् वे के स्थानमें पूर्ववत् ऊ होकर आट्का आगम ६।४।७२/२२५४ होकर पीछे दोनों मिलकर औ ६।१।८७/२६९ वृद्धि हुई । तब 'औयत' ऐसा बना, यहां औ यह वर्ण अगले यत्प्रत्ययके निमित्तसे नहीं हुआ इसकारण यहां आव्–ऐसा वान्त आदेश नहीं होता यह नियमसूत्र है (१२ सूत्रके नीचेकी टिप्पणी देखो) नियमसूत्रमें प्रायः (एव) यह शब्द आया करताहै ॥

६५ क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे । ६।१।८१ ॥

यान्तादेशनिपातनार्थमिदम् । क्षतुं शक्यं क्षय्यम् । जेतुं शक्यं जय्यम् । शक्यार्थे किम् । क्षेतुं जेतुं योग्यं क्षेयं पापं जेयं मनः ॥

६५–यत्प्रत्यय आगे रहते निपातन करके यान्तादेश करनेके लिये यह सूत्र है । क्षि, जि इन धातुओंसे क्षय्य, जय्य यह रूप बनतेहैं, क्षय पानेको शक्य क्षय्यम् । जय पानेके शक्य जय्यम्, शक्यार्थमें हो ऐसा क्यों कहा ? तो योग्यताके अर्थमें यान्तादेश नहीं होता, यथा–जीतनेके योग्य 'जेयम्' (मन) । क्षयकरनेके योग्य 'क्षेयम्' (पाप), यहां "अर्हे कृत्यतृचश्च ३।३।१६९" से यत् प्रत्यय और ७।३।८४/२१६८ से गुण होकर क्षेयम्, जेयम् बने हैं ॥

६६ क्रय्यस्तदर्थे । ६ । १ । ८२ ॥

तस्मै प्रकृत्यर्थायेदं तदर्थम् । क्रेतारः क्रीणीयुरिति बुद्ध्या आपणे प्रसारितं क्रय्यम् । क्रेयमन्यत् । क्रयणार्हमित्यर्थः ॥

६६–'डुक्रीञ् (क्री)–द्रव्यविनिमये' इस धातुका जो प्रकृत अर्थ खरीदना है उसके निमित्त अर्थात् ग्राहक मोल लें इस निमित्त बेचनेके स्थानमें धरा हुआ पदार्थ क्रय्य कहाताहै और इतर अर्थात् बेचनेके योग्य तो है परन्तु घरमें वा और चाहै जहां रखा हुआ हो वह क्रेय कहाताहै अर्थात् बेचनेके योग्य ॥

---

* ('यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' (सप्तम्यन्ते विशेषणीभूते अल्ग्रहणे यो विधिर्विधीयते स तदादौ ज्ञेय इत्यर्थः) ऐसी परिभाषा है, सूत्रमें दो सप्तमी आकर एक विशेषण और एक विशेष्य हो और वह विशेषण अल्रूप हो तो वहां तदन्तविधि १।१।७२/२६ न होते तदादि विधि होतीहै इस लिये 'वान्तो यि प्रत्यये' इसमें 'यकारादौ प्रत्यये' अर्थात् यकारादि प्रत्यय आगे रहते ऐसा अर्थ लियाहै ॥)

विशेष विवरण–कोई अक्षर यदि किसी प्रकार सूत्रमें लुप्त हो उसको फिर वहां मानना प्रश्लेष है । वान्त आदेश कहनेसे अव् आव् का ही बोध होताहै क्योंकि इससे अव्यवहित पूर्व सूत्रमें एही वान्त आदेश हैं और वहां स्थानित्वेन निश्चित ओकार, और औकार भी यहां उपस्थित होतेहैं । और गव्यम्, नाव्यम् यहां 'लोपः शाकल्यस्य' (पदान्त यकार वकारका लोप हो विकल्पसे अश् प्रत्याहारके वर्ण परे रहते) इस सूत्र करके वैकल्पिक वकारका लोप प्राप्त होताहै इस लिये तो वान्तो यि० में वकारका प्रश्लेष है सो ठीक नहीं क्योंकि यद्यपि गोः य, नावा य इसकी लुप्त विभक्तिको प्रत्यय लक्षण मान पदत्व आसक्ताहै तथापि 'यचि भम्' इससे भसंज्ञा होनेके कारण पदत्वका बाध होजाताहै इसी अरुचिसे ग्रन्थकारने छकाराद्वा ऐसा कहाहै ॥

हरे एहि (हरि आओ) इसकी जब संधि करनी हो तब ६१ सूत्रसे हरय् एहि ऐसी स्थिति हुई, तब–

६७ लोपः शाकल्यस्य । ८ । ३ । १९ ॥

अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्वा लोपोऽशि परे । पूर्वत्रासिद्धमिति लोपशास्त्रस्यासिद्धत्वान्न स्वरसंधिः । हर एहि । हरयेहि । विष्ण इह । विष्णविह । श्रिया उद्यतः । श्रियायुद्यतः । गुरा उत्कः । गुरावुत्कः । कानि सन्ति कौस्त इत्यत्रास्तेरल्लोपस्य स्थानिवत्त्वेन यणावादेशौ प्राप्तौ न पदान्तेति सूत्रेण पदान्तविधौ तन्निषेधान्न स्तः ॥

६७–अश् आगे रहते अ, आ इनके आगे रहनेवाले पदान्तमें स्थित जो य् और व् उनका विकल्पसे लोप होताहै । तो एक दफे लोप होकर हर एहि ऐसा रूप हुआ । फिर "वृद्धिरेचि $\frac{६।१।८८}{७२}$" इसको बाधकर "ओमाङोश्च ८०" से पररूप संधिकी प्राप्ति हुई पर "पूर्वत्रासिद्धम्" इस सूत्रसे सवासात अध्यायमें रहनेवाले पररूपसूत्रके प्रति त्रिपादीमें रहनेवाले लोप शास्त्रकी असिद्धतासे यकारके बीचमें आजानेके कारण सन्धि न हुई, अत एव हर एहि ऐसाही रूप सिद्ध रहा । लोपशास्त्रके वैकल्पिक होनेके कारण हरय् एहि इसमें लोप नहीं होता हरयेहि ऐसा भी एक पृथक् रूप होताहै, इसी प्रकारसे विष्णो इह इसकी संधि विष्ण इह, विष्णविह (विष्णु यहां) । श्रियै+उद्यतः= श्रिया उद्यतः श्रियायुद्यतः (लक्ष्मीके लिये उद्युक्त) । गुरौ+ उत्कः-इसका गुरा उत्कः, गुरावुत्कः (गुरुके विषयमें उत्कंठित) ऐसा जानना चाहिये ।

सन्ति (हैं) और स्तः (दोनो हैं) यह दोनों क्रियापद 'अस–भुवि' इस धातुसे बनते हैं इनके पूर्वभागमें अकारका "श्नसोरल्लोपः $\frac{६।४।१११}{२४६९}$" इससे लोप हुआहै । इस कारण "अचः परस्मिन्० ५०" इससे अल्लोपको स्थानिवद्भाव होकर वह लोप दृष्ट अकारवत् होनेसे कानि सन्ति (वे कौन हैं) कौ स्तः (वे दोनों कौन हैं) इस वाक्यमेंके पूर्व शब्दोंके अन्तमें रहनेवाले जो 'इ', 'औ' यह वर्ण उनके स्थानमें संधि होनेसे क्रमसे यण् और आव् यह आदेश प्राप्त हुए, परन्तु पदान्त सम्बन्धका विधान होनेसे "न पदान्त० $\frac{१।१।५८}{५१}$" इत्यादि सूत्रसे स्थानिवद्भावका निषेध है, इस कारण अगले अदृष्ट अचोंके निमित्तसे 'इ, औ' इन पदान्त वर्णोंके स्थानमें यण् और आव् यह आदेश नहीं होते, मूलके रूप ज्योंके त्यों रहते हैं ॥

६८ एकः पूर्वपरयोः । ६ । १ । ८४ ॥

इत्यधिकृत्य ॥

६८–पूर्व और पर इन दोनोंके स्थानमें एक आदेश हो । यह अधिकार करके– ॥

६९ आद्गुणः । ६ । १ । ८७ ॥

अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुणादेशः स्यात्संहितायाम् । उपेन्द्रः । रमेशः । गंगोदकम् ॥

६९–अ वा आ इनके आगे अच् होय तो पूर्व और पर इन दोनोंके स्थानमें मिल कर एक गुण आदेश होताहै, यथा–उप+इन्द्रः उपेन्द्रः (विष्णु) । रमा+ईशः=रमेशः (विष्णु) । गंगा+उदकम्=गंगोदकम् (गंगाजल) *

अवर्णके आगे ऋ वा ऌ हो तो पूर्व और पर इन दोनोंके स्थानमें मिलकर इस सूत्रके अनुसार कौनसा गुण आना चाहिये, कारण कि अवर्ण और ऋ, ऌ इनके अनुसार कण्ठ--मूर्धन्य और कण्ठ–दन्त्य ऐसे गुण नहीं हैं, इसका उत्तर कहते हैं–

७० उरण् रपरः । १ । १ । ५१ ॥

ऋ इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तं तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्तते । तत्रान्तरतम्यात् कृष्णर्धिरित्यत्रार् । तवल्कार इत्यत्राऽल् । अचो रहाभ्यामिति पक्षे द्वित्वम् ॥

७०–ऋ के अठारह और ऌ के बारह मिलकर जो तीस भेद हैं उन सबोंका ऋ में ही ग्रहण होताहै । सो१४सूत्रमें कह चुके हैं । उस ऋ के स्थानमें अण् (अ, इ, उ) इनमेंसे कोईसा आनेसे रपर होकर ही (अर्, इर्, उर्,) इस प्रकारसे प्रवृत्त होताहै । अ वर्ण गुण है और अचोंमेंसे भी है, इस कारण ऋ के सम्बन्धसे जो गुण लिया जायगा वह 'अ' लेनेसे प्रस्तुत सूत्रसे अर् होकर अ और ऋ इन दोनोंके स्थानमें प्रशस्त प्रकारसे मिलताहै, अर् में 'अ' कण्ठ्य और 'र्' मूर्धन्य है । इसमें ऋके अन्तर ऋ, ऌ और रके अन्तर र्, ल् आतेहैं इस कारण स्थानसे आन्तरतम्यके कारण कृष्ण+ऋद्धिः=कृष्णर्द्धिः (कृष्णका अभ्युदय) इसमें अर और तव+ऌकारः=तवल्कारः (तेरा लृकार) इसमें अल् ऐसे आदेश होते हैं । इसी प्रकारसे ऋ ऌ इनके स्थानमें वृद्धिकी प्राप्ति होते आ के स्थानमें आर्, आल् इनकी प्रवृत्ति होतीहै ऐसा जानना ।

'उरण् रपरः' इसमें उः, अण्, रपरः ऐसे ३ पद हैं, और उः यह ऋशब्दकी षष्ठीका एकवचनान्त है । "अचो रहाभ्यां द्वे ५९" इस सूत्रसे कृष्णर्द्धिः में विकल्पसे धको द्वित्व होता है ॥

७१ झरो झरि सवर्णे । ८ । ४ । ६५ ॥

हलः परस्य झरो लोपो वा स्यात्सवर्णे झरि । द्वित्वाभावे लोपे सत्येकधम् । असति लोपे द्वित्वलोपयोर्वा द्विधम् । सति द्वित्वे लोपे

* गुण कहनेसे "अदेङ् गुणः" सूत्रसे अ, ए, ओ इन तीन का बोध होता है, परन्तु प्रथम उदाहरणमेंका संधिवर्ण 'अ' कण्ठ्य और 'इ' तालव्य है, इस कारण, "स्थानेन्तरतमः" इस सूत्रसे स्थानकी सदृशताके कारण दोनोंके स्थानमें कण्ठतालव्य 'ए' हुआ इसी प्रकार 'रमेशः' में कण्ठतालव्य और 'गंगोदकम्' में कण्ठोष्ठ ओकार गुणादेश हुआहै ।

इस सूत्रके अपवाद, क्रमसे आगे आतेहैं, इस कारण अवर्णके आगे अवर्ण अथवा एच् आवें तो यह सूत्र वहां नहीं लगता, यहां इतनाही जानो ॥

चासति त्रिधम् । कृष्णर्धिः । कृष्णर्द्धिः । कृष्णर्द्द्धिः । यण इति पञ्चमी मय इति षष्ठीति पक्षे ककारस्य द्वित्वम् । लस्य त्वनचि चेति । तेन तवल्कार इत्यत्र रूपचतुष्टयम् ॥

द्वित्वं लस्यैव कस्यैव नोभयोरुभयोरपि ।
तवल्कारादिषु बुधैर्बोध्यं रूपचतुष्टयम् ॥

७१–आगे सवर्ण झर् रहते हल्के आगेके झर्को विकल्पसे लोप होताहै, इस कारण द्वित्व न करते लोप कियाजाय तो एक धयुक्त, लोप न किया जाय अथवा द्वित्व और लोप दोनों कार्य किये जांय तो दो धकारोंसे युक्त, द्वित्व किया और लोप न किया तो तीन धकारोंसे युक्त ऐसे तीन रूप होंगे। कृष्णर्धिः । कृष्णर्द्धिः । कृष्णर्द्द्धिः । *

'यणो मयो द्वे वाच्ये' ऐसा जो ५३ सूत्रपर वार्तिक है, उसका 'यणः' यह पंचमी और 'मयः' यह षष्ठी ऐसा पक्ष होतेहुए यण्के आगेके मय्को द्वित्व होताहै ऐसा अर्थ है, इस कारण 'तवल्कारः' इसमेंके ककारको द्वित्व हुआ, वैसेही "अनचि च ८।४।४७/४८" इस सूत्रसे लकारको द्वित्व हुआ, इस कारण उस शब्दके चार रूप होतेहैं।

द्वित्वमिति–एकवार लकारको द्वित्व, एक बार ककारको द्वित्व, एकवार दोनोंको द्वित्व नहीं, और एकवार दोनोंको द्वित्व इस कारण बुद्धिमानोंको तवल्कारादि शब्दोंमें चार रूप जानने चाहिये । तवल्ल्कारः । तवल्क्कारः । तवल्कारः । तवल्ल्क्कारः ॥

७२ वृद्धिरेचि । ६ । १ । ८८ ॥

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। गुणापवादः। कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघः । देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् ॥

७२–अ अथवा आ के आगे ए, ओ, ऐ, औ, वर्ण आवें तो पूर्व और पर इन दोनोंके स्थानमें वृद्धिरूप एक आदेश होताहै । ६९ सूत्र 'आद् गुणः' का यह अपवाद है. कृष्ण+एकत्वम्=कृष्णैकत्वम् (कृष्णका एकत्व) । गंगा+ओघः=गंगौघः (गंगाका प्रवाह) । देव+ऐश्वर्यम्=देवैश्वर्यम् (देवका भाग्य) । कृष्ण + औत्कण्ठ्यम्=कृष्णौत्कण्ठ्यम् (कृष्णकी उत्कंठा)। 'आद् गुणः' से आत्की अनुवृत्ति आतीहै । स्थान मिलाकर ऐ औ यह वृद्धि हुई हैं ॥

७३ एत्येधत्यूठ्सु । ६ । १ । ८९ ॥

अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । पररूपगुणापवादः । उपैति । उपैधते । प्रष्ठौहः । एजाद्योः किम् । उपेतः । मा भवान्प्रेदिधत् । पुरस्तादपवादन्याये नेयं वृद्धिरेङि पररूपमित्यस्यैव बाधिका न त्वोमाङोश्चेत्यस्य । तेनावैहीति वृद्धिरसाधुरेव ॥ अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम् ॥ * ॥ अक्षौहिणी सेना ॥ स्वादीरेरिणोः ॥ * ॥ स्वैरः । स्वेनेरितुं शीलमस्येति स्वैरी । स्वैरिणी ॥ प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु ॥ * ॥ प्रौहः । प्रौढः । अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम् । "प्रश्चेतिसूत्रे राजेः पृथग् भ्राजिग्रहणाज्ज्ञापकात्" तेन ऊढग्रहणेन क्तान्तमेव गृह्यते न तु क्तवत्वन्तस्यैकदेशः । प्रौढवान् । प्रौढिः । इष इच्छायां तुदादिः । इष गतौ दिवादिः । इष आभीक्ष्ण्ये क्र्यादिः । एषां घञि ण्यति च एष एष्य इति रूपे तत्र पररूपे प्राप्तेऽनेन वृद्धिः । प्रैषः । प्रैष्यः । यस्तु ईष उञ्छे यश्च ईष गतिहिंसादर्शनेषु । तयोर्दीर्घोपधत्वात् । ईषः । ईष्यः । तत्राद्गुणे प्रेषः । प्रेष्यः ॥ ऋते च तृतीयासमासे ॥ * ॥ सुखेन ऋतः सुखार्तः । तृतीयेति किम् । परमर्तः ॥ प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे ॥ * ॥ प्रार्णम् । वत्सतरार्णमित्यादि । ऋणस्यापनयनाय यदन्यदृणं क्रियते तदृणार्णम् । दशार्णो देशः । नदी च दशार्णा । ऋणशब्दो दुर्गभूमौ जले च ॥

७३–अ अथवा आ वर्णके आगे अच् है आदिमें जिसके ऐसी एति (इण् (इ) गतौ) एधति (एध वृद्धौ) धातु (इन धातुओंके अजादिरूप) अथवा ऊठ् (अर्थात् वह आदि धातुके वकारको सम्प्रसारण ६।४।१३२/३२९ कार्य होकर ऊ ऐसा जो वकारका रूप होताहै) आवे तो पूर्व परके स्थानमें वृद्धिरूप एकादेश होताहै । अवर्णके आगे ए ओ होते पररूप ६।१।९४/७८ और अच् होते गुण ६।१।८७/६९ इन दोनों नियमोंका यह अपवाद है । उप+एति=उपैति (समीप आताहै) उप+एधते=उपैधते (समीप बढताहै) प्रष्ठ+ऊहः=प्रष्ठौहः (बैलको)

एजादि क्यों कहा? तो एति,एधति इन्हींके रूप होते हुए भी वे एजादि न हों तो वहां वृद्धि न होगी । यथा–उप+इतः=उपेतः (समीप गयाहुआ), मा भवान् प्र+इदिधत्=मा भवान् प्रेदिधत् (आप बहुत मत बढिये)।

यहां एति, एधति इनके एजादि रूप पर रहते ऐसा एति पदकी अनुवृत्तिसे कहा गया है वस्तुतः इनमेंसे केवल एकारादि रूपोंके ही उदाहरण देखनेमें आवेंगे तथापि इससे नियमको किसी प्रकारसे बाध आताहै यह बात नहीं है "पुरस्तादपवादा अनन्तरानेव विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्" (परि०) पहले कहेहुए अपवाद अगले निकटवर्ती विधानके ही केवल बाधक होतेहैं, उससे परविधानके बाधक नहीं होते, ऐसा न्याय अर्थात् परिभाषा है । आशय यह कि जो पहले अपवाद और पीछे उत्सर्ग पढा हो तो वह अपवाद अपने समीपस्थ उत्तर कार्यका बाधक होताहै और जो उससे पर विधि उसका बाधक नहीं होता, इस कारण "एत्येधत्यूठ्सु ६।१।८९/७३" इस प्रस्तुत सूत्रमें कहीहुई वृद्धि "एङि पररूपम् ६।१।९४/७८"

१ इनमेंसे अन्तके दो रूपोंमें "झलां जश् झशि ५२" सूत्रसे पूर्व धकारोंके स्थानमें दकार हुआहै, तो भी उसके सुभीतेके निमित्त धकार ही कहाहै यह पीछे सुध्युपास्यः प्रयोगपर ५४ सूत्रमें दिखादियाहै ॥

इस सूत्रसे कहे हुए पररूपका ही बाधक है, "ओमाङोश्च ६।१।९५/८०" इसके पररूपका बाधक नहीं, इस कारण अव+एहि=अवैहि ऐसा वृद्धियुक्त रूप अशुद्ध जानना, अवेहि ऐसा होना चाहिये। आङ् (आ) उपसर्ग और इहि (जा) यह इ (एति) धातुका रूप मिलकर एहि (आओ) ऐसा रूप होताहै, इसके प्रारंभमें आ उपसर्ग है और फिर एति (इण्) धातुका एजादि रूप भी है। "अन्तादिवच्च ६।१।८५/७५" देखो इसकारण अव एहि यह वाक्य "एत्येधत्यूठ्सु ७३" और "ओमाङोश्च" इन सूत्रोंसे वृद्धि और पररूप इन दोनों कार्योंका विषय बनबैठा, इस कारण संशयनिवृत्तिके निमित्त पुरस्तात् अपवाद इत्यादि न्याय लाकर यहां पररूप ही होताहै, वृद्धि नहीं ऐसा सिद्ध किया है।

* अक्ष शब्दके आगे ऊहिनी शब्द होते अ और ऊ मिलकर औ वृद्धि होती है ऐसा उपसंख्यान जानना (वा० ३६०४) अक्षौहिणी सेना[1] ॥

*स्वशब्दके आगे ईर, ईरिन् शब्द रहते वृद्धिरूप एकादेश होताहै (वा० ३६०६) स्वेच्छासे गमन करनेका स्वभाव है जिसका वह स्वैरी, इसी प्रकार लिंगविशिष्ट परिभाषासे (५५ सू० टि०) स्वैरिणी (जारिणी) पद हुआ।

* प्र उपसर्गके आगे ऊह, ऊढि एष, एष्य, यह शब्द होतेहुए भी वृद्धिरूप एकादेश होताहै (वा० ३६०५) प्रौहः (बडा भारी तर्क), प्रौढः (विचारशील) (परि०) "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्" "व्रश्च० ८।२।३६/२९४" सूत्रमें राज[1] और भ्राज इन दो शब्दोंके अन्तमें किसीएक प्रसंगमें ष होना कहा है, उसमें राज शब्दका उच्चारण होकर भ्राज शब्दमें फिर राज ऐसा अंश आयाहै परन्तु राज इस सार्थ शब्दसे भ्राज इसमेंका अर्थहीन जो राज उसका भी ग्रहण होसकता तो फिर भ्राजका उच्चारण करनेका क्या काम था ? इस कारण 'अर्थवद्ग्रहणमें अनर्थक शब्दका ग्रहण नहीं होता' ऐसी परिभाषा निकलती है, इस कारण वह धातुके आगे क्त (त) प्रत्यय होकर जो ऊढ शब्द बनताहै वही यहां लेना चाहिये, क्तवतु (तवत्) प्रत्यय होकर बनाहुआ ऊढवान् ऐसा जो स्वतंत्र शब्द उसका अवयव जो ऊढ वहां वृद्धि नहीं होगी। प्र+ऊढवान्=प्रोढवान् (जो उठाकर लेगया वह) प्र+ऊढिः=प्रौढिः (बडापन)।

तुदादि, दिवादि और क्र्यादि गणोंमेंका जो इष धातु उसके घञ् (अ) ३।३।१८/३१८४ और ण्यत् (य) ३।१।१२४/२८७२ इन प्रत्ययोंके योगवाले एषः और एष्यः यह रूप बने हैं, प्र उपसर्गके आगे इनके रहते "एङि पररूपम् ६।१।९४/७८" से पररूप प्राप्त है परन्तु प्रस्तुत वार्त्तिकसे उसका बाध होकर वृद्धि ही होती है, प्रैषः, प्रैष्यः। परन्तु (दानादाना बीनना और गति, हिंसा, दर्शन इन अर्थोंमें जो) ईष ऐसे दीर्घ उपधावाले दो धातु हैं उनसे ईषः और ईष्यः यह रूप बनते हैं, यह प्र इसके आगे हों तो "आद् गुणः ६।१।८७/६९" से प्रेषः प्रेष्यः सिद्ध होते हैं, वृद्धि नहीं होती।

इनमेंके प्रैषः, प्रेषः यह रूप भेजना, सुखालेना, इन अर्थोंमें क्रियावाचक और प्रैष्यः, प्रेष्यः यह रूप योग्यतावाचक हैं ऐसा जानना ॥

* अ अथवा आ इनके आगे ऋत शब्द होते तृतीयातत्पुरुष समास हो तो पूर्व परके स्थानमें वृद्धि होती है (वा० ३६०७) सुखेन+ऋतः=सुखार्तः (सुखसे पूजित)। तृतीयासमास क्यों कहा ? परम+ऋतः=परमर्तः (अत्यन्त पूजित) इसमें गुण होताहै वृद्धि नहीं होती, क्योंकि, यह परमश्चासौ ऋतश्च परमर्तः ऐसा कर्मधारय समास है।

* प्रवत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण, दश इन शब्दोंके आगे ऋण शब्द हो तो वृद्धिरूप एक आदेश होता है (वा ३६०८-९) प्र+ऋणम्=प्रार्णम् (अतिशय ऋण)। वत्सतर+ऋणम्=वत्सतरार्णम् (गायके बच्चेके निमित्त ऋण) इत्यादि। ऋणके चुकानेके निमित्त जो दूसरा ऋण लियाजाय वह ऋणार्णम्। दश दुर्गवाला देश 'दशार्ण' होताहै, दश नदियां जिसमें मिली हों वह दशार्णा नदी (बुन्देलखंडमें दशान नदी है) ऋण शब्दका अर्थ दुर्गभूमि और जल भी होताहै।

'परनित्यान्तरंगापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः' यह ४६ सूत्र पर परिभाषा लिखी है, इससे "एङि पररूपम् ६।१।९४/७८" यह पर सूत्र है तो भी इससे "एत्येधत्यूठ्सु ६।१।८९/७३" यह पूर्व सूत्र ही अपवादत्वके कारण बली हुआ है ॥

७४ उपसर्गादृति धातौ।६।१।९१॥

अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। उपार्च्छति। प्रार्च्छति॥

७४–अकारान्त वा आकारान्त उपसर्गके आगे ऋकारादि धातु हो तो वृद्धिरूप एकादेश होताहै। उप+ऋच्छति=उपार्च्छति। प्र+ऋच्छति=प्रार्च्छति।

ऋति इसमें ऋत् ऐसा तपर रूप लेनेका कारण ७७ सूत्र की व्याख्यामें समझा जायगा। (शंका-)

७५ अन्तादिवच्च।६।१।८५॥

योयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत्परस्यादिवत्स्यात्। इति रेफस्य पदान्तत्वे॥

७५–पूर्व और पर इन दोनोंके स्थानमें जो एकादेश होताहै, वह पूर्व शब्दके अन्त्य अवयवके समान हो और पर शब्दके आद्य अवयवके समान हो, इससे उपार्च्छति और

[1] अक्षौहिणीका प्रमाण–"अक्षौहिण्याः समाख्याता रथानां द्विजसत्तमाः॥ संख्या गणिततत्त्वज्ञैः सहस्राण्येकविंशतिः ॥ १ ॥ शतान्युपरि चैवाष्टौ तथा भूयश्च सप्ततिः॥ गजानां च परीमाणमेतदेव विनिर्दिशेत्॥ २ ॥ ज्ञेयं शतसहस्रन्तु सहस्राणि नवैव तु॥ नराणामपि पञ्चाशच्छतानि त्रीणि चानघ ॥ ३ ॥ पञ्चषष्टिसहस्राणि तथाश्वानां शतानि च॥ दशोत्तराणि षट् प्राहुर्यथावदिह संख्यया॥४॥ [महाभारत आदिपर्व, अ० २, श्लो० २३-२६] अर्थ–२१८७० रथ, २१८७० हाथी, १०९३५० पैदल, ६५६१० घुडसवार यह अक्षौहिणीका प्रमाण है। अक्षौहिणी, स्वैरिणी पदोंमें नकारको णकार "पूर्वपदात्० ८।४।३/८५७" और "रषाभ्याम्० ८।४।१/२३५" इन सूत्रोंसे होता है, स्वैरिन्का स्वैरी यह प्रथमाका रूप है।

[1] राजि और भ्राजि यह धातुदर्शक नाम हैं, वैसे ही एति, एधति, यह भी धातुदर्शक नाम हैं, इसी प्रकार आगे भी जानना. इसका आधार "इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे" अर्थात् क् (इ) और श्तिप् (ति) यह धातुदर्शक प्रत्यय हैं ऐसा ३।३।१०८/३२८५ पर वार्तिक है ॥

प्राच्छेति इनमेंके रेफोंको ' उपार् ' और 'प्रार् ' इन पूर्वशब्दोंके अन्तावयव ठहरनेसे पदान्तत्व हुआ और (इसमें ६८ की अनुवृत्ति आती है) ॥

७६ खरवसानयोर्विसर्जनीयः ।८।३।१५॥

खरि अवसाने च परे रेफस्य विसर्जनीयः स्यात्पदान्ते । इति विसर्गे प्राप्ते । अन्तवद्भावेन पदान्तरेफस्य न विसर्गः । उभयथर्क्षु कर्तरि चर्षिदेवतयोरित्यादिनिर्देशात् । उपसर्गेणैव धातोराक्षेपे सिद्धे धाताविति योगविभागेन पुनर्वृद्धिविधानार्थम् । तेन ऋत्यक इति पाक्षिकोपि प्रकृतिभावोऽत्र न भवति ॥

७६–कोईसा खर् आगे हो अथवा अवसानका विषय हो तो पदान्त रेफके स्थानमें विसर्ग होताहै (" रो रि ८ । ३ १४ " से रेफकी अनुवृत्ति आती है) इससे प्राच्छेति और उपार्च्छेति इनके पदान्त रेफोंके स्थानमें विसर्ग प्राप्त हुए, परन्तु सूत्रमेंही उभयथा+ऋक्षु=इनकी सन्धि उभयथर्क्षु $\frac{८।३।८}{३६३०}$ ऐसी है, वैसे ही कर्तरि च ऋषिदेवतयोः इनकी सन्धि " कर्तरि चर्षिदेवतयोः $\frac{३।२।१८६}{३१६७}$ " ऐसी है, इसमें खर् आगे रहते भी पदान्त रेफके स्थानमें विसर्ग नहीं हुआ, इस कारण अन्तवद्भाववाले ७५ सूत्रसे जो रेफको पदान्तत्व आया उसके स्थानमें विसर्ग नहीं होता ऐसा जानना चाहिये ।

जब प्रादि शब्द धातुओंके पहले कहे जाते हैं तभी उनकी उपसर्ग संज्ञा २२ सूत्रसे होती है, इस कारण उपसर्ग शब्द आवे तो आगे धातु शब्दका अध्याहार आही जायगा, ऐसा होते भी " उपसर्गादृति धातौ ७४ " सूत्रमें धातौ शब्द क्यों रक्खा ? उत्तर–" ऋत्यकः $\frac{६।१।२८}{९२}$ " अक् वर्णके आगे ऋ होते उनकी अन्य नियमोंके अनुसार संधि होती है किंवा प्रकृतिभावसे वे वर्ण वैसे ही रहते हैं, इस विकल्पविधायक सूत्रसे । इस प्रसंगमें उपार्च्छेति रूप होकर एक पक्षमें उप ऋच्छति ऐसा प्रकृतिभाव भी विकल्प करके प्राप्त होगा, वह न हो इस कारण ' धातौ ' ऐसा सूत्रांश पृथक् लेकर आगे ऋकारादि धातु होते हुए वृद्धि ही होती है, ऐसा अर्थ इससे दर्शायाहै इससे यहां " ऋत्यकः " इस सूत्रके अनुसार जो पाक्षिक प्रकृतिभाव प्राप्त हुआ था उसका स्पष्ट बाध हुआ ॥

७७ वा सुप्यापिशलेः ।६।१।९२॥

अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ सुब्धातौ परे वृद्धिर्वा स्यात् । आपिशलिग्रहणं पूजार्थम् । प्रार्षभीयति । प्रर्षभीयति । सावर्ण्याद् लृवर्णस्य ग्रहणम् । प्राल्कारीयति । प्रल्कारीयति । तपरत्वाद्दीर्घे न । उप ॠकारीयति । उपर्कारीयति ॥

७७–अवर्णान्त उपसर्गके आगे ऋकारादि नामधातु आवे तो विकल्पसे वृद्धि होती है, यह आपिशलिका मत है, आपिशलिका ग्रहण पूजाके निमित्त है, अर्थात् वा विकल्पविधायक होते हुए भी नामग्रहण संमानके निमित्त है । प्र + ऋषभीयति=प्रार्षभीयति–प्रर्षभीयति–(बैलकासा आचरण करताहै) । ऋ लृ इनका सावर्ण्य है इस कारण सवर्णको भी यह नियम लगताहै । प्र+लृकारीयति–प्राल्कारीयति–प्रल्कारीयति (लृकारकी विशेषकर इच्छा करताहै) ऋत्में तपरग्रहण इस कारण है कि ॠकारादि नामधातु परे रहते वृद्धि नहीं होती, इस कारण उप+ॠकारीयति ऐसी स्थिति होते वृद्धि नहीं होती–उपर्कारीयति (समीपलृकारकी इच्छा करताहै) ऐसा गुण होताहै । नामधातु वा सुब्धातु यह नामपर ही सिद्ध होतेहैं इनकी उत्पत्ति आगे धातुप्रकरण २६५७–२६७७ में समझोगे ॥

७८ एङि पररूपम् । ६ । १ । ९४ ॥

आदुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात् । प्रेजते । उपोषति । इह वा सुपीत्यनुवर्त्य वाक्यभेदेन व्याख्येयम् । तेन एङादौ सुब्धातौ वा । उपेडकीयति । उपैडकीयति । प्रोघीयति । प्रौघीयति ॥ एवे चानियोगे ॥ * ॥ नियोगोऽवधारणम् । क्केव भोक्ष्यसे । अनवक्लृप्तावेव शब्दः । अनियोगे किम् । तवैव ॥

७८–अवर्णान्त उपसर्गसे एङादि धातु परे रहते पूर्व परके स्थानमें पररूप एकादेश होताहै, प्र+ एजते=प्रेजते (बहुत कम्पित होताहै), उप+ओषति=उपोषति (उपवास करताहै) यहां ' वा सुपि ' ऐसी अनुवृत्ति पिछले $\frac{६।१।९२}{७७}$ सूत्रसे लेकर भिन्न वाक्य कर व्याख्या करनी चाहिये, इस कारण एङादि नामधातु आगे रहते विकल्प करके पररूप जानना । विकल्प कहनेसे एक पक्षमें वृद्धि भी होतीहै, उप+एडकीयति ऐसी स्थितिमें उपेडकीयति–उपैडकीयति (मेंढेके समान आचरण करताहै) । प्र+ओघीयति=प्रोघीयति, प्रौघीयति (प्रवाहके समान विशेषकर आचरण करताहै) ऐसे रूप होतेहैं ।

* नियोग न हो तो एव शब्द आगे होते भी पररूप जानो (वा० ३६३१) नियोगका अर्थ अवधारण अर्थात् निश्चय है । क्केव भोक्ष्यसे (भला कहां भोजन करोगे) यहां अनिश्चयार्थ एव शब्द है । ' नियोग न होते ' ऐसा क्यों कहा ? नियोग होते पररूप न होकर वृद्धि होतीहै इस कारण तवैव (तेराही भोजन करूंगा) यहां निश्चयार्थमें वृद्धि होतीहै ॥

७९ अचोऽन्त्यादि टि । १ । १ । ६४ ॥

अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात् ॥ शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् ॥ * ॥ तच्च टेः ॥ शकन्धुः । कर्कन्धुः । कुलटा । सीमन्तः केशवेशे । सीमान्तोऽन्यः । मनीषा । हलीषा । लाङ्गलीषा । पतञ्जलिः । सारङ्गः पशुपक्षिणोः । साराङ्गोऽन्यः ॥ आकृतिगणोऽयम् । मार्तण्डः ॥ ओत्वोष्ठयोः समासे वा ॥ * ॥

स्थूलोतुः । स्थूलौतुः । बिम्बोष्ठः । बिम्बौष्ठः । समासे किम् । तवौष्ठः ॥

७९–शब्दके सब अचोंमें जो अन्त्य अच्, वह आदि है जिस भागका उसको 'टि' कहतेहैं, अर्थात् शब्दमेंका अन्त्य अच् आगे हल् रहते अगले हल् सहित टिसंज्ञक होताहै और जहां अन्त्य अच्के बाद हल् नहीं रहता वहां व्यपदेशिवद्भावसे उस अन्त्य अच्को ही टि संज्ञा होतीहै ।

* शकन्ध्वादि गणके शब्दोंमें पररूप होताहै (वा० ३६३२) और वह पूर्वकी 'टि' और पर शब्दका आदि वर्ण जो अच् इन दोनोंके स्थानमें होताहै । आशय यह कि पूर्व शब्दकी टि उड जातीहै, शक+अन्धुः=शकन्धुः (शक देशका कुआ) । कर्क+अन्धुः=कर्कन्धुः (कर्कनामक राजाका कुआ) । कुल+अटा=कुलटा (घरघर फिरनेवाली–जारिणी) । केशोंकी विशेष रचना (मांग) अर्थ हो तो सीमन्+अन्तः=सीमन्तः (वा० ३६३३) और इससे पृथक् अर्थ हो तो सीमन्+अन्तः=सीमान्तः(सीमाकी हद)। मनस+ईषा=मनीषा (मनकी इच्छा) । हल+ईषा= हलीषा (जोतनेके हलकी डंडी) । लाङ्गल+ईषा=लाङ्गलीषा (हलकी डंडी)। पतत्+अञ्जलिः= पतञ्जलिः (हाथ जोडनेयोग्य वा संध्यावंदन समय किसी ऋषिके हाथसे नीचे गिरा जल, पतञ्जलि ऋषिका नाम है) । पशु (चित्रमृग), पक्षि (राजहंस) ऐसा अर्थ हो तो सार+अङ्गः=सारङ्गः (गण० १३६) । दूसरा अर्थात् जिसका सुन्दर अंग है वह सार+अङ्गः=साराङ्गः । यह आकृतिगण है । मृत+अण्डः=मृतण्डः इसके परे अण् प्रत्यय करके आदिके अच्को वृद्धि करनेसे मार्त+अण्डः=मार्तण्डः हुआहै। यहां भी दीर्घ न हुआ * ।

* अवर्णके आगे समासमें ओतु (बिल्ली) अथवा ओष्ठ शब्द आवे तो विकल्प करके पररूप जानना अर्थात् पाक्षिक वृद्धि हो (वा० ३६३४) स्थूल+ओतुः=स्थूलोतुः–स्थूलौतुः (मोटी बिल्ली) । बिम्ब+ओष्ठः=बिम्बोष्ठः–बिम्बौष्ठः (कुंदुरूके समान लाल होठ)। समासमें ही ऐसा क्यों कहा ? समासके विना यह शब्द आगे रहते भी पररूप नहीं होता, यथा–तव+ओष्ठः=तवौष्ठः ॥

८० ओमाङोश्च । ६ । १ । ९५ ॥

ओमि आङि चात्परे पररूपमेकादेशः स्यात्। शिवायों नमः । शिव एहि–शिवेहि ॥

८०–अवर्णके आगे ओम् अथवा आङ् (आ) शब्द हो तो पररूप एकादेश होताहै, यथा शिवाय+ ओं नमः= शिवायों नमः (रक्षा करनेवाले शिवको नमस्कार है)। शिव+एहि (आ इहि)=शिवेहि (हे शिव आओ) ॥

८१ अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ।६।१।९८।

ध्वनेरनुकरणस्य योऽच्छब्दस्तस्मादितौ परे पररूपमेकादेशः स्यात् । पटत् इति । पटिति ॥ एकाचो न ॥ * ॥ श्रदिति ॥

८१–ध्वनिका जो फिर उच्चारण उसको अनुकरण कहतेहैं उसमेंका जो अत् ऐसा शब्द उसके आगे इति शब्द आवे तो पररूप एकादेश होताहै (यहां अस्फुट ध्वनि लेनी) यथा–पटत् + इति= पटिति (पटत् ऐसा ध्वनिका अनुकरण) ।

* वह अनुकरण यदि एकाच् हो तो उसमेंके अत् शब्दके आगे इति शब्द होते पररूप नहीं होता (वा० ३६३७) श्रत्+इति=श्रदिति (श्रत् ऐसा ध्वनिका अनुकरण) इसमें त्के स्थानमें "झलां जशोऽन्ते ८४" से 'द्'हुआ है ॥

८२नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा ।६।१।९९।

आम्रेडितस्य प्रागुक्तं न स्यात् । अन्त्यस्य तु तकारमात्रस्य वा स्यात् । डाचि बहुलं द्वे भवत इति बहुलवचनाद्द्वित्वम् ॥

८२–आम्रेडितके अन्तमें अत् शब्द हो और इति शब्द आगे आवे तो पूर्वोक्त कार्य (पररूप) नहीं होता, केवल उस अत् शब्दके अन्तका अंश जो त् केवल उसीको होताहै अर्थात् विकल्प करके तकार उड जाताहै । आम्रेडितका अर्थ अगले सूत्रमें आवेगा ।

* अनुकरणमें डाच् प्रत्यय हो तो बहुल करके द्विरुक्ति होती है (वा० ४६९७) इस बचनसे द्विरुक्ति * ॥

८३ तस्य परमाम्रेडितम् ।८। १।२॥

द्विरुक्तस्य परं रूपमाम्रेडितसंज्ञं स्यात् । पटत्पटेति ॥

---

१ असुख्यमें मुख्य व्यवहारकी व्यपदेशिवद्भाव कहतेहैं, जैसे किसीके एक ही पुत्र है, वही उसका ज्येष्ठ मध्यम तथा कनिष्ठ पुत्र भी कहलाताहै,इसी प्रकार अन्त्य अच्में तदादित्व व्यवहार होताहै॥

* पीछे गणपाठनामक जो ग्रन्थ कहा गया है, उसीमें यह शकन्ध्वादि गण भी है, गणमेंके शब्द जिस नियमके योग्य हों उसी नियममें आनेवाले और २ शब्द जो उससे बाहर भी दीखते हों तो उसको आकृतिगण कहतेहैं, इससे शकन्ध्वादिके समान और दूसरे भी कई शब्दोंमें दीर्घ नहीं होताहै, जैसे मार्तण्डः यह शब्द गणके बाहरका लियाहै, मार्तण्डः इसमें मृत+अण्डः ऐसे मूलके शब्द होते मृताण्डः रूप प्राप्त होताहै, परन्तु उसमें मृत शब्दको वृद्धि होकर मार्त ऐसा रूप हुआ और फिर पररूप हुआहै, अर्थ यह कि जो मृत अण्डसे उत्पन्न हुआ ॥

* डाच् (आ) प्रत्यय "अव्यक्तानुकरणात्० $\frac{५।४।५७}{२१२८}$" सूत्रमें कहाहै और उसी सूत्रके सम्बन्धका यह ऊपर वार्तिक जानना चाहिये । बहुल चार प्रकारका होताहै,यथा "क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव । विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥" अर्थात् कहीं प्रवृत्ति, कहीं अप्रवृत्ति, कहीं प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति, कहीं और कुछ इस प्रकारसे किसी एक कार्यके अनेक विधान देखकर बाहुलकके चार प्रकार कियेहैं । इसमें जो अन्तका अन्यदेव–'और दूसरा कुछ' है वही इसमें आताहै परन्तु 'दूसरा कुछ' इसका क्या अर्थ है सहज ही यह प्रश्न उत्पन्न होताहै, तो सब प्रसंगमें एक ही उत्तर देते नहीं बनेगा इससे यहां उसका निर्णय नहीं किया तो भी इस स्थलमें डाच् (आ) प्रत्यय न होते और सूत्रमें निषेध किया हुआ इति शब्द आगे रहतेभी अनुकरणमें द्विरुक्ति होतीहै ऐसा इस 'बहुलम्' शब्दसे ऊपर कहे वार्तिकका अर्थ जानना ॥

८३-द्विरुक्तिमें जो दो रूप होते हैं, उनमें दूसरे रूपकी आम्रेडित ऐसी संज्ञा है, यथा-पटत् पटत् इसमेंका दूसरा आम्रेडित है, इसके आगे इति शब्द होते केवल अन्त्यके तकारहीको पररूप विकल्प करके होताहै ऐसा पिछले सूत्रमें कहाहै, पटत् पट-इति=(आद्गुणः) पटत्पटेति (पटत् पटत् ऐसा ध्वनिका अनुकरण है) । विकल्प कहनेसे तकार रहकर भी संधि होतीहै- ॥

८४ झलां जशोन्ते । ८ । २ । ३९ ॥

पदान्ते झलां जशः स्युः । पटत्पटदिति ॥

८४-पदान्तमें जो झल् उसके स्थानमें जश् होताहै, इस कारण पटत्पटत् इसमेंका अन्त्य वर्ण जो दन्त्य 'त्' उसके स्थानमें जश् कहनेसे स्थानके आन्तरतम्यसे 'द्' वर्ण हुआ और अगले इति इससे मिलकर पटत्पटदिति ऐसा पाक्षिक रूप सिद्ध हुआ ॥

(अब सवर्णसन्धि कहतेहैं)-

८५ अकः सवर्णे दीर्घः । ६ । १ । १०१ ॥

अकः सवर्णेऽचि परे दीर्घ एकादेशः स्यात् । दैत्यारिः । श्रीशः । विष्णूदयः । अचि किम् । कुमारी शेते । नाज्झलाविति सावर्ण्यनिषेधस्तु न दीर्घशकारयोः । ग्रहणकशास्त्रस्य सावर्ण्यविधिनिषेधाभ्यां प्रागनिष्पत्तेः । अकः किम् । हरये । "अकोकि दीर्घ इत्येव सुवचम्" ॥ ऋति सवर्णे ऋ वा ॥ * ॥ होतॄकारः । होतृकारः ॥ लृति सवर्णे लृ वा ॥ * ॥ होत्लृकारः । होतृकारः । पक्षे ऋकारः सावर्ण्यात् । ऋति ऋ वा लृति लृ वेत्युभयत्रापि विधेयं वर्णद्वयं द्विमात्रम् । आद्यस्य मध्ये द्वौ रेफौ तयोरेका मात्रा अभितोऽज्भक्तेरपरा । द्वितीयस्य तु मध्ये द्वौ लकारौ शेषं प्राग्वत् । इहोभयत्रापि ऋत्यक इति पाक्षिकः प्रकृतिभावो वक्ष्यते ॥

८५-अक्के आगे सवर्ण अच् रहते दोनोंके स्थानमें मिलकर दीर्घरूप एकादेश होताहै । दैत्य + अरिः=दैत्यारिः (विष्णु) । श्री + ईशः = श्रीशः (विष्णु) । विष्णु+ उदयः=विष्णूदयः (विष्णुका अवतार) । 'आगे अच् परे हो' ऐसा क्यों कहा ? तब कुमारी + शेते (कुमारी सोती है) इसमें भी सवर्ण दीर्घकी प्राप्ति होनेलगैगी । "नाज्झलौ $\frac{1।1।10}{13}$" इस सूत्रसे कहा गया जो सावर्ण्यनिषेध वह दीर्घ ई और शकार इनके सावर्ण्यका बाधक नहीं है, यदि ग्रहणक शास्त्रके बलपर $\frac{1।1।69}{14}$ दीर्घ ईकारका भी निषेध माना जाय तो किसी भी वर्णोंका परस्पर सावर्ण्य है वा नहीं यह प्रथमतः सिद्ध हुए विना ग्रहणक शास्त्रकी प्रवृत्ति नहीं होती ($\frac{1।1।10}{13}$ की तथा $\frac{1।1।69}{14}$) की टिप्पणी देखो । अक्के आगे क्यों ? तो हरे + ए इसमें ए ए यह सवर्ण होतेभी वे अक् न होनेसे सवर्ण दीर्घ न होते हरये (विष्णुके लिये) ऐसा अयादेश होताहै । ऊपरके सूत्रमें (अकोकि दीर्घः) अक्के आगे अक् हो तो दीर्घ होताहै यह भी सुवच है अर्थात् ऐसा होता तो अच्छा होता ॥

(परि०) 'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' व्याकरणग्रंथ और विशेष कर सूत्रोंकी रचनामें एक अर्धमात्राका लाघव हो जाय तो वैयाकरण पुत्रका उत्सव मानते हैं । इससे अकः सवर्णे दीर्घः-इससे अकोकि दीर्घः ऐसे थोडे अक्षरोंमें यह सूत्र होता तो अच्छा होता यह कौमुदीकारका मत है, अकोकि दीर्घः- ऐसा कह कर "यथासंख्यमनुदेशः समानाम् $\frac{1।3।10}{12८}$" इससे जिस अक्के आगे वही अक् हो तो क्रमसे दीर्घ होताहै, यह अर्थ होताहै और उसी प्रकार अविधीयमान होनेसे ह्रस्व अथवा दीर्घ कैसाही हो तो भी कुछ हानि नहीं यह४७सूत्रमें पीछे निर्णय किया ही है।

* आगे सवर्ण ह्रस्व ऋ हो तो विकल्पसे ॠ होती है (वा० ३६४०)होतृ + ऋकारः= होतॄकारः (हवन करनेवालेसे उच्चारण कियाहुआ ऋकार) पक्षमें दीर्घ होकर होतॄकारः ।

* सवर्ण ह्रस्व लृ आगे रहते विकल्पसे ॡ होती है (वा० ३६४१) होत्लृकारः (होमकरनेवालेसे उच्चारण किया हुआ लृकार) दूसरे पक्षमें दीर्घ लृकार नहीं इस लिये सावर्ण्यके कारण दीर्घ ऋकार होगा होतॄकारः । आगे ऋ होते जो विकल्प ॠ होती है और आगे लृ होते जो विकल्प ॡ होती है इन दोनों प्रसंगोंमें ॠ और ॡ इन प्रत्येकोंमें दो वर्ण मिल कर दो मात्रा हैं ऐसा जानना । यहां आद्य नाम ॠ इसके बीचमें दो रेफ और दोनोंको एकत्र रखनेवाला चारों तरफ अच् भाग अर्थात् स्वरांश (ऱ् ऱ्) है, दोनों रेफोंकी आधी आधी मात्रा मिलकर एक हुई, और स्वरांशकी एक इस प्रकार सब मिल कर दो मात्रा हुई । दूसरी जो ॡ इसमें दो लकार और पहलेहीकी समान अच् भाग (ल ल) मिल कर यहां भी दो मात्रा जानना चाहिये ।

लघु अक्षरका जो कालमान उसको मात्रा वा एकमात्रा कहतेहैं, गुरु अक्षरके कालमानको दो मात्रा कहतेहैं, परन्तु कहीं व्यंजनकी आधी मात्रा लीजातीहै, इस कारण ॠ ॡ लघु हैं तो भी इनमें दो मात्रा हैं ऐसा जानना । इन दोनों स्थलोंमें ऋ लृ सवर्ण आगे रहते "ऋत्यकः $\frac{६।१।१२८}{९२}$" इस सूत्रसे पाक्षिक प्रकृतिभाव होताहै, अर्थात् संधिके कारण रूपान्तर न होते विकल्प करके शब्द वैसे ही रहतेहैं ऐसा इस (९२) सूत्रकी व्याख्यामें दिखाया जायगा ("इको यणचि" की अनुवृत्ति आतीहै) ॥

८६ एङः पदान्तादति । ६ । १ । १०९ ॥

पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । हरेऽव । विष्णोऽव ॥

८६-पदान्तमें ए वा ओ होतेहुए आगे ह्रस्व अ आवे तो दोनोंके स्थानमें पूर्वरूप एक आदेश होताहै । हरे+अव= हरेऽव (हे हरि रक्षा करो) । विष्णो+अव=विष्णोऽव (हे विष्णु रक्षा करो) * ॥

* ऐसे उदाहरणोंमें हरेऽव, विष्णोऽव, इसप्रकार यह (ऽ) लिखनेका प्रचार है, इससे इसके स्थानमें (अ) ह्रस्व स्वर रहाहै ऐसा समझनेमें सुभीता पडताहै, कितनेही प्रसंगमें संशय निवृत्तिके लिये इस (ऽ) से बडी सहायता मिलतीहै ॥

८७ सर्वत्र विभाषा गोः ।६।१।१२२॥

लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः स्यात्पदान्ते । गोअग्रम् । गोऽग्रम् ॥ एङन्तस्य किम् । चित्रग्वग्रम् ॥ पदान्ते किम् । गोः ॥

८७–लौकिक और वैदिक इन दोनों प्रकारके प्रयोगोंमें एङन्त (ओकारान्त) जो गो शब्द उसके आगे ह्रस्व 'अ' आवै तो ओकारको विकल्प करके प्रकृतिभाव होताहै, पदान्तके विषयमें, पक्षमें ऊपरके सूत्रके अनुसार पूर्वरूप होताहै गो+अग्रम्=गो अग्रम्–गोऽग्रम् । (गौओंमें श्रेष्ठ) । एङन्त क्यों कहा ? तो ओकारान्तत्वके विना भी प्रकृतिभाव हो जाता यण् न होता यथा चित्रगु+अग्रम्=चित्रग्वग्रम् (चित्रगायोंमें श्रेष्ठ) । पदान्तमें क्यों कहा ? पदान्त न हो तो प्रकृतिभाव नहीं होता पूर्वरूपही होताहै, गो+अस् (पंचमी प्रत्यय) मिल कर गोस् कारण कि यहां गोशब्दको पदसंज्ञा नहींहै, इस कारण उसमेंके 'ओ' को पदान्तत्व नहीं है देखो सू० २९ और २३१ आगे अन्य $\frac{८।२।६६}{१६२}$ और $\frac{८।३।१५}{७६}$ सूत्रोंके अनुसार स् के स्थानमें विसर्ग होकर गोः (गायसे) ऐसा पद हुआ । केवल अनुवृत्तिसेही एङ् ऐसा पद ऊपर आयाहै तथापि एकारान्त गोशब्द न होनेसे उदाहरणमें केवल ओकारान्त शब्दकीही योजना की है ।

८८ अवङ् स्फोटायनस्य ।६।१।१२३॥

अतीति निवृत्तम् । अचि परे पदान्ते गोरवङ् वा स्यात् । गवाग्रम् । पदान्ते किम् । गवि । व्यवस्थितविभाषया गवाक्षः ॥

८८–अति० इस स्थानमें अत् की निवृत्ति हुई 'अचि' यह सप्तम्यन्तकी अनुवृत्ति ४७ सूत्रसे आतीहै । आगे कोईसा अच् होते पदान्तमें गो शब्दको विकल्प करके अवङ् (अव) आदेश होताहै इसमें ङ् इत् है इसलिये केवल अन्त्य ओको आदेश होताहै, पिछले उदाहरणमें गोअग्रम् इस शब्दकी सन्धि करनेसे गवाग्रम् (८५) ऐसा होताहै । पदान्तमें क्यों कहा ? इसका कारण यह कि अपदान्तमें विकल्प नहीं होता, "एचोऽयवायावः६१" इससे अवादेश होताहै गो+इ यहां 'इ' यह सप्तमी प्रत्यय है 'गवि' (गायके विषयमें) व्यवस्थितविभाषासे गवाक्षः यही होताहै । गो+अक्षः=ऐसे शब्द होते पिछले दो सूत्रोंसे अनुक्रमसे पूर्वरूप प्रकृतिभाव और इस सूत्रसे अवङ् आदेश कर तीनरूप प्राप्त होतेहैं परन्तु इन तीनोंमेंसे केवल अवङ् आदेशसे होनेवालाही रूप भाष्यकारने मानाहै, पिछले दो रूप नहीं होते । ऐसी वैकल्पिक रूपोंकी व्यवस्था करदी है इस कारण गवाक्षः (खिडकी) ऐसा रूप एकही माना गया ।

मूलमें गो+अक्षि–ऐसा शब्द है परन्तु उनमेंसे अक्षि (नेत्र) यह शब्द नपुंसक है इस लिये गवाक्ष (गायके नेत्रके समान) यह नपुंसक शब्द होना चाहिये परन्तु लोकरूढिके अनुसार गवाक्षः ऐसा पुंल्लिंगही शब्द हुआ ।

इस सूत्रके अनुसार गो+ईशः इसकी संधि गवेशः होतीहै गवीशः यह भी एक रूप है, ऐसेही और जगह भी जानना । ऊपरके सूत्रसे विभाषाकी अनुवृत्ति आनेकी योग्यता रहते स्फोटायनका नाम लिखाहै सो सम्मानार्थ जानना (धन्य यह पाणिनि हैं जिनके ग्रन्थमें स्फोटायन आचार्यकी भी सम्मति है. और धन्य स्फोटायन हैं जिनकी सम्मति पाणिनिने भी ली है इस प्रकार दोनोंका समान जानना) ॥

८९ इन्द्रे च । ६ । १ । १२४॥

गोरवङ् स्यादिन्द्रे । गवेन्द्रः ॥

८९–इन्द्र शब्दके आगे रहते भी गो शब्दको अवङ् (अव) आदेश होताहै गो+इन्द्रः=गवेन्द्रः (६९) (बडा बैल) सिद्ध हुआ ।

यहां "इन्द्रे च नित्यम्" ऐसा वैदिकोंका पाठ है तथापि विकल्प न होनेसे नित्यम् ऐसा शब्द न होते भी नित्यम् इसका अर्थ आ ही रहाहै इस कारण उसका कुछ प्रयोजन नहीं है ॥

अथ प्रकृतिभावः ।

९० प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ।६।१।१२५

प्लुताः प्रगृह्याश्च वक्ष्यन्ते तेऽचि नित्यं प्रकृत्या स्युः । एहि कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति । हरी एतौ । नित्यमिति किम् । हरी एतावित्यादावयमेव प्रकृतिभावो यथा स्यादिकोऽसवर्णे इति ह्रस्वसमुच्चितो मा भूत् ॥

९०–आगे प्लुत (९३–९९) और प्रगृह्य (१००–१०९) कहे जायँगे, वे आगे अच् परे रहते नित्य प्रकृतिभावसे रहते हैं अर्थात् उनमें सन्धिके कारण रूपान्तर नहीं होता । एहि कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति (आओ कृष्ण यहां गौ चरती है) । हरी+एतौ (यह दोनों हरि हैं) । नित्यम् ऐसा क्यों कहा ? तो हरी एतौ इत्यादिकोंमें यही प्रकृतिभाव जिसमें होवे "इकोसवर्णे० $\frac{६।१।१२७}{९१}$" इत्यादि अगले सूत्रसे होनेवाला जो ह्रस्वयुक्त प्रकृतिभाव वह यहां न होवे *॥

९१ इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ।६।१।१२७॥

पदान्ता इकोऽसवर्णेऽचि परे प्रकृत्या स्युर्ह्रस्वश्च वा । अत्र ह्रस्वविधिसामर्थ्यादेव प्रकृतिभावे सिद्धे तदनुकर्षणार्थश्चकारो न कर्तव्य इति भाष्ये स्थितम् । चक्रि अत्र । चक्र्यत्र । पदान्ता इति किम् । गौर्यौ ॥ न समासे ॥ * ॥ वाप्यश्वः ॥ सिति च ॥ पार्श्वम् ॥

---

* एहि कृष्ण इसमेंका अवर्ण "दूराद्धूते च $\frac{८।२।८४}{९५}$" इससे प्लुत हुआहै इस कारण आगे अ रहतेभी सवर्ण दीर्घ न होते प्रस्तुत सूत्रसे प्रकृतिभाव ही हुआहै, उसी प्रकारसे हरी यह द्विवचनान्त होनेके कारण उसमेंकी ई यह "ईदूदेद्द्विवचनम्प्रगृह्यम् $\frac{१।१।११}{१००}$" इससे प्रगृह्य है, इस कारण उसके आगे अच् रहते भी यण् न हुआ किन्तु प्रकृतिभाव ही हुआ ॥

९१-आगे असवर्ण अच् रहते पदान्त जो इक् उनको विकल्प करके प्रकृतिभाव और ह्रस्व होताहै, पक्षमें "इको यणचि ६।१।७५/४७ "इसके अनुसार यणादेश है ही। इसमें ह्रस्व होताहै ऐसा कहाहै इस कारण प्रकृतिभाव होताहै यह सिद्ध है, क्योंकि-ह्रस्व करनेपरभी यदि यण् हो तो ह्रस्व करना क्यों ? क्योंकि विना ह्रस्वकेभी यण् तो हो ही जाता । फिर प्रकृति-भावके अनुकर्षके लिये सूत्रमें 'च' इस अक्षरकी योजना करना अप्रयोजकही है ऐसा भाष्यमें कहा है । चक्री+अत्र-ऐसा रूप है इसमें ई को ह्रस्व होकर प्रकृतिभाव हुआ तो चक्रि अत्र ऐसा रूप हुआ । विकल्पसे चक्री+अत्र इस मूलस्थिति परसेही यणादेश होकर चक्र्यत्र (विष्णु यहां) ऐसा भी एक रूप होताहै इस प्रकारसे दो रूप होतेहैं। पदान्त क्यों कहा ? तो पदान्त न होते भी प्रकृतिभाव होजायगा। यथा-गौरी+औ (विभक्ति प्रत्यय) इसकी सन्धि होकर 'गौर्य्यौ' बन गया, यहां पदान्त न होनेसे प्रकृतिभाव न हुआ । * समासमें पूर्व शब्दको पदत्व है तो भी प्रकृतिभाव नहीं होताहै (वा० ३६८४) वापी+अश्वः वाप्यश्वः (तालावमेंका घोडा)।* सकार इत् वाला प्रत्यय परे हो तो भी प्रकृतिभाव न हो चाहै पूर्व शब्दको पदत्व भी हो (वा० ३६८४), यथा-पर्शू+णस् (अ) पार्श्वम् (कोख) हुआ । * ॥

९२ ऋत्यकः । ६ । १ । १२८ ॥

ऋति परेऽकः प्राग्वत् । ब्रह्म ऋषिः । ब्रह्मर्षिः । पदान्ता इत्येव । आर्च्छत् । समासेऽप्ययं प्रकृतिभावः । सप्तऋषीणाम् । सप्तर्षीणाम् ॥

९२-ह्रस्व ऋ आगे हो तो अक् वर्णको पूर्ववत् अर्थात् विकल्प करके प्रकृतिभाव और ह्रस्व होताहै । पक्षमें "आद् गुणः ६९" से गुण होताहै ब्रह्म + ऋषिः ब्रह्म ऋषिः । ब्रह्मर्षिः (ब्राह्मण वर्णका ऋषि, वा ब्रह्मा और ऋषि) यह दो रूप हुए । इस सूत्रमें भी पदान्तकी अनुवृत्ति आतीहै, इससे अपदान्तमें प्रकृतिभाव नहीं होता, आ (आट्)+ऋच्छत्=आर्च्छत् (गया) यहां पदान्त न होनेसे प्रकृतिभाव न हुआ । यह प्रकृतिभाव समासमें भी विकल्प करके होताहै सप्त + ऋषीणाम्= सप्तर्षीणाम् ।[1] (सात ऋषियोंका) । ब्रह्म+ऋषीणाम्=ब्रह्मऋषीणाम् । *

९३ वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः । ८ । २ । ८२ ॥

इत्यधिकृत्य ॥

९३-वाक्यकी जो टि अर्थात् अन्त्य अच् जिसके आदिमें हो ऐसा समुदाय उसकी प्लुत संज्ञा है और वह उदात्त हो । यह अधिकार सूत्र है ॥

९४ प्रत्यभिवादेऽशूद्रे । ८ । २ । ८३ ॥

अशूद्रविषये प्रत्यभिवादे यद्वाक्यं तस्य टेः प्लुतः स्यात् स चोदात्तः । अभिवादये देवदत्तोहं भोः । आयुष्मानेधि देवदत्त ३ ॥ स्त्रियां न ॥ * ॥ अभिवादये गार्ग्यहं भोः । आयुष्मती भव गार्गि । नाम गोत्रं वा यत्र प्रत्यभिवादवाक्यान्ते प्रयुज्यते तत्रैव प्लुत इष्यते । नेह । आयुष्मानेधि ॥ भोराजन्यविशां वेति वाच्यम् ॥ * ॥ आयुष्मानेधि भो ३ः । आयुष्मानेधीन्द्रवर्म ३ न् । आयुष्मानेधीन्द्रपालित ३ ॥

९४-प्रणाम करनेके पश्चात् उस प्रणाम करनेवालेसे उलट कर आशीर्वादादियुक्त जो गुरु इत्यादिकोंका भाषणरूप प्रत्यभिवाद, उसका विषय (जिसको प्रत्यभिवादन करना हो वह मनुष्य) जो शूद्र न हो अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो तो प्रत्यभिवादरूप जो वाक्य उसकी टि को प्लुत हो। अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः। (मैं देवदत्त प्रणाम करता हूं) इस प्रकार देवदत्त ब्राह्मणके प्रणाम करनेपर गुरुके द्वारा 'आयुष्मानेधि देवदत्त ३' (देवदत्त तुम्हारी बडी उमर हो) ऐसा प्रत्यभिवाद कियाहै इस कारण देवदत्त इसकी टि अर्थात् अन्त्य 'अ' प्लुत है ।

* यदि आशीर्वादका विषय स्त्री हो तो वाक्यकी टि प्लुत नहीं होती (वा० ४६६४) अभिवादये गार्ग्यहं भोः (मैं गार्गी प्रणाम करती हूं) ऐसा कहने पर आयुष्मती भव गार्गि (हे गार्गि आयुष्मती हो) ऐसा प्रत्यभिवादन किया है, तथापि यहां गार्गि इस शब्दकी टि (अन्त्यका ह्रस्व वर्ण) इ है उसको प्लुत नहीं होता । जहां प्रत्यभिवाद वाक्यके अन्तमें नाम किंवा गोत्र (वंशवाचक नाम) हो वहां टि प्लुत होतीहै, ऐसा भाष्यका मत है, इस कारण आयुष्मानेधि (आयुष्मान् हो) इस वाक्यमें यह प्रकार नहीं है इस कारण टि प्लुत नहीं होती ॥

* भो शब्द, राजन्य (क्षत्रिय), विश् (वैश्य) इनके वाचक शब्द अन्तमें हों तो टि विकल्प करके प्लुत होतीहै (वा० ४८६५) आयुष्मानेधि भो ३ः(भो आयुष्मान् हो),

---

१ वाप्यामश्वः=वापीअश्वः=वाप्यश्वः ।

* पर्शूका अर्थ कोख(सैंकी अस्थि) इसके आगे समुदाय अर्थमें णस् (अ) प्रत्यय हो तो ४।२।४३/१२५१ वार्तिकसे उस णस् प्रत्ययमेंके स् इत्‌के कारण पूर्व शब्दको पदत्व १।४।१६/१।२।५२ आकर ण् इस इत्‌के कारण उसके पूर्व स्वरको वृद्धि ७।२।११७/१०७५ हुई और प्रत्ययमेंके अकारके कारण यण् होकर पार्श्वम् ऐसा रूप हुआहै। "एङः पदान्तादति" से पदान्तकी अनुवृत्ति होती है ॥

* "आडजादीनाम् ६।४।७२/२२५८" के अनुसार लङादिरूपोंमें अजादि धातुको आट् (आ) का आगम होताहै और "आटश्च ६।१।९५/२६९" सूत्रसे वृद्धिरूप एकादेश होताहै । इस कारण ऋच्छ धातुका 'आर्च्छत्' यह जो लङ्का रूप होताहै, उसमें 'आ' कोई पृथक् पद नहीं है इससे आ इसको पदान्तत्व न होनेसे प्रकृतिभाव न हुआ ।-

--पिछले सूत्रमेंका प्रकृतिभाव समासमें नहीं होता परन्तु इस सूत्रमें का होताहै यह दिखानेके निमित्त 'समासेऽपि' ऐसा कहाहै । सप्तऋषीणाम् इसमें स्वतः ही ह्रस्व है फिर ह्रस्वको ह्रस्व क्या होगा ॥

आयुष्मानेधीन्द्रवर्म ३न् (हे इन्द्रवर्मन् आयुष्मान् हो), आयुष्मानेधीन्द्रपालित ३ (हे इन्द्रपालित आयुष्मान् हो) * ॥

९५ दूराद्धूते च । ८ । २ । ८४ ॥

दूरात्संबोधने यद्वाक्यं तस्य टेः प्लुतः स्यात् । सक्तून्पिब देवदत्त ३ ॥

९५—दूरसे बुलानेका जो वाक्य उसकी टि को प्लुत होताहै सक्तून् पिब देवदत्त ३ (देवदत्त सत्तू पी) ॥

९६ हैहेप्रयोगे हैहयोः । ८ । २ । ८५ ॥

एतयोः प्रयोगे दूराद्धूते यद्वाक्यं तत्र हैहयोरेव प्लुतः स्यात् । हे ३ राम । राम है ३ ॥

९६—दूरसे बुलाते समय है, हे इन सम्बोधनवाचक शब्दोंका प्रयोग किया जाय तो है, हे शब्दोंको प्लुत होताहै, नामकी टि को प्लुत नहीं होता । हे ३ राम, राम है ३ ॥

९७ गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् । ८ । २ । ८६ ॥

दूराद्धूते यद्वाक्यं तस्य ऋद्भिन्नस्याऽनन्त्यस्यापि गुरोर्वा प्लुतः स्यात् । दे३वदत्त । देवद३त्त । देवदत्त ३ । गुरोः किम् । वकारात्परस्याकारस्य मा भूत् । अनृतः किम् । कृष्ण ३ । एकैकग्रहणं पर्यायार्थम् । इह प्राचामिति योगो विभज्यते तेन सर्वः प्लुतो विकल्प्यते ॥

९७—दूरसे बुलानेमें जो वाक्य, उसकी टि को ही प्लुत होताहै ऐसा नहीं, उसमेंका अच् जो अन्त्य न भी हो पर ऋकारभिन्न गुरु हो तो वह भी प्राचीनोंके मतमें विकल्प करके प्लुत होताहै । दे ३ वदत्त, देवद ३ त्त, देवदत्त ३ । गुरु हो ऐसा क्यों कहा ? तो वकारके आगे जो अलघु है वहां प्लुत नहीं होता, इससे ऐसा कहा । ऋकारभिन्नको ऐसा क्यों कहा ? कृष्ण यहां ऋ गुरु है तो भी उसको प्लुत नहीं होता । सूत्रमें एकैकस्य (एक एकका) ऐसा कहाहै इस कारण एकही समय सब प्लुत नहीं होते पर्यायसे अर्थात् बारी २ से उसमेंका अच् इच्छानुसार प्लुत होगा । यहां 'प्राचाम्' अर्थात् प्राचीन वैयाकरणोंके मतमें ऐसा योगविभाग अर्थात् सूत्रका अवयव अलग करतेहैं, इस कारण ऐसा अर्थ होताहै कि प्लुत, जितना कुछ इसके पूर्वमें (पहले) आया है, उतना सब प्राचीन वैयाकरणोंके मतमें (विकल्प करके) होताहै, इस कारण जिन २ शब्दोंमें प्लुत कहा है उनके प्लुत विना भी अन्य रूप होतेहैं ॥

जब प्लुत नहीं तब प्लुतके निमित्तसे होनेवाला जो प्रकृतिभाव वह भी नहीं होता सामान्य नियमोंके अनुसार संधि होतीहै ॥

९८ अप्लुतवदुपस्थिते । ६ । १ । १२९ ॥

उपस्थितोऽनार्ष इतिशब्दस्तस्मिन्परे प्लुतोऽप्लुतवद्भवति, अप्लुतकार्यं यणादिकं करोतीत्यर्थः । सुश्लोक ३ इति । सुश्लोकेति । वत्किम् । अप्लुत इत्युक्तेऽप्लुत एव विधीयेत प्लुतश्च निषिध्येत । तथा च प्रगृह्याश्रये प्रकृतिभावे प्लुतस्य श्रवणं न स्यात् । अग्नी ३ इति ॥

९८—जो वैदिक नहीं ऐसा जो (अव्यक्तानुकरणमें आया ८१) इति शब्द वह आगे हो तो प्लुत स्वर अप्लुतवत् होताहै, इस कारण उसमें प्लुतत्व होते भी यणादि संधिकार्य होतेहैं । सुश्लोक ३ + इति=ऐसी स्थिति होते वहां अप्लुत होनेके समान सन्धि होकर सुश्लोकेति ऐसा होताहै । अप्लुतवत् ऐसा क्यों कहा अप्लुत ही होताहै, ऐसा स्पष्ट क्यों न कहा ? तो अप्लुत होताहै ऐसा कहनेमें उसके विषय अप्लुतहीका विधान होगा प्लुतत्व नहीं रहेगा और जब प्लुत स्वरको प्रगृह्यसंज्ञा भी होतीहै तब प्रगृह्यके आश्रयसे प्रकृतिभाव होताहै, इस कारण संधि तो होती नहीं, प्लुतका श्रवण होताहै सो नहीं होगा, और उसका होना तो आवश्यक है । इस कारण अप्लुतवत् इससे ऐसा जानना कि, जब रूपान्तरका सम्भव नहीं तब आदिका प्लुत नहीं जाता, और सम्भव हो तो अप्लुतके समान संधिकार्यादि होतेहैं । यथा अग्नी ३ इति । (दो अग्नी) * ॥

९९ ई ३ चाक्रवर्मणस्य । ६ । १ । १३० ॥

ई ३ प्लुतोऽचि परेऽप्लुतवद्वा स्यात् । चिनुहि ३ इति । चिनुहीति । चिनुहि ३ इदम् । चिनुहीदम् । उभयत्रविभाषेयम् ॥

९९—आगे अच् रहते प्लुत जो ई ३ वह विकल्प करके (चक्रवर्मके मतके अनुसार) अप्लुतवत् होताहै, चिनुहि ३ इति । चिनुहीति (इकट्ठा करो) इसी प्रकार चिनुहि ३ इ+

---

* भो यह सम्बोधनवाचक शब्द अजी इस अर्थमें आताहै, इन्द्रवर्मन् यह किसी क्षत्रियका और इन्द्रपालित यह वैश्यका नाम है, यथा—"शर्मवद्ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्त्रजन्मनः । गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः ॥" (विष्णुपुराण) गुप्त और पालित इन दोनोंका एकही अर्थ है ।

इन तीनों स्थानोंमें विकल्प है इस कारण प्लुत छोड कर दूसरे सादे रूप होतेहैं । भो शब्दको प्लुत न होते इस वार्तिकहीके कारण उसकी प्राप्ति हुई इस कारण यह अप्राप्तविभाषा है, इन्द्रवर्मन्, इन्द्रपालित, इनकी टि को 'नाम गोत्रं वा' इत्यादि वचनोंसे प्लुत है, उसका इस वार्तिकसे विकल्प हुआ इसी कारण यह प्राप्तविभाषा है, इस प्रकारसे इस जगह एकही वार्तिकसे दो पृथक् कार्य होकर वैकल्पिक रूप सिद्ध हुए, इस लिये यह उभयत्र विभाषा है (२४ की टिप्पणी देखो) ॥

* इसमें अग्निशब्दका सम्बोधन द्विवचन अग्नी है उसकी टि को "दूराद्धूते च $\frac{८।२।८४}{९५}$" इसके अनुसार प्लुतत्व है, और "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् $\frac{१।१।११}{१००}$" से प्रगृह्यत्व भी है, यहां इति शब्द आगे होनेसे प्रस्तुत सूत्रसे अप्लुतवत् अर्थात् प्लुत हो तो भी संधिका कार्य होना चाहिये, परन्तु फिर प्रगृह्यत्व है इस कारण $\frac{६।१।१२५}{९०}$ सूत्रसे संधि नहीं होती, तो भी वा इस कारण प्लुत जाता नहीं, अप्लुत होताहै ऐसा जो कहते तो चाहे सन्धि न होती परन्तु तो भी प्लुत नहीं रहता ॥

इदम् (यह इकट्ठा करो) ऐसी स्थितिमें चिनुहि३ इदम् । चिनुहीदम् ऐसे दो रूप होतेहैं । यह उभयत्रविभाषा है * ॥

(अब प्रगृह्य कहतेहैं)-

१०० ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् । १।१।११॥

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यसंज्ञं स्यात् । हरी एतौ । विष्णू इमौ । गङ्गे अमू । पचेते इमौ । मणी वोष्ट्रस्येति तु इवार्थे वशब्दो वाशब्दो वा बोध्यः ॥

१००--दीर्घ ईकारान्त, दीर्घ ऊकारान्त और एकारान्त द्विवचनकी प्रगृह्य संज्ञा होती है, हरी+ एतौ=हरी एतौ (यह दो हरि) । विष्णू + इमौ=विष्णू इमौ (यह दो विष्णु) । गंगे+ अमू=गङ्गे अमू (यह दो गंगा) । पचेते + इमौ= पचेते इमौ (यह दो पाक करते हैं) इत्यादिकोंमें प्रगृह्य संज्ञा होकर९० सूत्रसे प्रकृतिभाव होताहै, यणादि कार्य नहीं होते । " मणी वोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम " इस महाभारतवाक्यमें मणी वा उष्ट्रस्य किंवा मणी व उष्ट्रस्य ऐसे पद हैं और उनमें वा व इनका अर्थ इव (समान) है, इनमें प्रत्यक्ष इव शब्द नहीं है, होता तो मणी इव ऐसा प्रकृतिभाव हुआ होता ॥

१०१ अदसो मात् । १ । १ । १२ ॥

अस्मात्परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः । अमी ईशाः । रामकृष्णावमू आसाते । मात्किम् । अमुकेऽत्र । असति माद्ग्रहणे एकारोऽप्यनुवर्तेत ॥

१०१--अदस् (वह) शब्दके मकारके पश्चात् ई, ऊ यह वर्ण प्रगृह्य होते हैं । अमी ईशाः (यह बहुत ईश) । रामकृष्णा वमू आसाते (यह राम और कृष्ण हैं) ॥

अदस् शब्दके किसी रूपमें मकारके परे 'ए' नहीं आता इस कारण ईत्, ऊत्, एत्, इनमेंसे एत् निकाल कर अवशिष्ट ई, ऊ केवल इन्हींकी अनुवृत्ति १०० से इस सूत्रमें लाये हैं, और यदि एकारका काम पड़ता तो उसकी भी अनुवृत्ति ला सकतेथे ।

मकारके अनन्तर क्यों कहा ? तो अमुकेऽत्र (ये यहां) इसमें ककारके अनन्तर 'ए' है मकारके उपरान्त व्यवधान रहित 'ए' नहीं है,इसीसे अमुके यहां प्रगृह्य संज्ञा नहीं होतीहै, इस कारण अमुके + अत्र में " एङः पदान्तादति ८६ " सूत्रसे पूर्वरूपकी सन्धि होकर अमुकेऽत्र बनताहै, मात्

*" विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः ८।२।९३ / ३६१२ " इससे चिनुहि इस शब्दसेंकी हकारकी इ विकल्पसे प्लुत है, इस कारण चिनुहि ३ इति इसकी चिनुहीति ऐसे पिछले सूत्रसे संधि हुई । फिर इति इसमेंका प्रथम वर्ण इ यह अच् है, इस कारण प्रस्तुत सूत्रसे चिनुहि ३ इति ऐसा प्रकृतिभावयुक्त वैकल्पिक रूप हुआ । चिनुहि ३ इदम् ऐसी स्थिति रहते प्रकृतिभाव सर्वदा होना चाहिये, परन्तु प्रस्तुत सूत्रसे अप्लुतवत् कार्य होकर चिनुहीदम् ऐसा प्रकृतिभावरहित वैकल्पिक रूप हुआ, इसीकारण एकही सूत्रसे एकवार प्रकृतिभावयुक्त रूप और एकवार प्रकृतिभावरहित रूप ऐसे दो प्रकार होनेसे यह उभयत्रविभाषा है १।१।४४ / २४ देखो ॥

अर्थात् मकारके परे ऐसा जो न कहा होता तो इस उदाहरणमें अनुवृत्तिके कारणसे एकार प्रगृह्य हुआ होता * ॥

१०२ शे । १ । १ । १३ ॥

अयं प्रगृह्यः स्यात् । अस्मे इन्द्राबृहस्पती ॥

१०२-शे (ए) आदेश प्रगृह्य जानो, यथा "अस्मे इन्द्रा बृहस्पतीरयिं धत्तशतग्विनम् । अश्वावन्तसहस्रिणम्" (ऋ० मं० ४ सू० ४९ मं० ४) इसमें "सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा० ७।१।३९ / ३५६१ " इत्यादि सूत्रसे भ्यम् प्रत्ययके स्थानमें शे (ए) आदेश हुआहै, शित्वके कारण सर्वादेश हुआ इस कारण अस्मत् (मे) शब्दके चतुर्थीके बहुवचनमें 'अस्मभ्यम्' होना चाहिये उसके बदले वेदमें 'अस्मे' ऐसा रूप हुआहै, और प्रगृह्य होनेके कारण अगले 'इ' वर्णसे उसकी संधि नहीं हुई ॥

१०३ निपात एकाजनाङ् । १।१।१४॥

एकोऽज्निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात् । इ विस्मये, इ इन्द्रः । उ वितर्के, उ उमेशः । अनाङित्युक्तेरङिदाकारः प्रगृह्य एव । आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तत् । ङित्तु न प्रगृह्यः। ईषदुष्णम् । ओष्णम् । वाक्यस्मरणयोरङित् । अन्यत्र ङिदिति विवेकः ॥

१०३-ङकार है इत् जिसका ऐसा जो 'आ'उसको छोडकर निपातरूप एक अच् प्रगृह्य होताहै । इ यह विस्मय अर्थमें आतीहै । इ इन्द्रः(हां इन्द्र क्या) । उ यह वितर्क अर्थमें आताहै । उ उमेशः (क्या यह शिव है) । आङ्वर्ज कहाहै इसी कारण जिसका ङ् इत् नहीं होता ऐसा जो निपात'आ' है वह भी प्रगृह्य होताहै । आ एवं नु मन्यसे (हां, ऐसा मानते हो ना ?) । आ एवं किल तत् (हां वह बात ऐसी ही है) परन्तु जिसका ङ् इत् है वह आ प्रगृह्य नहीं है । ईषत् उष्णम् (कुछ गरम) इस अर्थमें आङ् (आ) उष्णम् ऐसे शब्द जब आतेहैं, तब 'आ' प्रगृह्य नहीं होता, ओष्णम् ऐसी ही उसकी संधि होतीहै, तो फिर ङित् अङित्की किस प्रकारसे पहचान होगी, तो वाक्य और स्मरणमें 'आ' अङित् अर्थात् प्रगृह्य होताहै दूसरा ङित् होताहै इसीसे वह प्रगृह्य नहीं होता. इस विषयमें भाष्यमें कहाहै-"ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः । एतमातं ङितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित्॥" अर्थात् ईषत् (थोडा) अर्थमें, क्रियाके योगमें, मर्यादा और अभिविधिमें वर्तमान जो आ है उसको ङित् जानो, वाक्य और स्मरण इन दो अर्थोंमें अङित् जानो । पीछे "प्राग्रीश्वरान्निपाताः १९" इस सूत्रमें निपात दिखायेहैं ॥

१०४ ओत् । १ । १ । १५ ॥

ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात् । अहो ईशाः ॥

*'अदसो मात्' इसमें द्विवचन ही होनेकी आवश्यकता नहीं है इसीसे अमी ईशाः इसमें अमी इस बहुवचनमेंकी ई प्रगृह्य हुई है ॥

१०४–ओकारान्त जो निपात उसे प्रगृह्य जानना चाहिये। अहो ईशाः (अहो ईश्वरो)॥

१०५ संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे। १।१।१६॥

संबुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ परे। विष्णो इति। (विष्ण इति)। विष्णविति। अनार्ष इति किम्। ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्॥

१०५–सम्बोधनके निमित्त जो शब्दके अन्तमें ओकार लाया हुआ होताहै वह अवैदिक इति शब्द आगे रहते विकल्पसे प्रगृह्य होताहै, यथा– विष्णो इति। (विष्ण इति) विष्णविति (हे विष्णु ऐसा) इसमें पहला रूप प्रगृह्य होनेपर प्रकृतिभाव होनेसे सिद्ध होताहै और प्रगृह्य संज्ञाके अभावपक्षमें "एचो० ६१" से अव् करनेपर "लोपः शाकल्यस्य ६७" से विकल्प करके वकारके लोपसे दूसरा रूप और वकारका लोप न होनेपर तीसरा रूप होताहै *।

अवैदिकमें क्यों कहा? इसका कारण यह कि यह वैदिक वाक्यमें प्रगृह्य नहीं होता, यथा ब्रह्मबन्धो+इत्यब्रवीत्। इसकी सन्धि ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत् (ब्रह्मबन्धो ऐसा कहा) हुई॥

१०६ उञः। १।१।१७॥

उञ इतौ वा प्रागुक्तम्। उ इति। विति॥

१०६–इति शब्द आगे रहते उञ् (उ) यह जो निपात उसे भी विकल्प करके प्रगृह्य जानो। उ इति अथवा विति। (उ ऐसा उच्चारण)॥

१०७ ऊँ। १।१।१८॥

उञ इतौ दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्यश्च ऊँ इत्ययमादेशो वा स्यात्। ऊँ इति॥

१०७–इति शब्द आगे रहते उञ् (उ) के स्थानमें दीर्घ अनुनासिक और प्रगृह्य ऐसा ऊँ यह विकल्पसे आदेश होताहै यथा ऊँ इति (ऊं ऐसा) पक्षान्तरमें १०६ के उदाहरण जानने॥

१०८ मय उञो वो वा। ८।३।३३॥

मयः परस्य उञो वो वा स्यादचि। किमु उक्तम्। किम्वुक्तम्। वस्यासिद्धत्वान्नानुस्वारः॥

१०८–अच् आगे रहते मय् प्रत्याहारके आगे आनेवाला जो उञ् (उ) उसके स्थानमें विकल्प करके व होताहै, किम्+उ+उक्तम् (भला क्या कहा) इसकी संधि 'किम्वुक्तम्, किमु उक्तम्' हुई, "मोऽनुस्वारः $\frac{८।३।२३}{१२२}$" इस सूत्रसे वकारके पहले मकारके स्थानमें अनुस्वार होना चाहिये, परन्तु इस १०८ सूत्रके "पूर्वत्रासिद्धम् $\frac{८।२।१}{१२}$" से असिद्ध होनेके कारण उसको वकार नहीं दीखता, इस कारण मकारके स्थानमें अनुस्वार नहीं होता॥

१०९ ईदूतौ च सप्तम्यर्थे। १।१।१९॥

सप्तम्यर्थे पर्यवसन्नमीदूदन्तं प्रगृह्यं स्यात्। सोमो गौरी अधिश्रितः॥ मामकी तनू इति। सुपां सुलुगिति सप्तम्या लुक्। अर्थग्रहणं किम्। वृत्तावर्थान्तरोपसंक्रान्ते मा भूत्। वाप्यामश्वो वाप्यश्वः॥

१०९ सप्तमीके अर्थमें स्थिर रहने (परन्तु प्रत्यक्ष सप्तम्यन्त नहीं) वाला ईदन्त किंवा ऊदन्तरूप प्रगृह्य जानना, यथा सोमो गौरी अधिश्रितः। मामकी तनू इन वैदिक उदाहरणोंमें गौरी और तनू यह शब्द सप्तम्यर्थमें होकर "सुपां सुलुक् $\frac{७।१।३९}{३५६१}$" इस सूत्रसे सप्तमीका लोप होकर मूल रूप ही रह गयेहैं, इस कारण आगे अच् रहते भी गौरी तनू यह शब्द प्रगृह्य होकर प्रकृतिभावसेही रहेहैं। सप्तमीके अर्थमें हो ऐसा क्यों कहा? इसका आशय यह कि अन्ततक सप्तमीकाही अर्थ रहना चाहिये, नहीं तो समासादि वृत्तिसे अन्य अर्थकी ओर उसका क्रमण होजानेपर वहां भी प्रगृह्य संज्ञा होजावेगी, यथा वाप्यश्वम् अश्वः इसमें बावडीमें और घोडा ऐसा मूलका अर्थ होते समास होनेसे वापी शब्दका अश्व शब्दके अर्थकी ओर क्रमण हुआहै, इस कारण वापी शब्द प्रगृह्य न होते तालावपरका घोडा ऐसी अर्थान्तरकी संधि हुईहै॥

सोमो गौरी अधिश्रितः यह वाक्य "मदच्युत्क्षेति साधने सिन्धोरूर्मा विपश्चित् सोमोगौरी अधिश्रितः" (ऋग्वेदमं० ९ सू० १२ मं० ३)"*॥

११० अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः। ८।४।५७॥

अप्रगृह्यस्याणोऽवसानेऽनुनासिको वा स्यात्। दधिँ। दधि। अप्रगृह्यस्य किम् अमी॥

॥ इत्यच्संधिः॥

११०–अवसानमें अप्रगृह्य जो अण् (अ इ उ) वह विकल्प करके अनुनासिक होताहै, दधिँ। दधि (दही)। अप्रगृह्य क्यों कहा? तो प्रगृह्य हो तो अनुनासिक नहीं होता। अमी (दो अग्नि) यह ईदन्त द्विवचन है, इससे प्रगृह्य होनेके कारण अनुनासिक न हुआ॥

॥ इत्यच्सन्धिप्रकरणम्॥

---

* अनेक पुस्तकोंमें यह तीन रूप देख पडतेहैं इस लिये यहां भी 'विष्ण इति' यह इस ( ) चिह्नके अन्दर रख दिया गया है, और वस्तुतः तो १३५ और ६७ यह दोनों सूत्रके कार्य शाकल्य आचार्यके ही मतमें होतेहैं, तो यह जब प्रगृह्यसंज्ञाप्रयुक्त प्रकृतिभाव मानते हैं, तो इनके मतमें अव् तो होगा नहीं, तो वकारका लोप इनके मतसे कैसे होसकताहै॥

* 'कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः' इसके अनुसार पांच वृत्ति (अर्थविस्तार करनेवाली शब्दस्थिति) हैं॥

अथ हल्सन्धिः ।

१११ स्तोः श्चुना श्चुः ।८।४।४० ॥

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः । हरिश्शेते । रामश्चिनोति । सच्चित् । शार्ङ्गिञ्जय ॥

१११-सकार और तवर्गके साथ शकार और चवर्गका योग हो तो यथाक्रम सकारके स्थानमें शकार और तवर्गके स्थानमें चवर्ग होताहै । यह योग पीछे या आगे कहीं भी हो तो उक्त कार्य होगा । हरिस्+शेते=हरिश्शेते (हरि सोताहै) । रामस् + चिनोति=रामश्चिनोति (राम एकत्र करताहै) । सत् + चित्=सच्चित् (सत्य और ज्ञान) । शार्ङ्गिन् + जय= शार्ङ्गिञ्जय (हे कृष्ण बिजयी हो) । सूत्रमें तु चु इनसे तवर्ग और चवर्गका बोध होताहै $\frac{१।१।६९}{१४}$ इसी प्रकारसे आगे जानो ॥

इस सूत्रका अपवाद-

११२ शात् । ८ । ४ । ४४ ॥

शात्परस्य तवर्गस्य चुत्वं न स्यात् । विश्नः । प्रश्नः ॥

११२-यदि शकारके आगे तवर्ग हो तो तवर्गको चवर्ग नहीं होता । विश्नः (जानेवाला) । प्रश्नः (पूछना) इनमें नके स्थानमें ञ् नहीं होता । ($\frac{८।४।४२}{११४}$ । $\frac{८।४।४३}{११५}$ की अनुवृत्ति) ॥

११३ ष्टुना ष्टुः । ८ । ४ । ४१ ॥

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात् । रामष्षष्ठः । रामष्टीकते । पेष्टा । तट्टीका । चक्रिण्ढौकसे ॥

११३-षकार और टवर्गके साथ योग हो तो सकार और तवर्गके स्थानमें यथाक्रम षकार और टवर्ग हों । रामस् + षष्ठः=रामष्षष्ठः (छठवां राम) । रामस् + टीकते= रामष्टीकते (राम जाताहै) । पेष् + ता= पेष्टा (पीसनेवाला) तत् + टीका=तट्टीका (उसकी टीका) । चक्रिन् + ढौकसे= चक्रिण्ढौकसे (कृष्ण तुम जातेहो) ॥

इसका अपवाद-

११४ न पदान्ताट्टोरनाम् ।८।४।४२॥

अनामिति लुप्तषष्ठीकं पदम् । पदान्ताट्टवर्गात्परस्यानामः स्तोः ष्टुर्न स्यात् । षट् सन्तः । षट् ते । पदान्तात्किम् । ईट्टे । टोः किम् । सर्पिष्टमम् ॥ अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम् ॥ * ॥ षण्णाम् । षण्णवतिः । षण्णगर्यः ॥

११४-इसमें 'अनाम्' यह लुप्तषष्ठीक पद है, अर्थात् षष्ठी प्रत्यय लुप्त है ऐसा समझ कर तदनुसार अर्थ लेना । पदके अन्तमें रहनेवाला टवर्गमेंका कोईसा वर्ण हो और उसके आगे नामको छोड कर सकार और तवर्गके स्थानमें षकार और टवर्ग न हों । षट् सन्तः (छः साधु) षट् ते (वे छः) इनमें षकार टवर्ग नहीं होते । पदान्त टवर्गके आगे ऐसा क्यों कहा? इसका कारण यह कि अपदान्त टवर्गके आगे सकार तवर्ग आतेहैं तो ष्टुत्व होता ही है । ईड्+ते=ईड् टे " खरि च $\frac{८।४।५५}{१२१}$ " ईट्टे (वह स्तवन करताहै) । सूत्रमें टवर्गसे परे क्यों कहा? तो सकारके आगे यह निषेध नहीं होता, यथा-सर्पिष्+तमम्= सर्पिष्टमम् (बहुत घी)

* सूत्रमें अनामसे नामके नकारको छोडा है परन्तु नाम्, नवति, नगरी, इन तीनों शब्दोंमेंका तवर्ग छोड कर ऐसा कहना चाहिये (वा० ५०१६) अर्थात् पदान्त टवर्गके आगे यह शब्द रहते ष्टुत्व होताहै, यथा-षड्+नाम्=षण्णाम् (छहों का) । षड्+नवतिः=षण्णवतिः (छयानवें) । षड्+नगर्यः= षण्णगर्यः (छह नगरी) इनमें ११६ सूत्रके अनुसार अनुनासिक होताहै * ॥

और अपवाद-

११५ तोः षि । ८ । ४ । ४३ ॥

तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम् । सन्षष्ठः ॥

११५-आगे षकार रहते तवर्गको ष्टुत्व नहीं होता । सन्+ षष्ठः=सन् षष्ठः (छठा साधु) । अनुवृत्तिके कारण ष्टुत्व कहाहै, तथापि यहां केवल टुत्वका ही प्रयोजन पडताहै ।

---

१ यहां स्थानी और आदेशमें यथासंख्य है, निमित्त और कार्योंमें नहीं, अर्थात् सकारको शकार-चवर्गके योगमें शकार हो और तवर्गको शकार-चवर्गके योगमें चवर्ग हो, इसमें प्रमाण " शात् ११२" यह सूत्र है, क्योंकि यदि निमित्तकार्योंमें भी यथासंख्य होता तो सकारको शकार हो, शकारके योगमें और तवर्गको चवर्ग हो, चवर्गके योगमें, ऐसा अर्थ होता, फिर तो शकारसे पर तवर्गको चवर्ग प्राप्तही न होता तो निषेध किसका ? ॥

१ तात्पर्य यह कि, यदि यहाँ 'टोः' न कहकर पूर्वसूत्रसे अनुवृत्ति लावेंगे तो 'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' के अनुसार षकार भी आजावेगा, तो 'सर्पिष्टमम्' नहीं बनेगा ॥

षण्णवतिः, षण्णगर्यः इत्यादिकोंमें षड् शब्दकी " सुप्तिङन्तं पदम् २९ " सूत्रसे पदसंज्ञा हुईहै, उसके आगे विभक्तिप्रत्ययका विभक्तिनियमके अनुसार लोप हुआहै, वैसे ही नाम यह अवयव आगे लगकर षण्णाम् ऐसा जो षष्ठीबहुवचनमें रूप होताहै वह पद होगा, परन्तु उसमेंके षट् इतनेही अवयवको पदत्व कहांसे हुआ, पदत्व आये विना इस सूत्रकी प्राप्ति ही नहीं होसकती तो "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने $\frac{१।४।१७}{२३०}$" "यचि भम्" $\frac{१।४।१८}{२३१}$" इन दोनों सूत्रोंके विचारसे पदत्व हुआहै, इसमें ऐसा अर्थ है कि स्वादि (चतुर्थ पंचम इन दोनों अध्यायोंमें कहे हुए सब) प्रत्ययोंमेंसे सर्वनामस्थान (सु औ जस् अम् औट् शि) और यकारादि और अजादि प्रत्यय छोडकर शेष रहे जो प्रत्यय उन्हें आगे होते हुए भी पूर्व शब्दकी पद संज्ञा होती है, इस कारण नाम आगे रहते पूर्व शब्दकी पदसंज्ञा होतीहै, इससे नाम आगे होते षट् शब्दकी पद संज्ञा है । शंका-स्वादि प्रत्ययोंमें नाम प्रत्यय नहीं है, आम् ऐसा अजादि प्रत्यय होकर उसको नुट् (न) का आगम $\frac{७।१।५५}{३३८}$ से होनेसे नाम् हुआहै, तब अजादि प्रत्यय आगे रहते षट्को पदत्व कैसे है ? उत्तर-नुट् यह आगम टित् होनेसे आम् प्रत्ययका ही $\frac{१।१।४६}{३६}$ आद्यावयव होजाताहै, यह पृथक् प्रत्यय नहीं माना जाता और फिर जब उसको अजादित्व नहीं रहा तो पूर्वशब्दकी पदत्व ठीक ही है॥

झलां जशोऽन्ते (सू–८४) ।

वागीशः । चिद्रूपम् ॥

"झलां जशोन्ते ८।२।३९/८४ " पदान्त झल्के स्थानमें जश् होताहै । वाक्+ईशः इसमें पदान्त क् के स्थानमें ग् जश् होकर वागीशः (बृहस्पति) । इसीप्रकार चित्+रूपम्= चिद्रूपम् (ज्ञानस्वरूप) । (प्रयोजनवश यह सूत्र पहले कहा गया है मुख्य इसका स्थान यही है) ॥

११६ यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८ । ४ । ४५ ॥

यरः पदान्तस्याऽनुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात् । एतन्मुरारिः । एतद्मुरारिः । स्थानप्रयत्नाभ्यामन्तरतमे स्पर्शे चरितार्थो विधिरयं रेफे न प्रवर्तते । चतुर्मुखः ॥ प्रत्यये भाषायां नित्यम् ॥ * ॥ तन्मात्रम् । चिन्मयम् । कथं तर्हि मदोदग्राः ककुद्मन्त इति । यवादिगणे दकारनिपातनात् ॥

११६–अनुनासिक अक्षर परे रहते पदान्तमें स्थित यर्को विकल्प करके अनुनासिक होताहै, पक्षमें जश् होताहै । एतद्+मुरारिः=एतन्मुरारिः । एतद्मुरारिः (यह मुरारि) । किसी एक यर्के साथ स्थान और प्रयत्न इनसे अति सदृश अनुनासिक जो मिलता हो, अर्थात् स्पर्श वर्ण पदान्तमें हो तो इस विधिकी प्रवृत्ति होतीहै, रेफ यह ईषत्स्पृष्ट और मूर्धन्य है इसके साथ मिलनेवाला ईषत्स्पृष्ट मूर्धन्य अनुनासिक वर्ण नहीं है, इस कारण पदान्तमें रेफ होते इस विधिकी प्रवृत्ति नहीं चतुर्+मुखः–मिलकर चतुर्मुखः (ब्रह्मदेव) ऐसाही रूप होताहै अनुनासिक नहीं ।

* प्रत्यय सम्बन्धी अनुनासिकके आगे होते अवैदिक प्रयोगमें यर्के स्थानमें नित्य अनुनासिक ही होताहै, जश् नहीं होता (वा० ५०१७) तत्+मात्रम्=तन्मात्रम् (वही केवल) । चित्+मयम्=चिन्मयम् (ज्ञानमय) । तो फिर "मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः" (रघुवंश स० ४ श्लो० २२) इसमें कालिदासने ककुद्मन्तः ऐसा जश्त्वयुक्त प्रयोग क्यों किया, तो यवादिगण ८।२।९/१८९७ में ककुद् ऐसा दकारयुक्त शब्द दिया हुआहै (अन्यथा नकारयुक्त ही पढते) इससे ककुद्मान् सिद्ध होताहै उसका प्रथमाका बहुवचनान्त ककुद्मन्तः हुआहै इसकारण यह प्रयोग शुद्ध है ॥

८४ सूत्रका अपवाद–

११७ तोर्लि । ८ । ४ । ६० ॥

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः स्यात् । तल्लयः । विद्वाँल्लिखति । नकारस्याऽनुनासिको लकारः ॥

११७–आगे लकार रहते तवर्गके स्थानमें परसवर्ण होताहै । तद्+लयः=तल्लयः (उसका लय) विद्वान्+लिखति= विद्वाँल्लिखति (विद्वान् लिखताहै) यहां नकारके स्थानमें अनुनासिक लकार होताहै ॥

११८ उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य । ८ । ४ । ६१ ।

उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः स्यात् । आदेः परस्य । उत्थानम् । उत्तम्भनम् । अत्राऽघोषस्य महाप्राणस्य सस्य तादृश एव थकारः । तस्य झरो झरीति पाक्षिको लोपः । लोपाभावपक्षे तु थकारस्यैव श्रवणं न तु खरि चेति चर्त्वम् । चर्त्वं प्रति थकारस्याऽसिद्धत्वात् ॥

११८–उद् (ऊपर) इस उपसर्गके आगे आनेवाले स्था वा स्तम्भ शब्दको पूर्वसवर्ण आदेश होताहै, परशब्दको कहाहुआ आदेश (४४ से) उसके आदि वर्णको होताहै । उद्+स्थानम्=उत्थानम् (उठना), उद्+स्तम्भनम्=उत्तम्भनम् (थमाना) इनमें स् इसको अघोष और महाप्राण होनेके कारण इसके स्थानमें आनेवाला पूर्वसवर्ण दकारके अनुसार स्पृष्ट और दन्त्य होकर सकारकी जातिका अघोष–महाप्राण 'थ' यही होताहै, उसका "झरो झरि सवर्णे ७१" से पाक्षिक लोप होकर यह रूप होतेहैं । उद्के दकारको जो त् हुआहै यह "खरि च ८।४।५५/१२१" से आगे ख प्रत्याहार होनेके कारण हुआहै ।

पाक्षिक रूप कहा इससे लोपाभाव पक्षमें थकार ही का श्रवण होताहै "खरि च १२१" सूत्रसे थकारके स्थानमें चर्त्व (त्) नहीं होता कारण कि यहां चर्त्वको थकार असिद्ध है (१२) अर्थात् दीखता नहीं । उत्थानम् । उत्थम्भनम् * ॥

११९ झयो होऽन्यतरस्याम् । ८ । ४ । ६२ ॥

झयः परस्य हस्य पूर्वसवर्णो वा स्यात् । घोषवतो नादवतो महाप्राणस्य संवृतकण्ठस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थ एवादेशः ॥ वाग्घरिः । वाग्हरिः ॥

११९–झय्से परे ह आवे तो 'ह' के स्थानमें विकल्प करके पूर्वसवर्ण होताहै, 'ह' यह घोष, नाद, संवार, महाप्राण, है इस कारण उसके स्थानमें जो पूर्वसवर्ण आनेवालाहै वह भी वैसाही आना चाहिये, आशय यह कि, पूर्व वर्णके वर्गोंका चतुर्थ वर्ण ही हकारके स्थानमें होताहै, वाक् + हरिः= वाग्घरिः (बृहस्पतिः) । जब विकल्प न हुआ तब वाग्हरिः ।

आदिमें वाचां हरिः इसका समास है, इसकारण वाच् यह मूल शब्द और हरिः इसमें मूलसन्धि प्राप्त हुई, उसमें "चोः कुः ८।२।३०/३७८" से चकारके स्थानमें क् होकर वाक्+हरिः ऐसी स्थिति हुई और "झलां जशोन्ते" से क् के स्थानमें ग् होकर फिर प्रस्तुत सूत्रसे वाग्घरिः । वाग्हरिः रूप सिद्ध हुए ॥ तद्+शिवः यह स्थिति है–

* यह दोनों सूत्र त्रिपादीमेंके हैं । "खरि च" ८।४।५५/१२१ यह पर है यह पूर्व सूत्र है और "उद स्थास्तम्भोः० ८।४।६१/११८" त्रिपादीमें पर सूत्र असिद्ध रहताहीहै ॥

१२० शश्छोटि । ८ । ४ । ६३ ॥

पदान्ताज्झयः परस्य शस्य छो वा स्यादटि । दस्य चुत्वेन जकारे कृते-॥

१२०-पदान्त झय्के आगे श् हो और उसके आगे अट् प्रत्याहारका कोई वर्ण हो तो श्के स्थानमें विकल्प करके 'छ' होताहै, परन्तु "स्तोः श्चुना श्चुः १११" से छकारके योगसे दकारके स्थानमें चुत्व होकर (दकारके अनुसार घोष अल्पप्राण) ज् हुआ, तब तज्+छिवः ऐसी स्थिति हुई । (११४ से पदान्तकी अनुवृत्ति आतीहै) ॥

१२१ खरि च । ८ । ४ । ५५ ॥

खरि झलां चरः स्युः । इति जकारस्य चकारः । तच्छिवः । तच्शिवः ॥ छत्वममीति वाच्यम् ॥ * ॥ तच्श्लोकेन । तच्छ्लोकेन । अमि किम् । वाक् श्च्योतति ॥

१२१-खर् आगे होते झल्के स्थानमें चर् होताहै । इससे अगले खर् प्रत्याहारके कारण जकारके स्थानमें चकार हुआ तच्छिवः । तच्शिवः । (उसका शिव वा वह शिव)। ("झलां जश् झशि" से झल् "अभ्यासे चर्च" से चरकी अनुवृत्ति) * ॥

"शश्छोऽटि १२०" सूत्रसे अट् पर रहते विकल्पकरके छ होताहै * परन्तु अट्की जगह अम् समझना चाहिये अर्थात् अम् परे रहते पदान्त झय्से पर शकारके स्थानमें विकल्पसे छ ही होताहै(वा० ५०२५) अत एव तत् + श्लोकेन इसको चुत्वके कारण तच् + श्लोकेन ऐसी स्थिति होनेपर वैकल्पिक छत्व होनेसे तच्छ्लोकेन-तच्श्लोकेन (उस श्लोकने) ऐसे रूप होतेहैं । उसके आगे हो ऐसा क्यों कहा ? तो आगे अम् न हो तो छ नहीं होता । वाक् श्च्योतति (जीभ लडखडातीहै) यहां छ नहीं होता ॥

१२२ मोऽनुस्वारः । ८ । ३ । २३ ।

मान्तस्य पदस्याऽनुस्वारः स्याद्धलि । अलोऽन्त्यस्य । हरिं वन्दे । पदस्येति किम् । गम्यते ॥

१२२-आगे हल् रहते मकारान्त पदको अनुस्वार होताहै, परन्तु " अलोन्त्यस्य १।१।५२ / ४२ " से आदेश अन्त्य अल्को होताहै । हरिम्+वन्दे=हरिं वन्दे (हरिको नमस्कार करताहूं) । पदान्तमें क्यों कहा ? तो अपदान्तमें अनुस्वार नहीं होता । गम्यते (जायाजाताहै) इसमें हल् परे होते भी म् पदान्त न होनेसे उसके स्थानमें अनुस्वार नहीं होता ॥

१२३ नश्चापदान्तस्य झलि । ८ । ३ । २४ ॥

नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनुस्वारः । यशांसि । आक्रंस्यते । झलि किम् । मन्यते ॥

१२३-आगे झल् परे रहते अपदान्तमें जो न वा म् उसके स्थानमें अनुस्वार होताहै । यशान्+सि ऐसी स्थिति होते यशांसि (बहुत यश) ऐसा हुआ । आक्रम्+स्यते-आक्रंस्यते (आक्रमण करेगा) ऐसा होगा । आगे झल् होते ऐसा क्यों कहा ? तो आगे झल् न होते अथवा अन्य वर्ण हो तो अनुस्वार नहीं होता, मन्+यते=मन्यते (मानताहै) इसमें नकारके आगे यकार झल् नहीं है इसकारण नकार ही रहा । अपदान्तमें क्यों कहा ? तो पदान्त नकारको अनुस्वार नहीं होता, राजन् पाहि (हे राजन् रक्षा करो) ॥

यहां पिछले दो सूत्रोंसे जो अनुस्वार प्राप्त होताहै उसका कितनेही प्रसंगमें फिर रूपान्तर होताहै । इसविषयके सूत्र—

१२४ अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः । ८ । ४ । ५८ ॥

स्पष्टम् । अङ्कितः । अञ्चितः । कुण्ठितः । शान्तः । गुम्फितः । कुर्वन्तीत्यत्र णत्वे प्राप्ते तस्यासिद्धत्वादनुस्वारे परसवर्णे च कृते तस्यासिद्धत्वान्न णत्वम् ॥

१२४-आगे यय् प्रत्याहार होते अनुस्वारके स्थानमें परसवर्ण होताहै 'अकि-लक्षणे,अञ्चु-पूजायाम्, कुठि-प्रतिघाते, शमु-उपशमे, गुम्फ-ग्रन्थे ' इन धातुओंसे अं+कितः । अं+चितः । कुं+ठितः । शां+तः । गुं+फितः ऐसे निष्ठान्त रूप (भूतकालवाचक धातुसाधित) होतेहैं, इनमें पिछले सूत्रके अनुसार मकार नकारके स्थानमें अनुस्वार होकर पिछले रूप हुए, और अन्तमें प्रस्तुत सूत्रसे अनुस्वारको परसवर्ण होकर अङ्कितः (चिह्नित कियाहुआ), अञ्चितः (पूजित हुआ), कुण्ठितः (स्तब्ध), शान्तः (शान्तहुआ), गुम्फितः (गूंथा गया) ऐसे रूप सिद्ध होतेहैं ।

इसीप्रकारसे कुर्वन्ति (करतेहैं) यहां नकारको अनुस्वार होकर फिर परसवर्ण हुआहै, तो इसमें पहले " रषाभ्यां नो णः समानपदे ८।४।१ / २३५ " और "अट्कुप्वाङ्नुम्० ८।४।२ / १९७ " इनसे बीचमें वकार तथा अकार रहते भी रेफके आगेके नकारको णत्व प्राप्त हुआ, परन्तु वह अनुस्वारके ८।३।२३ / १२३ प्रति असिद्ध होनेके कारण रहकर अनुस्वारही हुआ फिर परसवर्ण नकार ८।४।५८ / १२४ हुआ, पुनः णत्वकी प्राप्ति उन्ही दो सूत्रोंसे हुई, परन्तु परसवर्ण (१२४) उनके (८।४।१ / २३५ और ८।४।२ / १९७) प्रति असिद्ध है, इस कारण णत्व नहीं होता अन्तमें ' कुर्वन्ति ' यही रूप सिद्ध हुआ ॥

१२५ वा पदान्तस्य । ८ । ४ । ५९ ॥

पदान्तस्याऽनुस्वारस्य ययि परे परसवर्णो वा स्यात् । त्वङ्करोषि । त्वं करोषि । सय्ँयन्ता । संयन्ता । सव्ँवत्सरः । संवत्सरः ॥ यल्ँलोकम् । यं लोकम् । अत्रानुस्वारस्य पक्षेऽनुनासिका यवलाः ॥

१२५-आगे यय् रहते पदान्तमें जो अनुस्वार उसके स्थानमें विकल्प करके परसवर्ण होताहै, अर्थात् परसवर्णविना

---

* हलन्त शब्दके आगे अवसान होते "वावसाने ८।४।५६ / २०६" इससे झल्के स्थानमें विकल्प करके चर् होताहै, जैसे आगे अवसान होते तद्का तत् ऐसा दूसरा रूप होताहै, परन्तु अवसान इस शब्दसे ही स्पष्ट है कि उसके आगे दूसरा शब्द नहीं आवेगा और आनेके योग्य हो तो अवसान नहीं कहावेगा, और अवसान न हो तो "वावसाने" यह विकल्प प्राप्त नहीं होसकैगा ॥

अनुस्वार भी रहजाताहै । त्वङ्करोषि, त्वं करोषि (तू करताहै) । सय्यँन्ता, संयन्ता (संयमन करनेवाला) । सँव्वत्सरः, संवत्सरः (वर्ष) । यँल्लोकम्, यं लोकम् (जिस लोकको) इनमें वैकल्पिक रूपोंमें अनुस्वारोंके स्थानमें अनुनासिक 'यँ् वँ् लँ्' होतेहैं * ॥

१२६ मो राजि समः क्वौ ।८।३।२५॥

क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात् । सम्राट् ॥

१२६–क्विप्प्रत्ययान्त राज् धातु परे रहते 'सम्' इस उपसर्गके मकारके स्थानमें अनुस्वार न होकर मकार ही रहताहै, यथा–सम्+राट्=सम्राट् (सार्वभौम) *॥

१२७ हे मपरे वा । ८ । ३ । २६॥

मपरे हकारे परे मस्य म एव स्याद्वा । ह्मल ह्मल चलने । किम् ह्मलयति । किं ह्मलयति ॥ यवलपरे यवला वेति वक्तव्यम् ॥ * ॥

१२७–म है परे जिससे ऐसा हकार परेहुए सन्ते मकारके स्थानमें विकल्प करके मकार ही होताहै अनुस्वार नहीं । 'ह्मल्–ह्मल्–संचलने' इसमेंके ह्मल् धातुसे ह्मलयति यह क्रियापद बनताहै । किम् ह्मलयति । किं ह्मलयति (वह क्या चलताहै) ऐसा हुआ । * य, व, ल, आगे हैं जिसके ऐसा ह परे हो तो मकारके स्थानमें विकल्प करके य, व, ल, होतेहैं (वा० ४९०२) परन्तु–॥

१२८ यथासंख्यमनुदेशः समानाम् । १ । ३ । १० ॥

समसंबन्धी विधिर्यथासंख्यं स्यात् । किँय्ह्यः । किं ह्यः । किँव्ह्वलयति । किं ह्वलयति । किँल्ँ ह्लादयति । किं ह्लादयति ॥

१२८–समान समानोंका उच्चारण करके कोई विधान कहा हो तो वह विधान यथासंख्य करके जानना चाहिये, अर्थात् प्रथमको प्रथम, द्वितीयको द्वितीय, तृतीयको तृतीय, इस प्रकारसे हो, इससे ऊपरके विकल्पमें हकारके आगे यकार होते 'म्' के स्थानमें 'यँ्' होताहै, हकारके आगे व रहते 'वँ्' होताहै 'ल' हो तो 'लँ्' होताहै। अन्य पक्षमें अनुस्वार होताहै। किम्+ह्यः=किँय्ह्यः, किं ह्यः (कल क्या) । किम्+ह्वलयति=किँव्ह्वलयति, किं ह्वलयति (वह क्या चलाताहै) किम्+ह्लादयति=किँल्ह्लादयति, किं ह्लादयति (क्या हर्षाताहै) ॥

१२९ नपरे नः । ८ । ३ । २७ ॥

नपरे हकारे परे मस्य नः स्याद्वा । किन् ह्नुते ॥ किं ह्नुते ॥

१२९–नकार है आगे जिसके ऐसा ह अर्थात् ह्न परे हो तो मकारके स्थानमें विकल्पसे न् होताहै, दूसरे पक्षमें अनुस्वार । किम्+ह्नुते=किन्ह्नुते । किं ह्नुते (वह क्या छिपाताहै)॥

१३० ङ्णोः कुक्टुक् शरि ।८।३।२८॥

ङकारणकारयोः कुक्टुकावागमौ वा स्तः शरि । कुक्टुकोरसिद्धत्वाज्जश्त्वं न ॥ चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् ॥ * ॥ प्राङ्ख्षष्ठः । प्राङ्क्षष्ठः । प्राङ् षष्ठः । सुगण्ट्ठ् षष्ठः । सुगण्ट् षष्ठः । सुगण् षष्ठः ॥

१३०–शर् आगे रहते ङकार और णकारको अनुक्रमसे कुक् (क्) टुक् (ट्) यह आगम विकल्पकरके होतेहैं, किन्तु के कारण अन्तमें आगम होगा। "झलां जशोऽन्ते $\frac{८।२।३९}{८४}$" की दृष्टिसे १३० सूत्रको असिद्ध होनेके कारण इसमेंके कुक् (क्) टुक् (ट्) इनको जश्त्व नहीं होता । * शर् परे रहते चय् प्रत्याहारके स्थानमें अपने २ वर्गका दूसरा अक्षर हो पौष्करसादिके मतमें (वा० ५०२३) । क् और ट् यह चय् है, इनके दूसरे वर्ण ख् और ठ् होंगे, इस प्रकार तीन रूप हुए। प्राङ्+षष्ठः=प्राङ्ख्षष्ठः।प्राङ्क्षष्ठः।प्राङ् षष्ठः। (पहला छठवाँ) सुगण्+षष्ठः=सुगण्ठ्षष्ठः । सुगण्ट् षष्ठः । सुगण् षष्ठः (छठवां अच्छा गणित जाननेवाला) ॥

१३१ डः सि धुट् । ८ । ३ । २९॥

डात्परस्य सस्य धुड्वा स्यात् । षट्त्सन्तः । षट् सन्तः ॥

१३१–डकारसे परे रहनेवाले सकारको विकल्प करके धुट् का आगम होताहै, षड्+सन्तः=षट्त्सन्तः । षट् सन्तः (छः साधु) * ॥

---

* इस भांतिसे यह सहजमें ध्यानमें आवेगा कि,आगे हल् र हते पदान्त मकारके स्थानमें अनुस्वार करना वह उत्तम पक्ष है । आगे यय् रहते पदान्त मकारको परसवर्ण होता तो है, पर विकल्प करके होताहै इस कारण लिखने और स्पष्टताके अनुकूल सर्वसामान्यको अनुस्वारका ही यहां स्वीकार करना अच्छा है । परन्तु अपदान्तमें यय् प्रत्याहारके अक्षर आगे रहते पीछे अनुस्वार कभी नहीं रह सकता, वहां परसवर्ण ही करना चाहिये, इस समय दक्षिण और उत्तरकी पुस्तकोंमें अनुस्वारके विषयमें बड़ी गडबडी रहतीहै, इसे ठीक करना चाहिये ॥

* बहुतसे धातुओंसे कुछ दृश्य प्रत्यय न होते कर्तृवाचक क्विप् (कृत्) प्रत्यय होताहै $\frac{३।२।७६}{२९८३}$ इस क्विप् प्रत्ययके सब वर्ण लुप्त होतेहैं, इसके अनुसार 'राज्–दीप्तौ' इस धातुसे क्विप् प्रत्यय होकर राज् की प्रथमामें राट् हुआहै ॥

* सूत्रमें डात् यह पंचमी और सि यह सप्तमी है, इसमें "उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" पञ्चमी और सप्तमी ऐसे दो निर्देश आवें तो वहां पञ्चमीनिर्देश बलवान् होताहै, ऐसी परिभाषा है, इसकारण "तस्मादित्युत्तरस्य $\frac{१।१।६७}{४१}$" सूत्रसे धुट्का आगम स को ही होताहै, टित्वके कारण पूर्वभागमें आगम होताहै और आगे स रहनेसे । "खरि च $\frac{८।४।५५}{१२२}$" से ध् के स्थानमें त् और आगे खर् (त) होनेसे ड् के स्थानमें ट् हुआ ॥

१३२ नश्च । ८ । ३ । ३० ॥

नकारान्तात्सस्य धुड्वा । सन्त्सः । सन्सः ॥

१३२-नकारान्तके आगे स को विकल्पसे धुट् (ध्) का आगम होताहै सन्+सः=सन्त्सः । सन्सः (वह साधु) ॥

सन्+शम्भुः ऐसी स्थिति रहते-

१३३ शि तुक् । ८ । ३ । ३१ ॥

नस्य पदान्तस्य शे परे तुग्वा स्यात् । शश्छोऽटीति छत्वविकल्पः । पक्षे झरो झरीति चलोपः । सञ्छंभुः । सञ्च्छंभुः । सञ्च्शंभुः । सञ् शंभुः ॥

ञ्छौ ञ्चछा ञ्चशा ञशाविति चतुष्टयम् ॥ रूपाणामिह तुक्छत्वचलोपानां विकल्पनात् ॥

१३३-आगे श् होते पदान्त नकारको विकल्प करके तुक् (त्) का आगम होताहै । उसको चुत्वके कारण च् और नकारको चुत्वके कारण ञ् । "शश्छोऽटि $\frac{८।४।६३}{१२०}$" से श्के स्थानमें विकल्प करके छ, पक्षमें "झरो झरि $\frac{८।४।६५}{७१}$" से चकारका लोप हुआ सन्+शम्भुः=सञ्छम्भुः । सञ्च्छम्भुः । सञ्च्शंभुः । सञ्शम्भुः । ञ्छाविति- इसमें तुक्, छत्व और चलोप इनके विकल्पके कारण ञ्छ, ञ्च्छ, ञ्च्श और ञ्श ऐसे चार रूप होतेहैं । ("ङ्णि च पदे ८ । ३ । २१" से पदकी अनुवृत्ति आतीहै) ॥

१३४ ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् । । ८ । ३ । ३२ ॥

ह्रस्वात्परो यो ङम् तदन्तं यत्पदं तस्मात्परस्याचो नित्यं ङमुडागमः स्यात् । प्रत्यङ्ङात्मा । सुगण्णीशः । सन्नच्युतः ॥

१३४-ह्रस्वके आगे जो ङम् (ङ्, ण्, न्) यह है अन्तमें जिस पदके उसके आगेके अच्को ङमुट् (ङुट्, णुट्, नुट्) (ङ् ण् न्) का आगम होताहै, यथा-प्रत्यङ्+आत्मा=प्रत्यङ्ङात्मा (अन्तरात्मा) । सुगण्+ईशः=सुगण्णीशः (श्रेष्ठ गणितका ज्ञाता) । सन्+अच्युतः=सन्नच्युतः (साधु अच्युत) * ॥

अगले चार सूत्रोंमें रुप्रकरणका विषय है-

१३५ समः सुटि । ८ । ३ । ५ ॥

समो रुः स्यात्सुटि । अलोन्त्यस्य ॥

१३५-सुट् (स्) परे रहते सम् शब्दके स्थानमें रु "र्" होताहै । "अलोऽन्त्यस्य $\frac{१।१।५२}{४२}$" से अन्त्य अल्के स्थानमें आदेश होताहै * ॥

* सूत्रोंमें इस नियमका बहुतसी जगह अभाव है अर्थात् ङमुट् आगम न होनेके उदाहरण-इको यणचि, तिङन्त, षडन्त, उणादि इत्यादि हैं परन्तु यह आर्ष प्रयोग हैं इसकारण शुद्ध ही है ॥

* "सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे $\frac{६।१।१३७}{२५५०}$" इस सूत्रसे सम् शब्दके आगे आनेवाले कृधातुके रूपको सुट्का आगम होताहै, ऐसी स्थिति होनेपर प्रस्तुत सूत्रसे मकारके स्थानमें रु (र्) सम्×स्कर्ता' आकर 'सर्+स्कर्ता' ऐसी स्थिति होतीहै ॥

१३६ अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा । ८ । ३ । २ ॥

अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्याऽनुनासिको वा स्यात् ॥

१३६-इस रुप्रकरणमें रुके पूर्ववर्ती अक्षरको विकल्प करके अनुनासिक हो (रुप्रकरणे ऐसे कहनेका कारण यह कि "ढो ढे लोपः ८ । ३ । १३" इस स्थलमें पूर्ववर्ती अक्षरको अनुनासिक न होगा) तब सँर्+स्कर्ता ऐसी स्थिति हुई-॥

१३७ अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ८।३।४।

अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात्परोऽनुस्वारागमः स्यात् । खरवसानयोर्विसर्जनीयः ॥

१३७-पिछले सूत्रके विकल्पसे जो दो रूप प्राप्त हुए, उनमें अनुनासिकको छोडकर दूसरे अननुनासिकमेंके रूपमेंके सके पूर्ववर्णके अनन्तर अनुस्वारका आगम होताहै, तब सँर्+स्कर्ता ऐसी स्थिति हुई, तब "खरवसा० $\frac{८।३।१५}{७६}$" सूत्रसे पदान्त रेफको विसर्ग हुआ सँः+स्कर्ता=संः+स्कर्ता ऐसी स्थिति हुई । फिर-

१३८ विसर्जनीयस्य सः।८।३।३४॥

खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात् । एतदपवादे वा शरीति पाक्षिके विसर्गे प्राप्ते ॥ संपुंकानां सो वक्तव्यः ॥ * ॥ संस्स्कर्ता । संस्स्कर्ता ॥ समो वा लोपमेक इति भाष्यम् ॥ * ॥ लोपस्यापि रुप्रकरणस्थत्वादनुस्वारानुनासिकाभ्यामेकसकारं रूपद्वयम् । द्विसकारं तूक्तमेव । तत्रानचि चेति सकारस्य द्वित्वपक्षे त्रिसकारमपि रूपद्वयम् । अनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीययमानामकारोपरि शर्षु च पाठस्योपसंख्यातत्वेनानुस्वारस्याप्यच्त्वात् । अनुनासिकवतां त्रयाणां शरः खय इति कद्वित्वे षट् । अनुस्वारवतामनुस्वारस्यापि द्वित्वे द्वादश । एषामष्टादशानां तकारस्य द्वित्वे वचनान्तरेण पुनर्द्वित्वे च एकतं द्वितं त्रितमिति चतुष्पञ्चाशत् । अणोऽनुनासिकत्वेऽष्टोत्तरं शतम् ॥

१३८-खर् वर्ण आगे रहते विसर्गके स्थानमें सकार होताहै, इसके अपवाद "वा शरि $\frac{८।३।३६}{१५१}$" (शर् आगे रहते विसर्गके स्थानमें विकल्प करके विसर्ग ही रहताहै) से विकल्प प्राप्त हुआ तब कहतेहैं कि (वा० ४८९२) सम्, पुम्, कान् इनके विसर्गको सकार ही होताहै अर्थात् इन शब्दोंकी सन्धिमें विसर्ग और स् युक्त दो रूप न हो करके एक ही सकारयुक्त रूप होताहै, इस कारण। सँस्स्कर्ता । संस्स्कर्ता (भूषित करनेवाला) यह दो रूप सिद्ध हुए । (समो वेति०) सम् शब्दके अन्तके मकारको विकल्प करके लोप हो, ऐसा कितनेही वैयाकरण मानतेहैं, यह भाष्यका

वचन है, इस कारण स+स्कर्त्ता ऐसा रूप सिद्ध हुआ। (लोपस्येति०) यह लोप भी रुप्रकरणमें कियागया है इस कारण पिछले दो सूत्रोंके अनुसार अनुनासिक और अनुस्वारवाले एक सकारयुक्त दो रूप हुए, सँस्कर्ता । संस्कर्ता । दोसकारवाला रूप तो कहा ही है। (तत्रेति) उसमें फिर "अनचि च ८।४।४७/४८" इससे सकारको विकल्पसे द्वित्व होकर त्रिसकारयुक्त दो रूप हुए। अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और यम् इनको भाष्यकारने चतुर्दशसूत्रीमें अकार पर और फिर शरोंमें भी पढाहै, इसकारण अनुस्वार भी अचोंमें आगया, इसकारण उसके आगे आनेवाले सकारको "अनचि च" के अनुस्वार द्वित्व होनेमें कोई हानि नहीं, इसप्रकार सब मिलकर अनुनासिकयुक्त तीन और अनुस्वारयुक्त तीन रूप हुए। (अनुनासिकेति) शकारके आगे आनेवाले खय्को द्वित्व होताहै (वा० ५०१९) ऐसा "अनचि च" इस सूत्र पर वार्तिक है, उससे अनुनासिकयुक्त तीनों रूपोंके ककारको विकल्पसे द्वित्व होकर उनके छः रूप हुए। अनुस्वारयुक्त जो तीन रूप हैं, उनमेंके ककारको इसी प्रकारसे द्वित्व होकर छः रूप हुए और उन छहोंमें फिर अनुस्वारको शरोंमें ही गिना है, इस कारण "अनचि च" इससे उसको विकल्पसे द्वित्व होकर छः के बारह रूप हुए, इस प्रकार सब मिलकर अठारह रूप हुए, इन अठारह रूपोंके तकारको "अचो रहाभ्यां द्वे ८।४।४६/५९" इससे द्वित्व किया, और "यणो मयो द्वे वाच्ये ५४" इस वार्तिकसे फिर द्वित्व करनेसे एक त, दो त, और तीन त, इसप्रकारसे अठारहसे तिगुने (५४) रूप हुए, फिर (अण इति) "अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः ८।४।५७/११०" इससे अन्त्य अच्को विकल्पसे अनुनासिक होनेसे १०८ रूप सिद्ध होतेहैं * ॥

अगले सूत्र भी रुप्रकरणके ही हैं, पुम् + कोकिलः । पुम् + पुत्रः इस स्थितिमें-

१३९ पुमः खय्यम्परे । ८ । ३ । ६ ॥

अम्परे खयि पुमशब्दस्य रुः स्यात् । व्युत्पत्तिपक्षेऽप्रत्ययस्येति षत्वपर्युदासात् ×क×पयोः प्राप्तौ । अव्युत्पत्तिपक्षे तु षत्वप्राप्तौ सत्यां संपुंकानामिति सः । पुँस्कोकिलः । पुंस्कोकिलः । पुँस्पुत्रः । पुंस्पुत्रः । अम्परे किम् । पुंक्षीरम् । खयि किम् । पुंदासः । ख्याञादेशे न । पुंख्यानम् ॥

१३९-अम् प्रत्याहार परे है जिससे ऐसा खय परे हो तो पुम् शब्दके मकारके स्थानमें रु (र्) होताहै। रुत्वप्रकरणके कारण पिछले वर्णको अनुस्वार और अनुनासिकयुक्त कहाहै इसस विकल्प करके दो रूप हुए पुँर्+कोकिलः-पुंर्+कोकिलः फिर रेफको "खरवसा० ८।३।१५/७६" से विसर्ग हुआ।

शब्दोंका ज्ञान दोप्रकारसे होताहै-व्युत्पत्ति अर्थात् शब्दके प्रकृति प्रत्ययादिकोंका ज्ञान होनेसे, अथवा केवल रूढि अर्थात् जनव्यवहारसे।

फिर इसमें जो व्युत्पत्तिपक्ष लिया जाय तो "पातेर्डुम्सुन्" (उणादि ४ । १) इससे 'पा-रक्षणे' धातुसे डुम्सुन् (उम्स्) प्रत्यय होकर पुम्स् शब्द बना है उसका कोकिलशब्दके साथ समास होनेपर "संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३/५४" से उसमेंका सकार जाकर पुम् शब्द शेष रहा, इस कारण उसका मकार प्रत्ययका अवयव है और उसके स्थानमें विसर्ग आयाहै, इससे "इदुदुपधस्य० ८।३।४१/१५५" इस सूत्रसे आगे ककार पकार रहतेभी उस विसर्गके स्थानमें षकारका निषेध होताहै क्योंकि वह प्रत्ययावयवसंभिन्न ही विसर्गको होताहै इसीसे "कुप्वोः×क×पौ च ८।३।३७/१४२" सूत्रसे ×क ×प की प्राप्ति है। और यदि अव्युत्पत्तिपक्ष (केवल रूढिसे ही अर्थका ज्ञान जिसमें) माना जाय तो प्रकृति प्रत्ययका भेद न होनेसे अप्रत्यय शब्द ठहरकर "इदु० १५५" इससे विसर्गके स्थानमें षत्व प्राप्त होताहै। परन्तु इन सबको बाधकर "सम्पुंका०" (वा० ४८९२) से सं, पुं, कान्, इन शब्दोंके विसर्गोंको सकार ही होताहै, इस पूर्वसूत्रके वार्तिकसे सकार ही हुआ, पुँस्कोकिलः। पुंस्कोकिलः (कोयल पक्षियोंमें नर)। पुँस्पुत्रः । पुंस्पुत्रः (पुत्र यह पुरुष)। अम् जिसके आगे हो ऐसा खय् यह क्यों कहा ? तो इससे अन्यत्र रु नहीं होता पुम्+क्षीरम्=पुंक्षीरम् (पुरुषके निमित्त क्षीर) यहां कके बाद ष है वह अम्में नहीं जाता। खय् आगे रहते ऐसा क्यों कहा? तो इससे अन्यत्र न हो, यथा-पुम्+दासः=पुंदासः (पुरुषदास) यहां अम् रहते भी खय्के न रहनेसे रु न हुआ॥ * चक्ष धातुके स्थानमें ख्याञ् आदेश करनेपर न होगा (वा० १५९१) "चक्षिङः ख्याञ् २।४।५४/२४३६" इससे आर्द्धधातुक प्रत्ययसे पहले 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' धातुको ख्याञ् आदेश होताहै सो 'अम्पर खय् होते भी' पुम् शब्दको रु नहीं होता पुम्+ख्यानम्=पुंख्यानम् (पुरुषका वर्णन) हुआ॥

१४० नश्छव्यप्रशान् । ८ । ३ । ७ ॥

अम्परे छवि नकारान्तस्य पदस्य रुः स्यात् । न तु प्रशान्शब्दस्य । विसर्गः । सत्वम् । श्चुत्वम् । शार्ङ्गिँश्छिन्धि । शार्ङ्गिंश्छिन्धि । चक्रिँस्त्रायस्व । चक्रिंस्त्रायस्व । पदस्य किम् । हन्ति । अम्परे किम् । सन् त्सरुः खड्गमुष्टिः । अप्रशान् किम् । प्रशान्तनोति ॥

१४०-अम् जिसके आगे हो ऐसा छव परे रहते नकारान्त पदको रु होताहै, परन्तु प्रशान् शब्दको रु नहीं होता। शार्ङ्गिन्+छिन्धि ऐसी स्थिति रहते नकारके स्थानमें रु हुआ विसर्ग, सत्व, श्चुत्व अर्थात् "खरवसानयोः० ८।३।१५/७६" से रुको विसर्ग "विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४/१३८" इससे विसर्गको स और फिर 'छ' आगे रहनेसे श्चुत्व और सत्वके कारण अनुनासिक तथा पक्षमें अनुस्वार होकर शार्ङ्गिँश्छिन्धि। शार्ङ्गिंश्छिन्धि। (हे शार्ङ्गिन् कृष्ण छेदन कर), इसी प्रकारसे चक्रिन्+त्रायस्व=चक्रिँस्त्रायस्व

* यह एक सौ आठ रूप बताये तो हैं पर लिखनेमें नहीं आते केवल सँस्स्कर्ता वा संस्स्कर्ता यही दो रूप लिखनेमें आतेहैं, कहीं सकार व तकारको द्वित्व दिखाई देताहै, बुद्धि सूक्ष्म करने और सूत्रोंकी गति दिखानेको लिखे है॥

चक्रिंस्त्रायस्व(हे चक्रिन् रक्षा करो) ऐसे दो रूप हुए। नकारान्त पदको ऐसा क्यों कहा?तो पदान्त न होनेसे रु नहीं होता,यथा- हन्+ति=हन्ति (मारताहै) यहां आगे छव् होते हुए भी नकारको रुत्व न हुआ। अम् आगे रहते ऐसा क्यों कहा? तो अन्यत्र नहीं होता सन्+त्सरुः=सन्त्सरुः (खड्गमुष्टि—तल्वारकी मूठी) छव् तकारके रहते भी सको अम्में न होनेसे रु न हुआ। प्रशान् शब्दको रु नहीं होता इससे प्रशान्+तनोति= प्रशान्तनोति (शान्त मनुष्य विस्तार करताहै) यहां रु न हुआ ॥

१४१ नॄन्पे । ८ । ३ । १० ॥

नॄनित्यस्य रुः स्याद्वा पकारे परे ॥

१४१-नॄन् इस शब्दके नकारके स्थानमें विकल्प करके रु हो पकार परे रहते। "उभयथर्क्षु ८ । ३ । ८" इस सूत्रसे 'उभयथा' इसकी अनुवृत्ति आतीहै, इस आशयसे ही वृत्तिकारने विकल्पका निर्देश किया है ॥

१४२ कुप्वोः ≍क≍पौ च।८।३।३७॥

कवर्गे पवर्गे च परे विसर्जनीयस्य क्रमाज्जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ स्तः । चाद्विसर्गः । येन नाप्राप्तिन्यायेन विसर्जनीयस्य स इत्यस्यापवादोयम् । न तु शर्परे विसर्जनीय इत्यस्य । तेन वासः क्षौममित्यादौ विसर्ग एव । नॄँ≍पाहि । नॄँ≍ पाहि । नॄँः पाहि । नॄंः पाहि । नॄन्पाहि ॥

१४२-कवर्ग, पवर्ग परे रहते विसर्गके स्थानमें क्रमसे जिह्वामूलीय और उपध्मानीय आदेश हों अर्थात् कवर्ग परे रहते जिह्वामूलीय और पवर्ग परे रहते उपध्मानीय हों, सूत्रमें चकारनिर्देशसे विसर्ग भी हो अर्थात् चकारसे "शर्परे विसर्जनीयः ८ । ३ । ३५" इस सूत्रसे विसर्गकी अनुवृत्ति आतीहै ।

"येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति" अर्थात् जिस कार्यकी अवश्य प्राप्तिमें जिसका आरंभ किया जाताहै, वह उस कार्यका अपवाद (बाधक) होताहै । और जिसकी प्राप्ति अप्राप्तिमें सर्वथा जिसका आरंभ है वह उसका बाधक नहीं होता, इस न्यायके अनुसार आगे खर् रहते विसर्गको सकार होताहै इस $\frac{८।३।३४}{१३८}$ सूत्रका प्रस्तुत सूत्र बाधक है, 'जिसके आगे शर् हो ऐसा खर् आगे रहते विसर्गको विसर्ग ही रहताहै' $\frac{८।३।३५}{१५०}$ इस सूत्रका बाधक नहीं होता, इसकारण वासः क्षौमम् (रेशमी वस्त्र) इत्यादि शब्दोंमें ष् यह शर् जिससे परे है ऐसा क् जो खर् सो आगे होते विसर्गको विसर्ग ही रहताहै, परन्तु—नॄन् + पाहि (मनुष्योंकी रक्षा करो) ऐसी स्थितिमें पूर्वसूत्रसे विकल्प करके रुत्व होताहै और रुत्वके कारण अनुनासिक और अनुस्वार यह दो भेद होतेहैं और फिर विसर्ग होनेपर प्रस्तुत सूत्रसे विसर्गके स्थानमें उपध्मानीय या विसर्ग, ऐसे दो पाक्षिक रूप होतेहैं, ऐसे सब मिलकर पांच रूप हुए । नॄँ≍ पाहि । नॄं≍ पाहि । नॄंः पाहि । नॄँः पाहि । नॄन्पाहि ॥

१४३ कानाम्रेडिते । ८ । ३ । १२ ॥

कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते परे । संपुंकानामिति सः । यद्वा ।

१४३-आम्रेडित (द्विरुक्तिमें का पररूप) $\frac{८।१।२}{८३}$ परे रहते कान् शब्दके नकारको रु (र्) होताहै, उसको 'संपुंकानाम्०' इस वार्तिकसे स् होताहै । अथवा-

१४४ कस्कादिषु च । ८ । ३ । ४८ ॥

एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य षः स्यादन्यत्र तु सः । ≍ क ≍पयोरपवाद इति सः काँस्कान् । कांस्कान् । कस्कः । कौतस्कुतः । सर्पिष्कुण्डिका । धनुष्कपालम् । आकृतिगणोयम् ॥

१४४-कस्कादि गणके शब्दोंमें इण्के पश्चात् आनेवाले विसर्गके स्थानमें ष् होताहै, और जहां इण् नहीं वहां "कुप्वोः० $\frac{८।३।३७}{१४२}$" सूत्रका यह सूत्र अपवाद है, इसकारण स् होताहै । ("सोपदादौ ८ । ३ । ३८" । "इणः षः" ८।३।३९ " इन दो सूत्रोंसे स् और ष् की अनुवृत्ति आतीहै) काँस्कान्-कांस्कान् (किन२को) । कस्कः (कौन २) । कौतस्कुतः (कहांका २) । सर्पिष्कुण्डिका (घीका पात्र) । धनुष्कपालम् (धनुषकी रस्सी) । यह आकृतिगण है सि० ७९ की टीप देखो *॥

१४५ संहितायाम् । ६ । १ । ७२ ॥

इत्यधिकृत्य ॥

१४५-यह अधिकार सूत्र है अर्थात् इस प्रकरणमें इसके परे जो सूत्र कहे जांयगे वह सब संहिता अर्थमें जानने चाहिये ॥

१४६ छे च । ६ । १ । ७३ ॥

ह्रस्वस्य छे परे तुगागमः स्यात्संहितायाम् । चुत्वस्यासिद्धत्वाज्जश्त्वेन दः । ततश्चर्त्वस्यासिद्धत्वात्पूर्वं चुत्वेन जः । तस्य चर्त्वेन चः । चुत्वस्यासिद्धत्वाच्चोः कुरिति कुत्वं न । स्वच्छाया । शिवच्छाया ॥

१४६-'छ' परे रहते ह्रस्वको तुक्का आगम हो संहिताके विषयमें, तुक्के उकार और ककारकी इत् संज्ञा हुई ("ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१" इस सूत्रसे ह्रस्व और तुक् इन दोनों पदोंकी अनुवृत्ति आतीहै) । सवासात अध्यायके सामने त्रिपादी और त्रिपादीमें भी पूर्वके प्रति पर सूत्र असिद्ध हैं, यह पहले ही कहदियाहै, स्व+छाया इसमें आगे छकार होनेसे तुक् करनेके उपरान्त तकारके स्थानमें "स्तोः श्चुना श्चुः $\frac{८।४।४०}{१११}$" इस सूत्रसे चकार होना चाहिये था,परन्तु चुत्वके असिद्ध होनेसे"झलां जशोन्ते $\frac{८।२।३९}{८४}$"

* कस्कादिगणः—कस्कः । कौतस्कुतः । भ्रातुष्पुत्रः । शुनस्कर्णः । सद्यस्कालः । सद्यस्क्रीः । सद्यस्कः । कांस्कान् सर्पिष्कुण्डिका । धनुष्कपालम् । बर्हिष्पलम् (बर्हिष्पलम्) । यजुष्पात्रम् । अयस्कान्तः । तमस्काण्डः । अयस्काण्डः मेदस्पिण्डः । भास्करः । अयस्करः । आकृतिगणोऽयम् ।

से दकार हुआ, फिर " खरि च ८।४।५५/१२१ " इस चर्त्वके असिद्ध होनेके कारण पहले "स्तोः श्चु० ८।४।४०/१११ " से चवर्ग होकर दकारके स्थानमें ' ज् ' हुआ और फिर चर्त्व ८।४।५५/१२१ होकर च् हुआ, इस चकार १२१ के असिद्ध होनसे "चोः कुः ८।२।३०/२७८" से चकारको ' क् ' नहीं होता । स्वच्छाया (अपनी छाया) । शिवच्छाया (शिवकी छाया) ।

सूत्रांकोपर ध्यान देनेसे असिद्धत्व सहजमें समझमें आवेगा " चोः कुः ८।२।३०/२७८ " से अच् शब्दका अक् रूप होना चाहिये था परन्तु स्पष्टताके निमित्त नहीं होता, इस विषयको 'चोः कुः' सूत्र पर ही लिखेंगे ॥

१४७ आङ्माङोश्च ।६।१।७४॥

एतयोश्छे परे तुक् स्यात् । पदान्ताद्वेति विकल्पापवादः । आच्छादयति । माच्छिदत् ॥

१४७–छकार परे रहते आङ् (आ) इस उपसर्ग और माङ् (मा) इस निषेध वाचकको तुक् (त्) का आगम होताहै " पदान्ताद्वा ६।१।७६/१४९ " इस सूत्रके विकल्पका यह अपवाद है । " इस सूत्रमें आङ् और माङ् शब्दमें सानुबंध निर्देशका फल यह है कि,गति कर्मप्रवचनीय आ शब्दका और निषेध वाचक माशब्दका ही ग्रहण होताहै अन्यका नहीं " आ+छादयति=आच्छादयति (ढकताहै) । मा+छिदत्=माच्छिदत् (मत ढको) । तुक् को चकार पिछले सूत्रकी समान हुआ ॥

१४८ दीर्घात् । ६ । १ । ७५ ॥

दीर्घाच्छे परे तुक् स्यात् । दीर्घस्यायं तुक् न तु छस्य । सेनासुराच्छायेति ज्ञापकात् । चेच्छिद्यते ॥

१४८–छ परे रहते दीर्घको तुक् हो यह तुक् दीर्घको होताहै छकारको नहीं—

' उभयनिर्देशे पंचमीनिर्देशो बलीयान् ' यह परिभाषा पीछे (१३१ सूत्रमें) आईहै, तो भी यहां दीर्घात् यह पंचमी षष्ठीके अर्थमें है, इसकारण दीर्घको आगम होताहै, इसमें " विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम् २।४।२५/८२८ " इस सूत्रका निर्देश ही ज्ञापक है । इस सूत्रमें छ के पूर्वका जो ' ए ' उसको तुक् ' त् ' हुआहै और कित्वके कारण अन्त्य भागमें हुआहै, जो छकारको तुक् होता तो वह छकारके पश्चात् आकर अनिष्ट रूप बनजाता चे+छिद्यते=चेच्छिद्यते (फिर २ काटा जाताहै) ॥

१४९ पदान्ताद्वा । ६ । १ । ७६ ॥

दीर्घात्पदान्ताच्छे परे तुग्वा स्यात् । लक्ष्मीच्छाया । लक्ष्मीछाया ॥

॥ इति हल्संधिः ॥

१४९–आगे छ रहते पदान्त दीर्घको विकल्प करके तुक् होताहै । लक्ष्मी+छाया=लक्ष्मीच्छाया । लक्ष्मीछाया (लक्ष्मीकी छाया) ॥

इति हल्सन्धिप्रकरणम् ।

अथ विसर्गसन्धिः ।

"विसर्जनीयस्य सः" ८ । ३ । ३४ ॥ (सू० १३८) ।

विष्णुस्त्राता ॥

" विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४/१३८ " खर् परे रहते विसर्गके स्थानमें सकार होताहै । विष्णुः+त्राता=विष्णुस्त्राता (रक्षा करनेवाले विष्णु) यह रूप सिद्ध होताहै *॥

१५० शर्परे विसर्जनीयः ।८।३।३५॥

शर्परे खरि विसर्जनीयस्य विसर्जनीयो न त्वन्यत् । कः त्सरुः । घनाघनः क्षोभणः । इह यथायथं सत्वं जिह्वामूलीयश्च न ॥

१५०–शर् जिसके आगे हो ऐसा खर् परे रहते विसर्गके स्थानमें विसर्ग ही होताहै और कुछ नहीं होताहै । कः+त्सरुः= कः त्सरुः (कौनसी तलवारकी मूठ) । घनाघनः+क्षोभणः= घनाघनः क्षोभणः (इन्द्रप्रेरक) यहां विसर्ग ही रहताहै विसर्गके स्थानमें विसर्ग ही होनेका फल यह है कि यथाक्रम इसके स्थानमें स् और जिह्वामूलीय न हुए ॥

१५१ वा शरि । ८ । ३ । ३६ ॥

शरि परे विसर्जनीयस्य विसर्जनीय एव वा स्यात् । हरिः शेते । हरिश्शेते ॥ खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः ॥ * ॥ राम स्थाता । रामः स्थाता।हरि स्फुरति । हरिः स्फुरति । पक्षे विसर्गे सत्वे च त्रैरूप्यम् । कुप्वोः ≍ क≍पौ च । क≍ करोति । कः करोति । क≍ खनति । कः खनति । क≍ पचति । कः पचति । क≍ फलति । कः फलति ॥

१५१–शर् परे रहते विसर्गके स्थानमें विकल्प करके विसर्ग हो अर्थात् पक्षमें ८।३।३४/१३८ से सकार और ८।४।४०/१११ से श्चुत्व होताहै । हरिः+शेते=हरिः शेते, हरिश्शेते (हरि सोताहै)।*खर् प्रत्याहार जिसके आगे हो ऐसा शर् परे रहते विकल्प करके विसर्गका लोप होताहै (वा० ४९०६) रामः+स्थाता–राम स्थाता, रामः स्थाता । (राम स्थित होनेवाला) । हरिः+ स्फुरति=हरि स्फुरति, हरिः स्फुरति (हरि हिलताहै)। एक पक्षमें विसर्ग रहकर उसके स्थानमें सकार हुआ तो सब मिलकर तीन रूप होंगे । रामस्स्थाता । हरिस्स्फुरति । " कुप्वोः ≍क≍पौ च ८।३।३७/१४२ "आगे कवर्ग पवर्ग होते विसर्गके स्थानमें विसर्ग अथवा अनुक्रमसे जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय होतेहैं। क≍ करोति । कः करोति (कौन करताहै) । क≍ खनति ।

---

* विष्णुस्+त्राता यह आदिका रूप है इसको "ससजुषो रुः ८।२।६६/१६२" इससे स् के स्थानमें रु (र्) और "खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५/७६" से खर् आगे होनेसे रेफके स्थानमें विसर्ग होकर विष्णुः+त्राता ऐसी स्थिति हुई और इस प्रस्तुत सूत्रका कार्य पूर्ण हुआ, इसीप्रकार आगे भी जानना चाहिये । यद्यपि यह सूत्र कार्यवश पहले आचुका है तथापि इसका मुख्य कार्यस्थान यही है इसलिये फिर भी यहां रखके उदाहरण दिखाया गया है ॥

कः खनति (कौन खोदताहै) । क≍ फलति । कः फलति (कौन फल देताहै) ।

यहां पाक्षिक विसर्गलोपका वार्तिक है, वह ठीक है, तथापि अल्प अभ्यासवालोंको उससे संशय होनेका सम्भव जानकर पुस्तकोंमें प्रायः लोप नहीं करते ॥

१५२ सोऽपदादौ । ८ । ३ । ३८ ॥

विसर्जनीयस्य सः स्यादपदाद्योः कुप्वोः परयोः॥ पाशकल्पककाम्येष्विति वाच्यम् ॥ *॥ पयस्पाशम् । यशस्कल्पम् । यशस्कम् । यशस्काम्यति ॥ अनव्ययस्येति वाच्यम् ॥ * ॥ प्रातःकल्पम् ॥ काम्ये रोरेवेति वाच्यम् ॥ * ॥ नेह । गीः काम्यति ॥

१५२–पदके आदिमें स्थित न हों ऐसे कवर्ग पवर्ग परे रहते विसर्गके स्थानमें स् होताहै परन्तु* पाश,कल्प,क, काम्य इन प्रत्ययोंके परे रहते ही विसर्गके स्थानमें स् हो ऐसा कहना चाहिये (वा० ५०३३) । पयः+पाशम्=पयस्पाशम् (कुत्सित पय) । यशः+कल्पम्=यशस्कल्पम् (यशके समान) । यशः+कम्=यशस्कम् (अल्पयश) । यशः+काम्यति=यशस्काम्यति (यशकी इच्छा करताहै)॥* अव्यय-सम्बन्धी विसर्गको क, प आगे रहते यह सकार नहीं होता, ऐसा कहना चाहिये (वा० ४९०१) इस कारण प्रातः-कल्पम् (प्रातःकालके कुछ पहले) अव्यय होनेके कारण इसमें विसर्गके स्थानमें सकार नहीं होता ॥* काम्य शब्द (प्रत्यय) आगे आवे तो रु के स्थानमें हुए विसर्गहीके स्थानमें सकार होताहै, ऐसा कहना चाहिये (वा० ४९०२) इस कारण गीः काम्यति (वाणीकी इच्छा रखताहै) यहां स् नहीं होता * ॥

१५३ इणः षः । ८ । ३ । ३९ ॥

इणः परस्य विसर्गस्य षकारः स्यात्पूर्वविषये । सर्पिष्पाशम् । सर्पिष्कल्पम् । सर्पिष्कम् । सर्पिष्काम्यति ॥

१५३–पाशकल्प इत्यादि पूर्वसूत्रोक्त शब्द (प्रत्यय) परे रहते इ, उ इनके आगेके विसर्गको मूर्द्धन्य ष् होताहै । सर्पिः+पाशम्=सर्पिष्पाशम् (बुरा घी) । सर्पिः+कल्पम्=सर्पिष्कल्पम् (घीके समान) । सर्पिः+कम्=सर्पिष्कम् (थोडा घी) सर्पिः+काम्यति=सर्पिष्काम्यति (घीकी इच्छा करताहै) ॥

१५४ नमस्पुरसोर्गत्योः।८।३।४०॥

गतिसंज्ञयोरनयोर्विसर्गस्य सः कुप्वोः परयोः। नमस्करोति । साक्षात्प्रभृतित्वात्कृञो योगे विभाषा गतिसंज्ञा । तदभावे नमः करोति । पुरोऽव्ययमिति नित्यं गतिसंज्ञा । पुरस्करोति । अगतित्वान्नेह । पूः । पुरौ । पुरः प्रवेष्टव्याः ॥

१५४–नमस् और पुरस् इन गतिसंज्ञक शब्दोंके विसर्गके स्थानमें कवर्ग, पवर्ग परे रहते सकार होताहै । नमः+करोति=नमस्करोति (नमन करताहै) । साक्षात्प्रभृतिगण १।४।७४/७७५ में नमस् शब्द होनेसे कृञ् धातुके योगमें इसकी विकल्प करके गति संज्ञा होतीहै, इससे गति अभावमें नमः करोति ऐसा ही रूप रहेगा । "पुरोऽव्ययम् १।४।६७/७६८" से पुर् अव्यय नित्य गतिसंज्ञक है । इस कारण पुरः + करोति=पुरस्करोति (आगे करताहै) ऐसा रूप हुआ । पुर् शब्दका बहुवचन जो पुरः (अनेक नगरी) शब्द है सो अव्यय न होनेसे गतिसंज्ञक नहीं है, इस कारण पुरः प्रवेष्टव्याः (प्रवेश करनेके योग्य नगरी) इसमें स् नहीं होता॥

१५५ इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य । । ८ । ३ । ४१ ॥

इकारोकारोपधस्याऽप्रत्ययस्य विसर्गस्य षः स्यात्कुप्वोः । निष्प्रत्यूहम् । आविष्कृतम् । दुष्कृतम् । अप्रत्ययस्य किम् । अग्निः करोति । वायुः करोति । एकादेशशास्त्रनिमित्तकस्य न षत्वम् । कस्कादिषु भ्रातुष्पुत्रशब्दस्य पाठात् । तेनेह न । मातुः कृपा ॥ मुहुसः प्रतिषेधः ॥ * ॥ मुहुःकामा ॥

१५५–आगे कवर्ग, पवर्ग रहते उपधारूप ह्रस्व इकार उकारके आगे रहनेवाले अप्रत्ययरूप विसर्गके स्थानमें ष् होताहै । निः+प्रत्यूहम्=निष्प्रत्यूहम् (विघ्नरहित) । आविः+कृतम्=आविष्कृतम् (प्रकटित) दुः+कृतम्=दुष्कृतम् (बुरा काम) । अप्रत्ययका विसर्ग ऐसा क्यों कहा ? अग्निः करोति (अग्नि करताहै) । वायुः करोति (वायु करताहै) इनका विसर्ग प्रथमाके सुप्रत्ययका रूपान्तर है, इस कारण इसके स्थानमें षत्व नहीं हुआ (एकादेशेति) "ऋत उत् ६।१।१११/२७९" ऋकारान्त शब्दके आगे पंचमी षष्ठीका अस् प्रत्यय रहते ऋ और अ इन दोनोंके स्थानमें 'उ' ऐसा एकादेश होताहै, और ऋ के स्थानमें वह उ है इस कारण "उरण् रपरः १।१।५१/७०" से 'उर्' ऐसा उसका रूप होताहै और अस्मेंका शेष रहा स् आगे जुड कर उर्स् रूप होताहै परन्तु "संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३/५४" से सकार लुप्त होकर उर् इतना ही अंश रहताहै और उस रेफके स्थानमें "खरवसानयो० ७६" से विसर्ग होताहै, ऐसे स्थानमें आदेशशास्त्रके निमित्तसे उत्पन्न हुआ विसर्ग चाहे उकारोपध और अप्रत्ययवाला हो,तो भी कवर्ग, पवर्ग आगे रहते उसके स्थानमें षत्व नहीं होता । किस आधारसे ? तो ऐसे प्रसंगमें यदि षत्व प्राप्त होता तो कस्कादिगण ८।३।४८/१४४ में जान बूझ कर भ्रातुः पुत्रः (वा० ४९१५) इससे भ्रातुष्पुत्रः (भाईका लडका) ऐसा षकारयुक्त शब्द

---

* यहां रु-शब्दसे "ससजुषो रुः ८।२।६६/१६२" इससे सान्त शब्दको अथवा प्रत्ययके स्थानमें होनेवाला जो रु (र्) उसके स्थानमें होनेवाला जो विसर्ग वह लेना चाहिये, केवल रेफ नहीं लेना, इस कारण गीःकाम्यति इसमें गिर्शब्दके मूल रेफके स्थानमें "खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५/७६" से विसर्ग होनेके कारण उसके स्थानमें स् नहीं होता, विसर्ग ही रहताहै, परन्तु यशः इसमें यशस् ऐसा सान्त शब्द होते स् के स्थानमें रु होकर विसर्ग हुआहै, इस कारण उसके स्थानमें स् होकर यशस्कल्पम् । यशस्काम्यति इत्यादि प्रयोग सिद्ध हुएहैं ॥

सिद्ध होताहै, यह कहनेका कुछ प्रयोजन नहीं था, सामान्य नियमसे ही वह शब्द सिद्ध होजाता, तथापि जब वह शब्द गणपाठमें पठित है, तो यह विदित हुआ कि भ्रातुष्पुत्र शब्द छोड कर और कहीं इस प्रसंगमें षत्व नहीं होता, इस कारण मातुः कृपा (माताकी कृपा) इस शब्दमें षत्व नहीं होता। (वा० ४९११) * यद्यपि मुहुः (पुनः) इस शब्दका विसर्ग उदुपधावाला है और अप्रत्यय सकारके स्थानमें हुआहै, तो भी कवर्ग पवर्गके पहले उस विसर्गके स्थानमें षत्व नहीं होता मुहुःकामा (फिर इच्छा करनेवाली) ॥

१५६ तिरसोऽन्यतरस्याम् ।८।३।४२॥

तिरसः सो वा स्यात्कुप्वोः । तिरस्कर्ता । तिरःकर्ता ॥

१५६–कवर्ग, पवर्ग आगे रहते तिरस् शब्दके विसर्गके स्थानमें विकल्पसे सत्व होताहै । तिरः+कर्ता=तिरस्कर्ता । तिरः कर्ता (तिरस्कार करनेवाला) ॥

१५७ द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोर्थे ।८।३।४३॥

कृत्वोर्थे वर्तमानानामेषां विसर्गस्य षकारो वा स्यात्कुप्वोः । द्विष्करोति । द्विः करोति इत्यादि । कृत्वोर्थे किम् । चतुष्कपालः ॥

१५७–कृत्वस् (सुच्) प्रत्ययके अर्थ (कितनी एक बेर) को दिखानेवाले द्विः, त्रिः, चतुः, इन शब्दोंके विसर्गके स्थानमें विकल्प करके षकार होताहै, आगे कवर्ग, पवर्ग रहते । द्विष्करोति । द्विः करोति (दो बार करताहै) । इत्यादि जानना । कृत्वोऽर्थ क्यों कहा ? तो इससे भिन्न अर्थमें विकल्प न होकर षत्व ही होताहै, चतुः+कपालः=चतुष्कपालः (चार कपालमें संस्कृत पुरोडाश) ॥

१५८ इसुसोः सामर्थ्ये ।८।३।४४॥

एतयोर्विसर्गस्य षः स्याद्वा कुप्वोः । सर्पिष्करोति । सर्पिः करोति । धनुष्करोति । धनुः करोति । सामर्थ्यमिह व्यपेक्षा । सामर्थ्ये किम् । तिष्ठतु सर्पिः पिब त्वमुदकम् ॥

१५८–कवर्ग, पवर्ग आगे रहते आकांक्षा होनेपर इस्, उस् इनके सकारके स्थानमें होनेवाले विसर्गके स्थानमें विकल्प करके ष् होताहै । सर्पिष्करोति । सर्पिः करोति (घी बनाताहै) । धनुष्करोति । धनुः करोति । (धनुष बनाताहै)। सामर्थ्य शब्दका अर्थ यहां अन्वयका बोध होनेके निमित्त शब्दविशेषकी विशेष अपेक्षा होनाहै । ऐसी व्यपेक्षा होते ऐसा क्यों कहा ? तो व्यपेक्षा न होनेसे षत्व नहीं होता–तिष्ठतु सर्पिः, पिब त्वमुदकम् (घी रहने दो पानी पी लो) 'सर्पिः' और 'पिब' इनमें कुछ व्यपेक्षा नहीं इस कारण षत्व नहीं हुआ * ॥

* "अथात्वाभिहितं समानाधिकरणमसमर्थवद्भवति" अर्थात् चाहे समान द्रव्यके बोधक शब्द हों तथापि जो उनमें क्रियापद न हो तो उसमें सामर्थ्य अर्थात् व्यपेक्षा नहीं है ऐसा समझना चाहिये । सर्पिः पवित्रम् इसमें षत्व नहीं हुआ ॥

१५९ नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य ।८।३।४५॥

इसुसोर्विसर्गस्याऽनुत्तरपदस्थस्य समासे नित्यं षः स्यात्कुप्वोः परयोः । सर्पिष्कुण्डिका । अनुत्तरपदस्थस्येति किम् । परमसर्पिःकुण्डिका । कस्कादिषु सर्पिष्कुण्डिकाशब्दोऽसमासे व्यपेक्षाविरहेऽपि षत्वार्थः, व्यपेक्षायां नित्यार्थश्च ॥

१५९–उत्तर पदमें स्थित न हों ऐसे इस् और उस् शब्दोंके विसर्गके स्थानमें सर्वदा षकार हो कवर्ग पवर्ग परे रहते समासमें । सर्पिः+कुण्डिका=सर्पिष्कुण्डिका (घीका पात्र) । उत्तरपदमें न हो ऐसा क्यों कहा? तो परमसर्पिःकुण्डिका (बडा घीका पात्र) । इसमें सर्पिः के पहले परम शब्द होनेसे विसर्गको षत्व नहीं होता । कस्कादि $\frac{८।३।४८}{१४४}$ गणमें सर्पिष्कुण्डिका शब्द जो आयाहै, सो तो इसलिये कि, समास न होते, व्यपेक्षा न होते, केवल सामीप्यसे ही उसमें षत्व हो,और जहां व्यपेक्षा हो वहां तो षत्व नित्य ही हो ॥

१६० अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ।८।३।४६॥

अकारादुत्तरस्यानव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्यं सकारादेशः स्यात्करोत्यादिषु परेषु न तूत्तरपदस्थस्य । अयस्कारः । अयस्कामः । अयस्कंसः । अयस्कुम्भः । अयस्पात्रम् । अयःसहिता कुशा अयस्कुशा । अयस्कर्णी । अतः किम् । गीःकारः । अनव्ययस्य किम् । स्वःकामः । समासे किम् । यशः करोति । अनुत्तरपदस्थस्य किम् । परमयशःकारः ॥

१६०–कृ धातु, कमि धातु, कंस, कुंभ, पात्र, कुशा, कर्णी, इनमेंसे कोईसा शब्द आगे होय तो अकारके आगे आनेवाले अनव्ययसम्बन्धी विसर्गके स्थानमें समासमें नित्य सकार होताहै, परन्तु उत्तर पदमें स्थित विसर्ग हो, तो सकार नहीं होता । अयस्कारः (लुहार) । अयः+कामः=अयस्कामः (लोहा चाहनेवाला) । अयस्कंसः (लोहेका पात्रविशेष) । अयस्कुम्भः (लोहेका घडा) । अयस्पात्रम् (लोहेका पात्र)। अयःसहिता कुशा अयस्कुशा (लोह सहित औदुम्बरशंकु)[1] अयस्कर्णी (लोहेका बाणविशेष) । अकारके आगे ऐसा क्यों कहा ? तो गीःकारः, इसमें सकार नहीं होता । अनव्यय क्यों कहा? तो स्वःकामः (स्वर्गकी इच्छा करनेवाला) । इसमें स्वः अव्यय है, इस कारण विसर्गके स्थानमें सकार न हुआ । स्वः इसका मूलरूप स्वर् ऐसा रेफान्त है । समासमें क्यों कहा ? तो अन्यत्र स् नहीं होता, जैसे–यशः करोति (यश करताहै) इस स्थलमें समास न होनेके कारण विसर्गके स्थानमें 'स्' न हुआ । अनुत्तरपदस्थ क्यों कहा ? तो उत्तर पदमें

१ छन्दोगाः स्तोत्रीयगणनार्थानौदुम्बराञ्शङ्कून् 'कुशा' इति व्यवहरन्ति ।

होनेसे 'स्' नहीं होता, जैसे परमयशःकारः (बडा यश करनेवाला) यहां उत्तरपदस्थ होनेके कारण विसर्गके स्थानमें 'स्' न हुआ ॥

१६१ अधःशिरसी पदे ।८।३।४७।

एतयोर्विसर्गस्य सादेशः स्यात्पदशब्दे परे। अधस्पदम् । शिरस्पदम् । समास इत्येव । अधः पदम् । शिरः पदम । अनुत्तरपदस्थस्येत्येव । परमशिरःपदम् ॥

कस्कादिषु च । भास्करः ॥

॥ इति विसर्गसंधिः ॥

१६१-पद (स्थान) शब्द आगे रहते अधः (नीचे) और शिरः (शिर) शब्दके विसर्गके स्थानमें स् आदेश होताहै । अधः+पदम्=अधस्पदम् (नीचे स्थान)।शिरः+पदम्=शिरस्पदम् (शिरस्थान) । इस सूत्रमें भी समासमें ही स् हो, यह कहना चाहिये अन्यत्र विसर्ग रहेगा । अधः+पदम्=अधः पदम् । शिरः+पदम्=शिरः पदम् । (मस्तक, पद) यहां समास न होनेसे विसर्गको सकार न हुआ । यहां भी अनुत्तरपदमें स्थित विसर्गके स्थानमें ही सकार कहना चाहिये । उत्तरपदमें होनेसे न हो, परमशिरःपदम् (बडा मस्तक पद) यहां पूर्वपद परम होनेके कारण विसर्गको स् न हुआ । कस्कादि १४४ गणमें पाठके कारण आकारसे परे विसर्गको सकार होताहै । भाः+करः=भास्करः (सूर्य) यहां विसर्गको सकार हुआ ॥

इति विसर्गसन्धिप्रकरणम् ॥

अथ स्वादिसन्धिः ।

स्वौजसमौडिति सुप्रत्यये शिवस् अर्च्य इति स्थिते-

सु (स्), औ, जस् (अस्), अम्, औट् (औ) इत्यादि विभक्ति प्रत्यय आगे ४।१।२/१८३ सूत्रमें कहेंगे उनमेंका सु (स्) प्रथमाका एकवचन प्रत्यय शिव शब्दके आगे लानेसे शिव+स् रूप हुआ, उसके आगे अर्च्यः (पूज्य) शब्दके आनेसे शिवस्+अर्च्यः ऐसी स्थिति हुई, तब-

१६२ ससजुषो रुः । ८ । २ । ६६ ॥

पदान्तस्य सस्य सजुषशब्दस्य च रुः स्यात्। जश्त्वापवादः ॥

१६२-पदान्तमें स्थित सकार और सजुष् (खेलकी गुइयाँ) शब्दके षकारके स्थानमें रु हो । "झलां जशोऽन्ते ८।२।३९/८४" सूत्रका यह अपवाद है ॥

१६३ अतो रोरप्लुतादप्लुते।६।१।११३॥

अप्लुतादतः परस्य रो रुः स्यादप्लुतेऽति । भो भगो अघो इति प्राप्तस्य यत्वस्याऽपवादः । उत्वं प्रति रुत्वस्याऽसिद्धत्वं तु न भवति । रुत्वमनूद्य उत्वविधेः सामर्थ्यात् ॥

१६३-अप्लुत अकार आगे रहते अप्लुत अकारसे परे रु के स्थानमें 'उ' होताहै । ("ऋत उत् ६।१।१११/२७९" सूत्रसे उत्की अनुवृत्ति आतीहै) । यह सूत्र "भोभगोअघो० ८।३।१७/१६७" का अपवाद है अर्थात् इस सूत्रसे यकार प्राप्त है सो न हो । रुत्वविधायक सूत्र "ससजुषो रुः ८।२।६६/१६२" यह यद्यपि त्रिपादीका है और उत्वविधायक "अतो रो० ६।१।११३/१६३" यह सपादसप्ताध्यायीका है, तथापि उत्वसूत्रके प्रति रुत्व असिद्ध नहीं होता, कारण कि त्रिपादीके सूत्रसे होनेवाले रुत्वका सपादसप्ताध्यायीके सूत्रमें रोः ऐसा स्पष्ट उच्चारण करके उसके स्थानमें उत्वका विधान कियाहै । तब शिव उ+अर्च्यः ऐसी स्थिति हुई-* ॥

१६४ प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ।६।१।१०२॥

अकः प्रथमाद्वितीययोरचि परे पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात् । इति प्राप्ते ॥

१६४-अक् (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) के आगे प्रथमा और द्वितीया इन विभक्तियोंका अच् आवे तो दोनोंके स्थानमें मिल कर पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होताहै ("इको यणचि ६।१।७७/४७", "अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१/८५", "एकः पूर्वपरयोः ६।१।८४/६८" इन तीन सूत्रोंसे अच्, अक् और दीर्घ एकादेशकी अनुवृत्ति आतीहै) इसकी प्राप्ति होनेपर-

१६५ नादिचि। ६ । १ । १०४ ॥

अवर्णादिचि परे न पूर्वसवर्णदीर्घः । आद्गुणः। एङः पदान्तादति। शिवोऽर्च्यः। अत इति तपरः किम । देवा अत्र । अतीति तपरः किम् । श्व आगन्ता । अप्लुतात्किम् । एहि सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि । प्लुतस्याऽसिद्धत्वादतः परोयम् । अप्लुतादिति विशेषणे तु तत्सामर्थ्यान्नासिद्धत्वम् । तपरकरणस्य तु न सामर्थ्यं दीर्घनिवृत्त्या चरितार्थत्वात् । अप्लुते इति किम् । तिष्ठतु पय अ ३ ग्निदत्त । गुरोरनृत इति प्लुतः ॥

१६५-अवर्णसे इच् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश न हो । इस कारण "आद् गुणः ६।१।८७/६९"से गुण होकर शिवो-अर्च्यः ऐसी स्थिति हुई, फिर "एङः पदान्तादति ६।१।१०९/८६" इस सूत्रसे पूर्वरूप हुआ, तब शिवोऽर्च्यः ऐसा रूप सिद्ध हुआ ।

इन दोनों सूत्रोंका आगे बार बार काम पडेगा इस कारण इनके नियम ध्यानमें रखने चाहिये ।

"अतो रोः० ६।१।११३/१६३" इसमें अतः ऐसा तपर 'अ' क्यों कहा? तो दीर्घके आगे रु को उत्व नहीं हो । देव+अस्=अत्र इस स्थितिसे देवास्+अत्र ऐसी स्थिति होते स को रुत्व हुआ परन्तु फिर आगे उत्व न होते "भोभगो० ८।३।१७/१६७"

---

* पीछे रुत्वप्रकरणमें जो रु होताहै, उसके अनुनासिक अनुस्वार यह कार्य पृथक् हैं, वे उतनेहीके निमित्त हैं यहां उनका कुछ सम्बन्ध नहीं यह स्पष्ट करनेके निमित्त ही अत्र (यहां) ऐसा शब्द सूत्रमें उस स्थानपर दियाहै ८।३।२/१३६ पर ध्यान दो ॥

से रुके स्थानमें यत्व हुआ और "लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९/६७" से विकल्प करके यकारका लोप होकर देवा अत्र (बहुतसे देवता यहां) ऐसा रूप बना और देवायत्र ऐसा भी रूप बना ।

उसी सूत्रमें अशि ऐसा तपर 'अ' क्यों कहा ? तो आगे आ आनेपर भी उत्व नहीं होता । श्वस्+आगन्ता मिल कर पूर्ववत् यत्व, और विकल्पसे य का लोप होकर श्व आगन्ता (कल आवेगा) ऐसा रूप सिद्ध हुआ ।

अप्लुत अकारके आगे क्यों कहा ? तो एहि सुस्रोत३ः+अत्र स्नाहि (हे सुस्रोत यहां आओ और न्हाओ) । सुस्रोतस् किसी मनुष्यका नाम है उसके संबोधनमें "दूरा ते च ८।२।८४/९५" इस सूत्रसे प्लुत हुआहै । इसमें सुस्रोतस्के सकारको रुत्व होकर "खरवसानयो० ८।३।१५/७६" से विसर्ग हुआ है, दूसरे सम्बोधनके कारण अकारको प्लुतत्व हुआ, परन्तु "अतो रो०"इस सूत्रके प्रति प्लुत असिद्ध होनेके कारण उसको यह केवल ह्रस्व अकारके आगे है ऐसा दीखताहै, तो यद्यपि वह अकार प्लुत है तो भी उसके आगे उत्वकी प्राप्ति होजीहै इसी कारण 'अप्लुतात्' ऐसा सूत्रमें ही विशेषण लगाया हुआहै इससे उसकी सामर्थ्यके कारण असिद्धत्व नहीं होता । तो फिर उस तपरको चरितार्थता कहां ? अर्थात् उसके कार्यको स्थान कहां है ? तो उसीसे दीर्घकी निवृत्ति होतीहै इतनी ही चरितार्थता उसके निमित्त बस है ।

प्लुत आगे न होते ऐसा क्यों कहा ? तो तिष्ठतु पय अ३ग्निदत्त (हे अग्निदत्त दूध रहने दे) यहां "गुरोरनृतो० ८।२।८६/९७" इससे प्लुत हुआहै, इस कारण रुको उत्व न होते "भोभगो० ८।३।१७/१६७" से यत्व और "लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९/६७" से विकल्प करके यकारका लोप हुआ ॥

१६६ हशि च । ६ । १ । ११४ ॥

अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्याद्धशि । शिवो वन्द्यः । रोरित्युकारानुबन्धग्रहणान्नेह । प्रातरत्र । धातर्गच्छ । देवास् इह इति स्थिते । रुत्वम् ॥

१६६–आगे 'हश्' रहते अप्लुत अकारसे परे रु के स्थानमें 'उ' होताहै । शिवस्+वन्द्यः इसमें स् को रुत्व, उत्व, गुण होकर शिवो वन्द्यः (शिव पूजनीय) ऐसा रूप बना । (रोरिति०) "अतो रो०" इससे रु ऐसा उकारयुक्त शब्द लियागयाहै, इस कारण वह उकारानुबन्ध रेफ लेना चाहिये केवल रेफ नहीं लेना, इस कारण प्रातर्+अत्र इसमें मूलका ही रेफ होनेसे रेफके स्थानमें 'उ' नहीं होता, रेफही रहताहै । प्रातरत्र (यहां प्रातःकाल) । उसी प्रकार धातर्+गच्छ मिल कर धातर्गच्छ ऐसा हुआ (हे विधाता जाओ) ॥

देवास्+इह ऐसी स्थिति रहते पहले १६२ से रुत्व हुआ, फिर–

१६७ भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि । ८ । ३ । १७ ॥

एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशः स्यादशि परे । असन्धिः सौत्रः । लोपः शाकल्यस्य । देवा इह । देवायिह । अशि किम् । देवाः सन्ति । यद्यपीह यत्वस्याऽसिद्धत्वाद्विसर्गो लभ्यते तथापि विसर्गस्य स्थानिवद्भावेन रुत्वाद्यत्वं स्यात् । न ह्ययमल्विधिः । रोरिति समुदायरूपाश्रयणात् । भोस्, भगोस्, अघोस्, इति सकारान्ता निपाताः । तेषां रोर्यत्वे कृते ॥

१६७–भो, भगो, अघो अथवा अवर्ण है पूर्व जिसके ऐसे रु के स्थानमें य् आदेश होताहै अश् परे होते अर्थात् भोस, भगोस्, अघोस्, अस्–आस्के सकारके स्थानमें हुए रु को यकारादेश होताहै अश् परे रहते । इस सूत्रमें भगो, अघो–आदिमें संधि नहीं की है तो (असन्धिः सौत्रः) सूत्रोंमें जो कुछ लौकिक व्याकरणानुसार न दीखे वह सौत्र अर्थात् सूत्रसम्बन्धी होनेके कारण ऋषिप्रणीत होनेसे निर्दोष माना जाताहै, वैसाही यहां भी है । देवास् इसमें सकारको रुत्व होकर इस सूत्रसे यत्व होनेके पश्चात् "लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९/६७" से विकल्प करके यकारका लोप हुआ, तब–देवा इह और देवायिह (बहुत देवता यहां) ऐसे दो रूप हुए ।

आगे अश् रहते क्यों कहा ? तो अश्से भिन्न वर्ण आगे रहते यत्व नहीं होता, देवास् सन्ति इसमें रुत्व होकर अगले सकारके कारण "खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५/७६" इससे देवाः सन्ति (देवता हैं) ऐसा सिद्ध हुआ । (यद्यपीति) यद्यपि रु के स्थानमें 'भोभगो०' इस सूत्रसे होनेवाला यत्व असिद्ध होकर "खरवसानयोः०" इससे विसर्ग प्राप्त होताहै, तो भी वह विसर्ग स्थानिवद्भावसे रु ही है इसी कारण उसके स्थानमें फिर इस से यत्व हो जायगा, परन्तु अल्विधि- (अर्थात् एकही वर्णके स्थानमें आदेश प्राप्त होकर कोई कार्य होने)में स्थानिवद्भाव १।१।५६/४९ नहीं होता, फिर यहां कैसे हुआ ? (उत्तर–) यहां रु अर्थात् (र् उ) इन दो वर्णोंके समुदायको मिलाकर आदेश कहा हुआहै इस कारण अल्विधि होती ही नहीं इसीसे ऐसा होनेमें कोई हानि नहीं* ॥

भोस्, भगोस्, अघोस् यह सकारान्त निपात हैं, उनके रुके स्थानमें यत्व करनेके पश्चात्–

१६८ व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य । ८ । ३ । १८ ॥

पदान्तयोर्वकारयकारयोर्लघूच्चारणौ वयौ वा स्तोऽशि परे । यस्योच्चारणे जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानां शैथिल्यं जायते स लघूच्चारणः ॥

१६८–अश् परे रहते पदान्तमें स्थित वकार और यकारके स्थानमें विकल्प करके लघूच्चारण व् य् होतेहैं । जिसके उच्चारणमें जीभके अग्र, उपाग्र, मध्य, मूल इनको शिथिलता होतीहै, वह लघूच्चारण कहाताहै यह शाकटायनका मत है ॥

* अवर्णके अन्तर्गत अ, आ, इन दोनोंका ग्रहण होताहै, यह बात स्पष्ट है,परन्तु इस सूत्रको त्रिपादीका होनेके कारण पूर्वके चार सूत्रोंके कार्य प्रथम होकर, रहे अवकाशमें इसका कार्य होगा, इस पर ध्यान रखना चाहिये ॥

१६९ ओतो गार्ग्यस्य । ८ । ३ । २० ॥

ओकारात्परस्य पदान्तस्याऽलघुप्रयत्नस्य यकारस्य नित्यं लोपः स्यात् । गार्ग्यग्रहणं पूजार्थम् । भो अच्युत । लघुप्रयत्नपक्षे भोयच्युत । पदान्तस्य किम् । तोयम् ॥

१६९-ओकारसे पर पदान्तमें स्थित अलघुप्रयत्नवाले (भोभगो० १६७ से हुए) यकारका नित्य लोप हो यह गार्ग्यका मत है । इसमें गार्ग्य शब्दसे विकल्प नहीं जानना, यह गार्ग्यग्रहण केवल पूजाके निमित्त है । भोरु+अच्युत ऐसी स्थिति होनेपर रुके स्थानमें यत्व होकर फिर उसका लोप होनेसे भो अच्युत (हे विष्णु) ऐसा रूप हुआ, और ८।३।१८/१६८ से लघुप्रयत्न होते यलोप न होनेपर भोयच्युत ऐसा रूप हुआ ।

पदान्त यकारके स्थानमें क्यों कहा ? तो अपदान्तमें लोप नहीं होता, तोयम् (जल) इसमें यकारका लोप न हुआ ॥

१७० उञि च पदे । ८ । ३ । २१ ॥

अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोप उञि परे। स उ एकाग्निः । पदे किम् । तन्त्रयुतम् । वेञः संप्रसारणे रूपम् । यदि तु प्रतिपदोक्तो निपात उञिति ग्रहीष्यते तर्ह्युत्तरार्थं पदग्रहणम् ॥

१७०-अवर्णसे पर पदान्तमें स्थित यकार और वकारका लोप हो उञ् (उ) परे रहते । सस् उ एकाग्निः इसमें स्के स्थानमें जो य् होताहै, उसका लोप होकर स उ एकाग्निः (वही एक अग्नि) ऐसा रूप हुआ, इसमें विकल्प नहीं हुआ । उ यह एकाच् निपात होनेसे प्रगृह्य है, इस कारण अगले वर्णसे उसकी सन्धि नहीं हुई ।

(पदे किम्) पदे क्यों कहा ? तो तन्त्रयुतम्, यह 'वेञ् (वे) तन्तुसन्ताने' (तन्तुबुनना) इस धातुको सम्प्रसारण ६।१।१६/१४१२ होकर उतम् (उञ्तम्) ऐसा जो क्त प्रत्ययान्त रूप होताहै, वह तन्त्रे इसके आगे होनेसे उसका उञ् (उ) इतना ही अंश पद न होनेसे तन्त्रय् इसके यकारका लोप न होकर तन्त्रयुतम् (तंत्रमें गुथा हुआ) ऐसा संधिका रूप होताहै । यदि प्रतिपदोक्त (उञ् शब्दसे उच्चारण किया हुआ) जो 'उ' निपात उसीका ग्रहण किया जाय तो 'पदे' जो अधिक है उसको "ङमो ह्रस्वादचि० ८।३।३२/१३४" यह जो अगला सूत्र है उसके लिये जानना चाहिये ॥

१७१ हलि सर्वेषाम् । ८ । ३ । २२ ॥

भोभगोअघोअपूर्वस्य लघ्वलघूच्चारणस्य यकारस्य लोपः स्याद्धलि सर्वेषां मतेन। भो देवाः। भो लक्ष्मि । भो विद्वद्वृन्द । भगो नमस्ते । अघो याहि । देवा नम्याः । देवा यान्ति । हलि किम् । देवायिह ॥

१७१-आगे हल् होते भो, भगो, अघो और अ, इनके आगे सकारके स्थानमें प्राप्त हुआ जो लघुउच्चारण और अलघुउच्चारण यकार उसका सब आचार्योंके मतमें लोप होताहै । भोस्+देवाः=भो देवाः (हे देवताओ) । भोस्+लक्ष्मि=भो लक्ष्मि (हे लक्ष्मी) । भोस्+विद्वद्वृन्द=भो विद्वद्वृन्द (हे विद्वान्समूह) । भगोस्+नमस्ते=भगो नमस्ते (हे भगो तुमको प्रणाम है) अघोस्+याहि=अघो याहि (अरे पापी तू जा) । देवास्+नम्याः=देवा नम्याः (देवता पूज्य) । देवास्+यान्ति=देवा यान्ति (देवता जातेहैं) ।

(हलि किम्) आगे हल् होते ऐसा क्यों कहा ? तो अच् परे रहते यकारका लोप नहीं होगा, जैसे-देवास्+इह=देवायिह (देवता यहां) और "लोपः शाकल्यस्य" इससे विकल्प करके यकारका लोप होकर देवा इह ऐसा भी रूप होताहै ॥

१७२ रोऽसुपि । ८ । २ । ६९ ॥

अह्नो रेफादेशः स्यान्न तु सुपि । रोरपवादः। अहरहः । अहर्गणः । असुपि किम् । अहोभ्याम् । अत्राहन्निति रुत्वम् ॥ रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम् ॥ * ॥ अहोरूपम् । गतमहो रात्रिरेषा । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वादहोरात्रः । अहो रथन्तरम् । अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः ॥ * ॥ विसर्गापवादः । अहर्पतिः । गीर्पतिः । धूर्पतिः । पक्षे विसर्गोपध्मानीयौ ॥

१७२-अहन् शब्दके नकारके स्थानमें रेफ आदेश हो, यदि सुप् परे हो तो न हो । "सु औ जस्० ४।१।२/१८३" सूत्रमें कहे हुए २१ विभक्तिप्रत्ययोंको सुप् कहतेहैं । 'अहन्' इसको पदान्तमें रुत्व ८।२।६८/४४३ होताहै, उसका यह अपवाद है । (यहां "अहन् ८।२।६८/४४३" सूत्रसे अहन् शब्दकी अनुवृत्ति आतीहै) *॥

अहन् शब्दके आगे जो प्रथमाका सु (स्) प्रत्यय, उसका "स्वमोर्नपुंसकात् ७।१।२३/३१९" इससे लुक् होगयाहै, इस कारण उसके आगे सुप्रत्यय न होनेसे अहर् ऐसा रूप हुआ, तब अहर्+अहर् की सन्धि होकर अहरहर् और आगे अवसान होनेसे अहरहः रूप हुआ (दिनदिन) । इसी प्रकार अहन्+गणः=अहर्गणः (दिनोंका समुदाय) ।

आगे सुप् न होते ऐसा क्यों कहा ? तो सुप् रहते रेफ नहीं होता, यथा-अहन्+भ्याम्=अहोभ्याम् (दो दिन पीछे) यहां भ्याम् प्रत्ययके कारण पदान्तत्वके होनेसे "अहन् ८।२।६८/४४३" से रुत्व हुआहै ।

---

* रेफका अर्थ र् और रुका अर्थ भी र् है परन्तु उसमें भेद यह है कि, जब रुका उच्चारण हो तब वहां उत्व, वा विसर्ग यह अलग २ कार्य होतेहैं, और वैसे रेफको नहीं होते, वह सन्धिमें वैसा ही रहताहै, अथवा अवसान होते उसको विसर्ग होताहै, यह बात पिछले सब प्रकरणोंसे सहजही ध्यानमें आजायगी ॥

* रूप, रात्रि, रथन्तर, यह शब्द आगे होते अहन् शब्दको रुत्व होताहै (४८४७ वा०) यथा–अहन्+रूपम्=अहोरूपम् (दिवसका रूप)। गतमहो रात्रिरेषा (दिन बीता यह रात है).।

(एकदेशेति) शब्दके किसी एक अंशमें विकार हुआ हो तो भी वह शब्द उससे अन्य नहीं होता, मूल शब्दके समान ही रहताहै, ऐसी परिभाषा है। रात्रिशब्दका ही रात्रः रूपान्तर है उसके पहले अहन् शब्दको रुत्व ही होताहै, इस कारण अहोरात्रः (दिन और रात)। अहन्+रथन्तरम्=अहोरथन्तरम् (दिनमें रथसे जानेवाला) (साम)।* "अहरादीनाम्" (वा० ४८५१) आगे पति आदि शब्द आवें तो अहन् इत्यादिकोंको विकल्पसे रेफ होताहै, यह विसर्गका अपवाद है। अहन्+पतिः=अहर्पतिः (सूर्य)। गिर्+पतिः=गीर्पतिः (बृहस्पति)। धुर्+पतिः=धूर्पतिः (धुरंधर)। और पक्षमें विसर्ग अथवा उपध्मानीय होतेहैं ॥

१७३ रो रि। ८। ३। १४॥

रेफस्य रेफे परे लोपः स्यात् ॥

१७३–रेफ आगे रहते रेफका लोप होताहै। ("ढो ढे लोपः ८।३।१३" इससे लोपकी अनुवृत्ति आतीहै)॥

१७४ ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोणः ६। ३। १११॥

ढरेफौ लोपयतीति तथा तस्मिन्वर्णेऽर्थाद् ढकाररेफात्मके परे पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात्। पुना रमते। हरी रम्यः। शंभू राजते। अणः किम्। तृढः। वृढः। तृहू हिंसायाम्। वृहू उद्यमने। पूर्वग्रहणमनुत्तरपदेऽपि पूर्वमात्रस्यैव दीर्घार्थम्। अजर्घाः। लीढः। मनस् रथ इत्यत्र रुत्वे कृते हशि चेत्युत्वे रो रीति लोपे च प्राप्ते ॥

१७४–ढकार और रेफका जो लोप करै उसका नाम ढ्रलोप अर्थात् ढकार और रेफको लोप करनेवाले ढकार और रेफ आगे रहते पूर्व अण्को दीर्घ होताहै। (यहां अण् प्रथम णकारसे लेना)। पुनर्+रमते=पुना रमते (फिर खेलताहै)। हरिर्[1]+रम्यः=हरी रम्यः (विष्णु मनोहर है)। शम्भुर्+राजते=शम्भू राजते (शिव शोभित होतेहैं)।

(अणः किम्)अण्(अ इ उ) को दीर्घ क्यों कहा?तो अन्यत्र दीर्घ नहीं होता, यथा–तृढ्+ढः=तृढः[2] (मरा हुआ)। वृढ्+ढः=वृढः (उद्युक्त) 'तृहू (तृह्) हिंसायाम्' (मारना), 'वृहू (वृह्) उद्यमने' उद्योग करना) इन धातुओंसे यह शब्द बनेहैं, इनको दीर्घ नहीं होता।

(पूर्वेति) अनुत्तर पदमें अर्थात् एक ही पदके दो रेफ वा दो ढकार हों तो वहां भी पूर्व ही अण्को दीर्घ होताहै, यह दिखानेके निमित्त सूत्रमें 'पूर्वस्य' कहाहै। अजर्घाः–'गृधु–अभिकांक्षायाम्' (इच्छा करनी)। गृध–यङ् "यङो ऽचि च $\frac{२।४।७४}{२६५०}$" इससे यङ्का लुक् "चर्करीतञ्च" इससे यङ्लुक्को अदादिमें होनेके कारण "भूवादयो धातवः" इससे धातुसंज्ञा हुई "सन्यङोः" इससे द्वित्व होकर गृध् गृध् हुआ, तब अभ्यास संज्ञा होकर "उरत्" इससे अभ्यास ऋवर्णको रपर उकार हुआ "हलादिः शेषः" इससे रेफ और धकारका लोप हुआ "कुहोश्चुः ७।४।६२" इससे अभ्यास ग को ज होगया, "रुग्रिकौ च लुकि $\frac{७।४।९१}{२६५२}$" इससे अभ्यासको रुक् (र्) का आगम होकर जर्गृध् हुआ तब "लुङ्लङ् $\frac{६।४।७१}{२२०६}$" इससे अट्का आगम, और लङ्के स्थानमें सिप् "इतश्च $\frac{३।४।१००}{२२०७}$" इससे सिप्के इकारका लोप और "एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः $\frac{८।२।३७}{३२६}$" इससे जर्गृधके गकारको घकार,ऋकारको गुण रपर अकार हुआ, सकारको "हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् $\frac{६।१।६८}{२५२}$" इससे लोप हुआ "झलाञ्जशोऽन्ते $\frac{८।२।३८}{८४}$" इससे ध् को द् हुआ द् को "दश्च $\frac{४।२।७५}{२४६८}$" इससे रु (र्) हुआ "रो रि $\frac{८।३।१४}{१७३}$" इससे रेफका लोप और "ढ्रलोपे पूर्वस्य० $\frac{६।३।१११}{१७४}$" इससे पूर्व अण्को दीर्घ आकार होकर अजघार् हुआ तब "खरवसानयो० ४।३।१५" इससे रेफको विसर्ग होकर अजर्घाः ऐसा रूप बना ॥

लीढः–'लिहू–आस्वादने' (स्वादलेना) इसके आगे क्त प्रत्यय आया तब लिह्+क्त=लिह्+त फिर "हो ढः८।२।३१" से लिढ्+त तब "झषस्तथोर्धोऽधः ८।२।४०" से लिढ्+ध=तब "ष्टुना ष्टुः ८।४।४४" से लिढ्+ढ फिर "ढो ढे लोपः ८।३।१३" से ढकारका लोप फिर इसी १७४ सूत्रसे पूर्व अण्को दीर्घ होकर लीढः (चाटा हुआ) रूप हुआ। यहां ढलोपके प्रति ष्टुत्व असिद्ध न होगा कारण कि ढकारके परे लोप विधिका सामर्थ्य होनेसे ॥

मनस्+रथः इसमें रुत्व करनेके पश्चात् "हशि च $\frac{६।१।११४}{१६६}$" से उत्व और "रो रि $\frac{८।३।१४}{१७३}$" से लोप इस प्रकारसे दो कार्य प्राप्त हुए, तब—

१७५ विप्रतिषेधे परं कार्यम्। १।४।२॥

तुल्यबलविरोधे सति परं कार्यं स्यात्। इति लोपे प्राप्ते। पूर्वत्रासिद्धमिति रो रीत्यस्यासिद्धत्वादुत्वमेव। मनोरथः ॥

१७५–तुल्यबलविरोध[1] उपस्थित होनेपर अर्थात् किसी नियमका जो समानबल बिरोध प्राप्त हो तो उन दोनोंमेंसे पर अर्थात् अगले सूत्रका कार्य करना चाहिये तब इस सूत्रके द्वारा लोप प्राप्त होनेपर "पूर्वत्रासिद्धम्–८। २। १" इस सूत्रसे "रो रि ८। ३। १४" के असिद्धत्वके कारण उत्व ही हुआ, तब मनोरथः (मनकी इच्छा) ऐसा रूप सिद्ध हुआ ॥

---

१ हरिस् और शम्भुस् ऐसे आदिरूप थे, सकारको रुत्व होकर हरिर् और शम्भुर् यह रूप हुएहैं ॥ २ तृढः–तृह+तस् (तः) इसमें और वृढः–वृह+तस् (तः) इसमें लीढः के सब सूत्र क्रमसे लगेहैं। परंतु लोप होनेके पश्चात् अण् न होनेसे केवल ऋको दीर्घ नहीं हुआ।

१ भिन्न भिन्न जगह दोनों सूत्रोंका कार्य होता हो और एक जगह दोनोंकी साथ ही प्रवृत्ति हो उसको तुल्यबलविरोध कहतेहैं ॥

१७६ एतत्तदोः सुलोपोकोरनञ्समासे हलि । ६ । १ । १३२ ॥

अककारयोरेतत्तदोयः सुस्तस्य लोपः स्याद्धलि न तु नञ्समासे । एष विष्णुः । स शंभुः । अकोः किम् । एषको रुद्रः । अनञ्समासे किम् । असः शिवः । हलि किम् । एषोत्र ॥

१७६-ककारयुक्त न हों ऐसे जो एतद् (यह) और तद् (वह) इन दोनों शब्दोंके आगे का जो सु (स्) उसका हल् परे रहते लोप हो परन्तु नञ्समासमें न हो । यथा-एषस्+विष्णुः=एष विष्णुः (यह विष्णु) । सस्+शम्भुः=स शम्भुः (वह शिव) ।

ककारयुक्त न हों ऐसा क्यों कहा ? तो ककार रहते लोप नहीं होता, यथा-एषकस्+रुद्रः=एषको रुद्रः (यह रुद्र) । नञ्समासमें न हों ऐसा क्यों कहा? तो असस्+शिवः=असश्शिवः (वह शिव नहीं) । यहां नञ्समास होनेके कारण सकारका लोप नहीं हुआ । आगे हल् होते ऐसा क्यों कहा ? तो आगे अच् होते लोप नहीं होता, यथा-एषस्+अत्र=एषोऽत्र (वह यहां) इस प्रकार संधि हुई ॥

१७७ सोचि लोपे चेत्पादपूरणम् । ६ । १ । १३४ ॥

स इत्येतस्य सोर्लोपः स्यादचि पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत । सेमामविड्ढिप्रभृतिम् । इह ऋक्पाद एव गृह्यत इति वामनः । अविशेषाच्छ्लोकपादोपीत्यपरे । सैष दाशरथी रामः । लोपे चेदिति किम् । स इच्क्षेति । स एवमुक्त्वा । सत्येवेत्यवधारणं तु स्यश्छन्दसि बहुलमिति पूर्वसूत्राद्बहुलग्रहणानुवृत्त्या लभ्यते । तेनेह न । सोहमाजन्मशुद्धानाम् ॥

॥ इति स्वादिसन्धिः ॥

१७७-यदि लोप करनेपर ही चरणकी पूर्ति होती हो तो अच् परे रहते सः इस पदके सु (स्) विभक्तिका लोप हो अन्यत्र नहीं, यथा-"सेमामविड्ढिप्रभृतिंयईशिषेऽयाविधेमनवयासहागिरा । यथानोमीढ्वान्स्तवतेसखातवबृहस्पतेसीषधः सोतनोमतिम्" (ऋ० मं० २ सू० २४ मं० १ ।) इसमें इमाम् शब्द आगे रहते पादपूर्तिके निमित्त ससके सकारका लोप हुआ है तब सस्+ इमाम्=स+ इमाम् फिर गुण होकर सेमाम् हुआ. यहां ऋग्वेदका ही पाद लेना चाहिये ऐसा वामन नाम वैयाकरणका मत है, परन्तु 'अविशेषात्' ऋक्पाद ही लेना ऐसा कहीं कहा हुआ नहीं है, इस कारण श्लोकपाद भी ले सकतेहैं, ऐसा दूसरे वैयाकरण कहतेहैं, यथा-"सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः ।

सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः ॥"

इस श्लोकमें भी सस्+एषः इसमें स्का लोप होकर स+एषः हुआ फिर "वृद्धिरेचि०. ७२" से सैषः ऐसी सन्धि हुई (लोपे चेदिति) लोप होनेसे ही पाद पूर्ण होताहै ऐसा क्यों कहा ? तो पादपूर्तिका बखेडा न हो तो लोप न हो, यथा-"स इत्क्षेति सुधित ओकसिस्वेतस्मा इळा पिन्वते विश्वदानीम् । तस्मै विशः स्वयमेवानमन्ते यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति (ऋ० म० ४ सू० ५० ऋ० ८ ।) इसमें स इत् इसमें सुका लोप नहीं होता, परन्तु "भोभगो० ८।३।१७/१६७" से सकारको यत्व होकर उसका "लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९/६७" से विकल्पसे लोप होकर स इत्क्षेति ऐसा रूप हुआ, इसमें यत्व और यकारका लोप असिद्ध होनेसे फिर "आद् गुणः ६।१।८७/६९" नहीं होता । इसी प्रकारसे "स एवमुक्त्वा०" (रघु० स० ३ श्लो० ५२) इसमें जानो । "स्यश्छन्दसि बहुलम् ६।१।१३३/३५२६" इस सूत्रसे बहुलग्रहणकी अनुवृत्तिसे लोप होते ही पाद पूर्ण होता हो तो ऐसा (एव) निश्चयार्थ प्राप्त होताहै (तेनेह न) इस कारण अगले उदाहरणमें सु का लोप नहीं होता यथा-"सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्" यहां सस्+अहम्=सरु+अहम्-सउ+अहम्=सो+अहम्-सोऽहम्("एङः पदान्तादति") से अकारको पूर्व रूप हुआ, तब 'सोहमाजन्मशुद्धानाम्' (रघु० स० ९ श्लो० ५) *॥

इति स्वादिसन्धिप्रकरणम् ॥

अथाजन्तपुँल्लिङ्गाः ।

१७८ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् । १ । २ । ४५ ॥

धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात् ॥

१७८-धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्तभिन्न जो अर्थवान् (जिसका अर्थ हो ऐसा) शब्द, उसकी प्रातिपदिक संज्ञा हो * ॥

* यहां साहम् इस सूत्रसे और सोऽहम् पिछले सूत्रोंसे सिद्ध होताहै परन्तु अक्षर दोनोंमें बराबर रहतेहैं, तब बहुलके कारण यहां साहम् न होकर सोऽहम् हुआ अर्थात् इस सूत्रके नियमकी प्राप्ति न हुई । तत्त्वबोधिनीकार कहतेहैं कि बहुलग्रहणसे यह प्रयोजन है कि, कहीं पादपूर्तिके विना भी लोप होताहै, यथा-स+अस्मै+अरम्-का सास्मा अरम् हुआहै और जो 'सोहमाजन्म०' पर पादपूर्तिका निश्चयार्थ लातेहैं, उनको सास्माअरम् इत्यादिमें सुलोपकी अनापत्ति होगी, इससे तत्त्वबोधिनीके अनुसार दोनों ठीक रहतेहैं ॥

संधि करते समय सामासिक शब्दोंका विग्रह उनके अवयवोंकी विभक्ति इत्यादिका ज्ञान होना बहुत उपयोगी है, परन्तु वह कहने लगें तो बडा विस्तार होनेसे सीखनेवाला गडबडमें पड जायगा, इससे ऐसा न किया, तो भी अभ्यास होते २ आगे समझमें आताजायगा ॥

* प्रत्यय पदकी आवृत्ति होनेसे एक प्रत्ययपद प्रत्ययपर और दूसरा प्रत्ययान्तपर होताहै, इस कारण प्रत्ययान्त शब्द वृत्तिमें अधिक बढायाहै ॥

अर्थवत्का ग्रहण क्यों किया? तो 'धनम्, वनम्' यहां प्रातिपदिक संज्ञा न होनेसे प्रत्येक वर्णसे स्वादिकी उत्पत्ति नहीं होती । अधातुग्रहण क्यों किया ? तो 'अहन्' यहां प्रातिपदिकसंज्ञा न होनेसे-

१७९ कृत्तद्धितसमासाश्च।१।२।४६॥

कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च प्रातिपदिकसंज्ञाः स्युः । पूर्वसूत्रेण सिद्धे समासग्रहणं नियमार्थम्। यत्र संघाते पूर्वो भागः पदं तस्य चेद्भवति तर्हि समासस्यैव । तेन वाक्यस्य न ॥

१७९–अन्तमें कृत्प्रत्यय और तद्धितप्रत्ययवाले शब्द तथा समासकी प्रातिपदिक संज्ञा हो ।

(पूर्वेति०) पूर्वसूत्रके द्वारा समासमें प्रातिपदिकत्व सिद्ध होनेपर भी फिर इस सूत्रमें समासग्रहण, नियमके कारण कियाहै अर्थात् जिस वर्णसंघातमें पूर्व भाग पद हो तो उसकी यदि प्रातिपदिकसंज्ञा हो तो वह समासहीकी संज्ञा जाननी चाहिये यह बात दिखानेको फिर समासग्रहण कियाहै इससे यह विदित हुआ कि वाक्यकी प्रातिपदिकसंज्ञा नहीं होती * ॥

१८० प्रत्ययः । ३ । १ । १ ॥

आ पञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारोयम् ॥

१८०–यह अधिकारसूत्र है, यह तीसरे अध्यायके प्रारम्भसे पांचवें अध्यायके अन्ततक चलताहै अर्थात् इतने अवकाशमें प्रत्यय कहेहैं ॥

१८१ परश्च । ३ । १ । २ ॥

अयमपि तथा ॥

१८१–प्रत्यय आगे लगताहै, यह नियम दिखानेको यह अधिकारसूत्र है, इसका भी पांचवें अध्यायके अन्ततक अधिकार है ॥

१८२ ङ्याप्प्रातिपदिकात् ।४।१।१॥

ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्चेत्यापञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारः । प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमित्येव सिद्धे ङ्याब्ग्रहणं ङ्याबन्तात्तद्धितोत्पत्तिर्यथा स्यात् ङ्याब्भ्यां प्राङ् मा भूदित्येवमर्थम् ॥

१८२–ङीप्रत्ययान्त, आप्प्रत्ययान्त और प्रातिपदिक इन सम्पूर्ण पदोंका अधिकार पाँचवें अध्यायकी समाप्तितक जानना । ङी और आप् यह प्रत्यय आगे लगनेसे स्त्रीवाचक नाम सिद्ध होतेहैं, वे प्रत्यय आगे स्त्रीप्रकरण (सि० ४५३–५३१) में कहेहैं, ङीके अन्तर्गत ङीप्, ङीष्, ङीन् ऐसे तीन जानने ।

–नूका लोप नहीं होता । अप्रत्ययग्रहण क्यों किया? तो हरिषु करोषि यहां प्रत्ययको प्रातिपदिक न होनेसे "सात्पदाद्योः ८।३।१११" से षत्वका निषेध नहीं हुआ । यहां वृत्तिमें प्रत्ययान्तको छोडकर ऐसा क्यों किया ? तो हरिषु करोषि यहां ही प्रत्ययसहितको प्रातिपदिक संज्ञा न होनेसे "सुपो धातु०" से विभक्तिका लोप नहीं होता ॥

* पूर्वसूत्रमें प्रत्ययान्तका निषेध होते भी कृदन्त और तद्धितान्त प्रातिपदिक होतेहैं यह दिखानेको यहां उनका उच्चारण कियाहै । कृत् (सि० २८२९–३३८६), तद्धित (१०७२–२१३८) और समास (६४७–१०७१) तकके सूत्रोंके देखनेसे ध्यानमें आवेगा ॥

(प्रातिपदिकेति) प्रातिपदिकके ग्रहणमें लिङ्गबोधक प्रत्यय विशिष्टका ग्रहण होताहै । इस परिभाषाके रहते फिर ङ्यन्त और आबन्त पृथक् पढनेका क्या कारण ? तो उत्तर यह है कि ङ्यन्त और आबन्त शब्दोंको जब तद्धित प्रत्यय लगतेहैं तब वे तद्धितप्रत्यय ङी, आप् प्रत्ययोंके अनन्तर लगने चाहिये उनके पूर्वभ न लगाये जायँ यह दिखानेको कहाहै * ॥

१८३ स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् । ४ । १ । २ ॥

ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः । सुङस्योरुकारेकारौ जशटङपाश्चेतः ॥

१८३–ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिक, इनके आगे सु है आरम्भमें जिनके ऐसे स्वादि प्रत्यय लगतेहैं । स्वादि प्रत्यय यहांसे पांचवें अध्यायके अन्ततक हैं, परन्तु यहां इस प्रस्तुत सूत्रके प्रत्ययोंके विषयमें ही कहाहै, यह प्रत्यय इस प्रकार हैं–

सु, औ, जस् । अम्, औट्, शस् । टा, भ्याम्, भिस् । ङे, भ्याम्, भ्यस् । ङसि, भ्याम्, भ्यस् । ङस्, ओस्, आम् । ङि, ओस्, सुप् । इनमें सुका उ, ङसिका इ और ज्, श्, ट्, ङ्, प्, यह इत् हैं * ॥

१८४ विभक्तिश्च । १ । ४ । १०४ ॥

सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः । तत्र सु औ जस इत्यादीनां सप्तानां त्रिकाणां प्रथमादयः सप्तम्यन्ताः प्राचां संज्ञास्ताभिरिहापि व्यवहारः ॥

१८४–सुप् (इस प्रत्याहारमें आनेवाले पूर्व सूत्रमेंके सब प्रत्यय) और तिङ् $\frac{३।४।७८}{२१५४}$ में कहे हुए प्रत्यय इनकी विभक्ति संज्ञा हो । उसमें सु, औ, जस् इत्यादि तीन २ प्रत्ययोंका एक २ त्रिक अनुक्रमसे प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी यह संज्ञाएं हैं, ऐसे यह सब २१ विभक्ति हुई, इनकी जैसे पुराने वैयाकरणोंकी नियमित की हुई संज्ञा है वही संज्ञा यहां भी रक्खी हैं ॥

१८५ सुपः । १ । ४ । १०३ ॥

सुपस्त्रीणित्रीणि वचनान्येकश एकवचनद्विवचनबहुवचनसंज्ञानि स्युः ॥

१८५–सुप् प्रत्याहारमें तीन २ प्रत्ययोंकी जो एक २ विभक्ति कहीहैं, उनमें पहले प्रत्ययकी एकवचन, दूसरेकी

* "प्रातिपदिकग्रहणे०" इस परिभाषाका फल 'बह्वृ' यह जानना यहां प्रत्ययान्त होनेसे भी स्वादिकी उत्पत्ति हुई । ङ्यन्त और आबन्तसे तद्धितकी उत्पत्तिका फल एतिका, एनिका । आर्यिका, आर्यका यह जानना । (स्त्री प्रत्ययमें खुलासा मालूम होगा) ॥

* तीसरे, चौथे, पांचवें अध्यायमें जो प्रत्यय कहेहैं, उनमें तीसरे अध्यायमें धातुप्रत्यय और चौथे पांचवें अध्यायोंमें नाममें लगनेवाले प्रत्यय हैं ॥

द्विवचन और तीसरेकी बहुवचन संज्ञा हो । ("तिङस्त्रीणित्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः १ । ४ । १०१ ।" "तान्येकवचन-द्विवचनबहुवचनान्येकशः १ । ४ । १०२" इन दो सूत्रोंसे त्रीणित्रीणि और एकशः, एकवचनद्विवचनबहुवच-नानि इनकी अनुवृत्ति आतीहै) * ॥

१८६ द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने।१।४।२२।

द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः ॥

१८६–द्वित्व (दो संख्या), एकत्व (एक संख्या) कहनेकी इच्छामें द्विवचन और एकवचनकी योजना करतेहैं अर्थात् एकत्वकी विवक्षामें एकवचन और द्वित्वकी विवक्षामें द्विवचन प्रत्यय लगतेहैं ॥

१८७ बहुषु बहुवचनम् ।१।४।२१॥

बहुत्वे एतत्स्यात् । रुत्वविसर्गौ । रामः ॥

१८७–बहुत्व (दोसे अधिक संख्याके भाव) में बहुवचन आताहै । इस प्रकारसे वचनोंकी व्यवस्था है । विभक्तिके प्रयोग कारकप्रकरणमें (सि० ५३२ से–६४६ तक) कहे हैं वहां विस्तार देखलेना *॥

प्रथम अकारान्त पुँल्लिङ्ग राम शब्द, (रमन्ते योगिनोऽस्मिन् 'रमु–क्रीडायाम्' घञ्, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वम्) योगी जिसमें रमण करतेहैं इस अर्थमें रम् (क्रीडा करना) धातुसे घञ् प्रत्यय, उपधावृद्धि होकर राम यह कृदन्त शब्द सिद्ध हुआ और कृदन्त होनेसे प्रातिपदिक हुआ तब १८३ से स्वादि प्रत्ययकी प्राप्ति है, इस प्रकारसे प्रत्येक शब्दोंकी व्युत्पत्ति जानने योग्य है, परन्तु अभी वह प्रसंग कठिन है इस कारण विभक्तिनामक प्रस्तुत विषयपर विशेष ध्यान,देंगे हां! कृदन्त और तद्धितान्तमें व्युत्पत्तिपर विशेष लक्ष दिया जायगा ।

* यह सब विभक्ति, ध्यानमें आनेके निमित्त नीचे लिखतेहैं और उनके इत् कोष्ठमें धरतेहैं–

विभक्ति.	एकवचन.	द्विवचन.	बहुवचन.
प्रथमा	स् (उ)	औ	(ज्) अस्
द्वितीया.	अम्	औ (ट्)	(श्) अस्
तृतीया	(ट्) आ	भ्याम्	भिस्
चतुर्थी	ङ् (ए)	भ्याम्	भ्यस्
पंचमी	(ङ्) अस् (इ)	भ्याम्	भ्यस्
षष्ठी	(ङ्) अस्	ओस्	आम्
सप्तमी	(ङ्) इ	ओस्	सु (प्)

इसमें सुट् प्रत्याहार कहनेसे सु, औ, जस्, अम्, औट्, पहले पांच प्रत्यय लेने। ङित् अर्थात् ङकार इतवाले कहनेसे चतुर्थी,पंचमी, षष्ठी और सप्तमीके एकवचनके प्रत्यय लेने । सु भ्याम् भिस् भ्यस् और सुप् यह हलादि हैं और इतर अजादि हैं यह भली भांति ध्यानमें रखना चाहिये ॥

* यहां नामोंमें विभक्ति प्रत्यय लगाकर दिखानेका प्रकरण है, इसमें अजन्त और हलन्त दो भेद हैं और इन प्रत्येकोंमें पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग यह तीन २ भेद होकर दोनोंमें छः भेद होतेहैं, यह सब मिलकर षड्लिङ्गप्रकरण कहाताहै, इनमें चतुर्दश सूत्रोंके अकारादि वर्णक्रमसे शब्द लियेगयेहैं, उनपर विभक्ति लगाकर दिखायागयाहै, इसीसे सरल और कठिन शब्दोंका एकत्र समावेश होगयाहै ॥

प्रथम राम शब्दके आगे प्रथमाका एकवचन सु (स्) प्रत्यय लाकर रामस् हुआ,फिर सकारको ८।२।६६/१६२ से रुत्व फिर रुके र्को ८।३।१८/७६ से विसर्ग करनेपर रामः (एक राम) यह पद सिद्ध हुआ ॥

अब प्रथमाके द्विवचनमें औ प्रत्यय लाकर दो बार राम शब्द लानेकी आवश्यकतासे रामराम औ ऐसी स्थिति हुई,तब–

१८८ सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ । १ । २ । ६४ ॥

एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते । प्रथमयोः पूर्वसवर्णः । नादिचि । वृद्धिरेचि । रामौ ॥

१८८–एक विभक्तिके होनेपर समानरूप प्रातिपदिकमें एक ही शेष रहेगा. और सबका लोप होजायगा । तब 'राम+औ' यही शेष रहा, तब "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ६।१।१०२/१६४" प्रथमा और द्वितीया इन प्रत्ययोंके आगे होनेसे पूर्वसवर्ण दीर्घ होताहै, परन्तु उसका बाधक "नादिचि ६।१।१०४/१६५" है, तब "वृद्धिरेचि ६।१।८८" से वृद्धि होकर रामौ (दो राम) पद सिद्ध हुआ ॥

राम+जस् (बहुवचनका प्रत्यय) –

१८९ चुटू । १ । ३ । ७ ॥

प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः । इति जस्येत्संज्ञायाम् ॥

१८९–प्रत्ययके आदि भागमें रहनेवाले चवर्ग और टवर्गमेंके वर्ण इत् होतेहैं । इससे जकारकी इत्संज्ञा होकर राम+अस् हुआ–॥

१९० न विभक्तौ तुस्माः।१।३।४॥

विभक्तिस्थास्तवर्गसकारमकारा इतो न स्युः। इति सकारस्य नेत्वम् ॥

१९० विभक्तियोंके तवर्ग, सकार और मकार, यह इत् नहीं होते । इस कारण जस्के सकारकी इत् संज्ञा नहीं हुई, फिर "सरूपाणाम् १८८" से एकशेष होकर– ॥

१९१ अतो गुणे । ६ । १ । ९७ ॥

अपदान्तादकाराद्गुणे परतः पररूपमेकादेशः स्यादिति प्राप्ते । परत्वात्पूर्वसवर्णदीर्घः । अतो गुणे इति हि पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन्बाधन्ते नोत्तरानिति न्यायेनाकः सवर्ण इत्यस्यैवापवादो न तु प्रथमयोरित्यस्यापि। रामाः॥

१९१–अपदान्त अकारके आगे गुण (अ, ए, ओ) आवें तो दोनोंके स्थानमें पररूप एक आदेश होताहै । ("उस्यपदान्तात् ६ । १ । ९६" और "एङि पररूपम् ६ । १ । ९४" इन दो सूत्रोंसे 'अपदान्त' और 'पररूप'की अनुवृत्ति आतीहै) । इस प्रकार पररूप प्राप्त होनेपर "प्रथमयोः० ६।१।१०२/१६४" इसको पर होनेसे पूर्वसवर्ण दीर्घ 'आ' हुआ ।

(अतो गुणे इति) पहले कहे हुए अपवाद अगले निकटके विधानमात्रके बाधक होतेहैं, उससे परके विधानके बाधक नहीं होते, इस पूर्वोक्त ७३ परिभाषाके देखनेसे "अतो गुणे $\frac{६।१।९७}{१९१}$" इस सूत्रमें कहा हुआ पररूप "अकः सवर्णे दीर्घः $\frac{६।१।१०१}{८५}$" इसके सवर्णदीर्घका केवल बाधक होताहै, "प्रथमयोः० $\frac{६।१।१०२}{१६४}$" का बाधक नहीं होता, इस कारण पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर रामास् और फिर सकारको विसर्ग होकर रामाः (बहुत राम) यह पद सिद्ध हुआ ॥

प्रथमाका ही भेद सम्बुद्धि है इस विषयमें—

१९२ एकवचनं संबुद्धिः।२।३।४९॥

संबोधने प्रथमाया एकवचनं संबुद्धिसंज्ञं स्यात् ॥

१९२–सम्बोधन अर्थात् किसीको बुलाना ऐसे समयमें प्रथमाका एकवचन सम्बुद्धिसंज्ञक हो । राम+सु लगाकर रामस् ऐसी स्थिति हुई– ॥

१९३ एङ्ह्रस्वात्संबुद्धेः। ६।१।६९॥

एङन्ताद्ध्रस्वान्ताच्चाङ्गाद्धल्लुप्यते संबुद्धेश्चेत्। संबुद्ध्याक्षिप्तस्याङ्गस्यैङ्ह्रस्वाभ्यां विशेषणान्नेह। हे कतरत्कुलेति। हे राम। हे रामौ। हे रामाः। एङ्ग्रहणं किम्। हे हरे। हे विष्णो। अत्र हि परत्वान्नित्यत्वाच्च संबुद्धिगुणे कृते ह्रस्वात्परत्वं नास्ति ॥

१९३–एङन्त और ह्रस्वान्त अङ्ग $\frac{१।४।१३}{१९९}$ के आगे स्थित सम्बुद्धिके अवयव हल्का लोप हो । ("हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० ६।१।६८" से हल् और "लोपो व्योर्वलि ६।१।६६" से लोपकी अनुवृत्ति आतीहै)

(सम्बुद्ध्याक्षिप्तस्येति) सम्बुद्धि यह प्रत्यय होनेसे उसके पूर्वमें अंग रहताहै, यह स्पष्ट है, परन्तु उसका एङन्त और ह्रस्वान्त यह विशेषण हैं, इस कारण हे कतरत् (हे कितने) इस हलन्त अंगके अन्त्य तकारका लोप नहीं होता, कारण कि ह्रस्वान्त अंगसे परे सम्बुद्धि नहीं है, हे कुल इस स्थलमें सम्बुद्धिका लोप हुआहै, कारण कि पूर्वान्तवद्भावके कारण ह्रस्वान्त अङ्गसे परे सम्बुद्धिका अवयव मकार है * ॥

हे राम (हे एक राम),हे रामौ (हे दो राम), हे रामाः (हे बहुतसे राम) ऐसे रूप हुए । सम्बोधनमें प्रथमासे भिन्न विभक्तिके वचन नहीं होते।

एङन्त ऐसा शब्द क्यों कहा ? तो हरि, विष्णु, इनके सम्बोधनमें $\frac{७।३।१०८}{२४२}$ सुका लोप होकर हे हरे हे विष्णो ऐसे रूप होते हैं, यह बात दिखानेको एङन्तका ग्रहण किया है, कारण कि इसमें जो एङ् शब्द न होता तो "एङ् $\frac{६।१।६९}{१९३}$" इससे हरिस्, विष्णुस्, इनके हलोंका जो लोप उसके होनेके पहिले ही "ह्रस्वस्य गुणः $\frac{७।३।१०८}{२४२}$" यह पर सूत्र और नित्यसूत्र भी है, इससे इसका कार्य गुण होजायगा, गुणोंमें ए, ओ तो ह्रस्व हैं नहीं, इससे हरेस्, विष्णोस् यहां स् का लोप न होगा, इस कारण एङ्, शब्दका ग्रहण आवश्यक है, ह्रस्वके कारण पहले हल्का लोप और फिर गुण ऐसा नहीं होता ॥

अब द्वितीयाका अम् प्रत्यय लगाकर राम+अम् ऐसी स्थिति हुई–

१९४ अमि पूर्वः। ६।१।१०७॥

अकोऽम्यचि परतः पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। रामम्। रामौ ॥

१९४–अक् (अ, इ, उ, ऋ, ऌ)के आगे अम्का अवयव अच् परे होते दोनोंके स्थानमें मिलकर पूर्वरूप एकादेश होताहै । ("अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१" से अक्की और "इको यणचि ६।१।७७" से अच्की अनुवृत्ति आतीहै)। पूर्वसवर्णदीर्घ $\frac{६।१।१०२}{१६४}$ का यह अपवाद है। रामम् (रामको) राम+औट्=राम+औ=रामौ (दो रामोंको) ॥

द्वितीयाके बहुवचनमें राम+शस् ऐसा हुआ—

---

* "एङ्०१९३" इस सूत्रमें "हल्० २५२" इससूत्रसे हल्का सम्बन्ध करतेहैं तो यह अर्थ होताहै कि, एङ् और ह्रस्वसे परे सम्बुद्धिके अवयव हल्का लोप हो, ऐसा अर्थ करनेपर-हे कतरत् इसमें तकारके लोपकी प्राप्ति हुई, इसपर कहतेहैं (सम्बुद्ध्या० इति) सम्बुद्धिसे अंगका आक्षेप किया वह अङ्ग, एङ् और ह्रस्वका विशेष्य है तो ह्रस्वान्त अंगसे परे तकार नहीं है, किन्तु हल्से परे है ।

(प्र०) यहां सम्बुद्धिसे अङ्गका आक्षेप नहीं होसक्ता, कहाहै "येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनाऽऽक्षिप्यते यथा च पीनोयं देवदत्तो दिवा न भुंक्ते" अर्थात् जिसके विना जो अनुपपन्न होताहै उससे उसका आक्षेप कियाजाताहै, जैसे विना भोजन किये पुष्ट होना अनुपपन्न है, इस कारण रात्रिमें भोजनका अनुमान कियाजाताहै, सो यहां नहीं, सम्बुद्धिके विना अङ्ग अनुपपन्न नहीं किन्तु अङ्गके विना सम्बुद्धि अनुपपन्न है, इस कारण अंगका अनुमान नहीं हो सकता, यह अर्थापत्तिमूलक प्रमाण है, भाष्यमें लिखाहै अङ्गाधि–

–कारके हटाकर प्रत्ययाधिकार है । प्रत्ययाधिकार करनेसे 'ब्राह्मणभिस्सा' इत्यादि प्रयोगोंमें दोष नहीं हुआ, परन्तु प्राकरोत् यहां उपसर्गसे पूर्व अडागम प्राप्त हुआ तो भाष्यकारने 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्०' इस परिभाषासे वारण किया परन्तु अङ्गका आक्षेप नहीं किया, यदि अङ्गका आक्षेप करते तो भी उपसर्गसे पूर्व नहीं होता फिर "प्रत्ययग्रहणे०" इससे क्यों वारण किया ? इससे मालूम होताहै कि, अङ्गका आक्षेप नहीं होताहै अथवा किसी प्रकार हुआ भी तो अङ्गका सम्बुद्धिमें अन्वय होगा, कारण कि, यह नियम है कि जिससे जिसका आक्षेप होताहै, उसका उसीमें अन्वय होताहै, एङन्त, ह्रस्वान्त अंगसे परे जो सम्बुद्धि उसके हल्का लोप हो ऐसा करनेमें हे कुल यह रूप सिद्ध नहीं होता, कारण कि ह्रस्वान्त अङ्गसे परे सम्बुद्धि नहीं किन्तु सम्बुद्ध्यवयव है, और जो परादिवद्भाव मानकर सम्बुद्धि लातेहैं और पूर्वान्तवद्भाव मानकर ह्रस्व लातेहैं तो "उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्" इससे अन्तवद्भाव नहीं होता । यदि ऐसा कहो कि "उभयत आश्रयणे" को नहीं मानेंगे तो भी पौर्वापर्य व्यवहार नहीं हो सकता । (उ०) लक्ष्यानुरोधसे हल्में अन्वय करतेहैं तो कोई दोष नहीं होता ॥

(प्र०) 'गुणात् सम्बुद्धेः' ऐसा ही सूत्र होना चाहिये ? (उ०) यदि एसा सूत्र कियाजायगा तो हे लक्ष्मि यहां सुलोप नहीं होगा, कारण कि सुनिमित्तसे ह्रस्व हुआहै वह, ह्रस्व सुलोपका निमित्त नहीं होगा सन्निपातपरिभाषाके बलसे एङ्ह्रस्वग्रहण करनेपर एङ्ह्रस्वग्रहणबलसे सन्निपातपरिभाषा नहीं लगती ॥

१९५ लशक्वतद्धिते । १ । ३ । ८ ॥

तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या लशकवर्गा इतः स्युः । इति शसः शस्येत्संज्ञा ॥

१९५–तद्धितभिन्न प्रत्ययके आदिमें रहनेवाले ल्, श् और कवर्ग इनकी इत्संज्ञा हो । इससे शस्के शकारकी इत्संज्ञा होकर राम+अस् रहा, तब पूर्ववत् "प्रथमयोः० १६४" से रामास् हुआ, आगे—

१९६ तस्माच्छसो नः पुंसि।६।१।१०३॥

पूर्वसवर्णदीर्घात्परो यः शसः सकारस्तस्य नः स्यात्पुंसि ॥

१९६–पूर्वसवर्णदीर्घसे परे स्थित शस् के सकारके स्थानमें नकार होताहै (" अकः सवर्णे० ६।१।१०१ " से दीर्घ और " प्रथम० ६।१।१०२ " से पूर्वसवर्णकी अनुवृत्ति होतीहै) तब सकारके स्थानमें नकार होकर रामान् (बहुत रामोंको) ऐसी सिद्धि हुई । (शंका–)

१९७ अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेपि।८।४।२॥

अट् कवर्गः पवर्ग आङ् नुम् एतैर्व्यस्तैर्यथासंभवं मिलितैश्च व्यवधानेपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः स्यात्समानपदे । पदव्यवायेपीति निषेधं बाधितुमाङ्ग्रहणम् । नुम्ग्रहणमनुस्वारोपलक्षणार्थम् । तच्चाकर्तुं शक्यम् । अयोगवाहानामट्सूपदेशस्योक्तत्वात् । इति णत्वे प्राप्ते ॥

१९७–एक ही पदमें र् अथवा ष्, इनके आगे न् आवे तो अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् (आ), नुम् (न्), यह अलग २ अथवा यथासम्भव (दो, तीन आदि) मिले हुए भी बीचमें हों तो भी नकारके स्थानमें णकार होताहै । (" रषाभ्यां नो णः समानपदे ८।४।१ " इस सूत्रसे ' र, ष ' के परवर्ती नकारके स्थानमें णकारहोनेकी अनुवृत्ति आतीहै) ।

" पदव्यवायेऽपि $\frac{८।४।३८}{१०५७}$ " बीचमें अन्य पद आवे तो भी णत्व नहीं होता ऐसा जो निषेध है, उसके बाधके लिये आङ्ग्रहण है, आङ् यह अव्ययत्वके कारण पद है ।

नुम्का ग्रहण, अनुस्वारग्रहणके निमित्त है (तच्चेति) तो भी उसका त्याग हो सकेगा, कारण कि, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, यम, यह जो अयोगवाहसंज्ञक अनुक्त वर्ण सो चतुर्दशसूत्रीमें अट्के ऊपर भाष्यमें लिये गयेहैं, ऐसा पीछे कहा है । इससे रामान्के नकारको णत्व प्राप्त हुआ ॥ (समाधान–)

१९८ पदान्तस्य । ८ । ४ । ३७ ॥

पदान्तस्य नस्य णत्वं न स्यात् । रामान् ॥

१९८–पदान्तमें स्थित नकारके स्थानमें णकार न हो । (" न भाभूपूकमिगमि० ८।४।३४ " से निषेधकी अनुवृत्ति आतीहै) इससे रामान् ही रहा ॥

१९९ यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् । १ । ४ । १३ ॥

यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन्प्रत्यये परेऽङ्गसंज्ञं स्यात् । भवामि भविष्यामीत्यादौ विकरणविशिष्टस्याऽङ्गसंज्ञार्थं तदादिग्रहणम् । विधिरिति किम् । स्त्री इयती। प्रत्यये किम् । प्रत्ययविशिष्टस्य ततोप्यधिकस्य वा मा भूत् ॥

१९९–जो प्रत्यय जिस शब्दके आगे कियाजाताहै वह प्रत्यय आगे रहते तदादि (वह शब्द है आदिमें जिसके) शब्दस्वरूपकी अंग संज्ञा हो ।

(भवामीति) भवामि (मैं होताहूं), भविष्यामि (मैं होऊंगा) इत्यादि स्थलमें भू धातुके आगे मि प्रत्यय है, तथापि रूप सिद्ध होनेके पहले अ और स्य यह विकरणसंज्ञक[1] वर्ण भू धातुके आगे लगतेहैं यहां भू+अ मिलकर भव और भू+स्य=भविष्य हुआ है, यहाँ मि प्रत्यय परे रहते "भव", "भविष्य" इनकोभी अंग संज्ञा होनेके लिये तदादि शब्द सूत्रमें लिया है । जहां विकरण आदि कुछ नहीं, वहां प्रत्यय आगे रहते केवल आदि (मूल) शब्द ही अंगसंज्ञक होता है, भवामि, भविष्यामिकी व्यवस्था तिङन्तमें समझी जायगी ।

(विधिरिति) जिससे प्रत्ययविधान किया जाय ऐसा क्यों कहा ? तो शब्दके आगे केवल प्रत्यय ही और उस शब्दके आगे उसका विधान न हो तो इतने मात्रसे प्रत्यय आगे रहते पूर्व शब्दकी अंगसंज्ञा न हो, यथा–स्त्री+इयती (स्त्री इतनी बडी) इसमें इयती शब्द इदम् (यह) शब्दसे सिद्ध हुआहै, तथापि उसमें इदम् शब्दका कुछभी अंश शेष नहीं रहा, सबका लोप हुआहै, और इयती यह केवल अगला प्रत्ययरूप अंग होकर वही स्त्रीवाचक शब्द हुआ है, इस कारण इयती यह प्रत्ययरूप शब्द आगे है तो भी वह प्रत्यय स्त्री शब्दसे नहीं कहागया, इदम् इस लुप्त शब्दसे हुआहै, इस कारण इयती इस प्रत्ययके आगे रहते स्त्रीशब्दकी अंगसंज्ञा नहीं होती । इदम् शब्दसे परिमाण अर्थमें "किमिदंभ्यां वो घः ५।२।४०" इस सूत्रसे वतुप् प्रत्यय और वकारको घ हुआ फिर उसको इय् आदेश, फिर "इदंकिमोः० ६।३।९" से ईश्, "यस्येति च ६।४।१४८" से ईशका लोप हुआ, "उगितश्च ४।१।६" से ङीप् होके इयती सिद्ध हुआ । अंगसंज्ञा न होनेसे स्त्रीके ईका लोप वा इय् न हुआ ।

प्रत्यय आगे रहते ऐसा क्यों कहा? तो आगे प्रत्यययुक्त शब्द अथवा उससे भी अधिक शब्दसमुदाय वा वाक्य होते पूर्व अंशकी अंगसंज्ञा न हो ॥

२०० अङ्गस्य । ६ । ४ । १ ॥

इत्यधिकृत्य ॥

---

[1] विकरण वह प्रत्यय है जो धातुओंके आगे तिङ्से पूर्व दशगणोंमें आतेहैं, जैसे भ्वादि धातुओंसे शप् आदि ॥

२००-अंगस्य यह अधिकार है, छठे अध्यायके चौथे पादसे प्रारम्भ होकर सातवें अध्यायके अन्त तक चलताहै, इसे अंगाधिकार कहतेहैं ॥

२०१ टाङसिङसामिनात्स्याः ७।१।१२॥

अकारान्तादङ्गाट्टादीनां क्रमादिनादय आदेशाः स्युः । णत्वम् । रामेण ॥

२०१-अकारान्त अंगसे परे स्थित टा, ङसि और ङस्के स्थानमें यथाक्रम इन, आत् और स्य आदेश हों अर्थात् तृतीया पञ्चमी और षष्ठी विभक्तिके एकवचनके स्थानमें यह आदेश हों । ("अतो भिस ऐस् ७।१।९" से अत्‌की अनुवृत्ति आती है) । राम+टा=राम+इन=गुण हुआ रामेन फिर "अट्कु० १९७" से णत्व होनेपर रामेण हुआ (रामकरके)॥

२०२ सुपि च । ७ । ३ । १०२ ॥

यञादौ सुपि परे अतोङ्गस्य दीर्घः स्यात् । रामाभ्याम् ॥

२०२-यञ् (य व र ल ञ ङ ण न म झ भ) प्रत्याहारमेंसे कोई भी वर्ण जिसके प्रारंभमें हो, ऐसा सुप् प्रत्याहारमेंका कोई प्रत्यय आगे रहते अकारान्त अंगको दीर्घ होताहै । राम+भ्याम्-रामाभ्याम् (दो रामकरके) ॥

राम+भिस्-

२०३ अतो भिस ऐस् । ७ । १ । ९ ॥

अकारान्तादङ्गाद्भिस ऐस् स्यात् । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः । रामैः ॥

२०३-अकारान्त अंगसे परे भिस्के स्थानमें ऐस् आदेश हो । अनेकाल् आदेश होनेके कारण यह "अनेकाल्शित्० $\frac{१।१।५५}{४५}$" से सम्पूर्ण भिस्के स्थानमें होताहै । अर्थात् सब प्रत्ययको निकालकर उसके स्थानमें आदेश होताहै । राम+ऐस् । वृद्धि । विसर्ग, रामैः (बहुतसे रामोंकरके) ॥

राम+ङे (चतुर्थीका एकवचन)-

२०४ ङेर्यः । ७ । १ । १३ ॥

अतोङ्गात्परस्य ङे इत्यस्य यादेशः स्यात् । रामाय । इह स्थानिवद्भावेन यादेशस्य सुप्त्वात्सुपि चेति दीर्घः । सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति परिभाषा तु नेह प्रवर्तते । कष्टाय क्रमणे इत्यादिनिर्देशेन तस्या अनित्यत्वज्ञापनात् । रामाभ्याम् ॥

२०४-अकारान्त अंगसे परे ङे[1]के स्थानमें य आदेश होताहै । राम+य-(२०२) से रामाय (रामके निमित्त) यहां ङेके स्थानमें य होनेसे स्थानिवद्भाव (४९) के कारण य-को सुप् मानकर "सुपि च $\frac{७।३।१०२}{२०२}$" से अकारको दीर्घ हुआ ।

(सन्निपातलक्षणेति) प्रकृति, प्रत्यय आदि दोके सम्बन्धको सन्निपात कहतेहैं, इस सन्निपातके कारण जो कुछ विधि नाम कार्य होताहै, फिर उसी विधिके निमित्तसे उस सन्निपातका नाश नहीं होता, 'उपजीव्य' जिससे पोषण हो, 'उपजीवी' जिसका पोषण कियाजाय वह; तो जिस उपजीव्यसे अपना पोषण होताहै, उस उपजीव्यका नाश करना यह बात उपजीवीको नहीं सजती, अथवा जिसकी कृपासे आप बढा हो, उसका विघात न करै ऐसा न्याय है, उसी सन्निपातसम्बन्धके निमित्तसे जो विधि (कार्य) है, वह उस अपने निमित्तके बिगाडनेवाले कार्य्यका निमित्त नहीं होताहै, इसको सन्निपातपरिभाषा कहतेहैं, यहां अकारके कारण ङेके स्थानमें 'य' हुआहै, इस कारण 'य' के निमित्तसे 'अ' का नाश होकर आ होना यह ठीक नहीं, ऐसी शंका होनेपर कहतेहैं-यह परिभाषा इस स्थलमें प्रवृत्त नहीं होती, "कष्टाय क्रमणे $\frac{३।१।१४}{२६७०}$" पाणिनि महर्षिने यह सूत्र बनायाहै, इसमें इसी प्रकारसे य के निमित्तसे पिछले अकारको दीर्घ कियाहै, यदि यहां यह परिभाषा लगती तो 'कष्टाय' न होता इससे इस परिभाषाका अनित्यत्व ज्ञात होताहै ।

राम+भ्याम्- (२०२) रामाभ्याम् (दो रामोंके निमित्त) ॥

राम+भ्यस् (च० बहु०)-

२०५ बहुवचने झल्येत् । ७ । ३ । १०२ ॥

झलादौ बहुवचने सुपि परे अतोङ्गस्यैकारः स्यात् । रामेभ्यः । बहुवचने किम् । रामः रामस्य । झलि किम् । रामाणाम् । सुपि किम् । पचध्वम् । जश्त्वम् ।

२०५-बहुवचन झलादि सुप् प्रत्यय परे रहते अकारान्त अंगको एकार होताहै । रामे+भ्यस्=रामेभ्यः (बहुत रामोंके निमित्त) ।

बहुवचन क्यों कहा ? तो राम+स्, राम+स्य, इनमें अकारके आगे स् और स्य यह एकवचन झलादि सुप् प्रत्यय हैं, यहां एत्व न हो ।

झलादि क्यों कहा ? तो रामाणाम् इसमें आम् यह अजादि प्रत्यय होनेके कारण एत्व नहीं होता ।

सुप् प्रत्यय रहते ऐसा क्यों कहा ? तो पच+ध्वम्, इसमें ध्वम् यह प्रत्यय यद्यपि बहुवचन है, परन्तु वह तिङ् प्रत्यय है सुप् नहीं, इस कारण एत्व नहीं होता ।

राम+ङसि (पंच० एक०) २०१ से ङसिके स्थानमें आत् आदेश, तब राम+आत्=रामात्, फिर "झलां जशोऽन्ते $\frac{८।२।३९}{८४}$" से तकारके स्थानमें द् प्राप्त हुआ, परन्तु अपवादत्वके कारण इसको बाधकर-

२०६ वावसाने । ८ । ४ । ५६ ॥

अवसाने झलां चरो वा स्युः । रामात् । रामाद् । द्वित्वे रूपचतुष्टयम् ॥ रामाभ्याम् । रामेभ्यः । रामस्य । सस्य द्वित्वपक्षे खरि चेति चर्त्वे तु यान्तरतम्यात्स एव न तु तकारः । अल्प-

---

[1] यहां 'बहुवचने २०५' इत्यादि निर्देशसे चतुर्थीके एकवचनका ग्रहण होताहै, सप्तमीके एकवचनका नहीं ॥

प्राणतया प्रयत्नभेदात् । अत एव सः सीति तादेश आरभ्यते ॥

२०६-आगे अवसान होनेपर झलोंके स्थानमें चर् हीं बिकल्प करके ("अभ्यासे चर्च ८।४।५४" से चर्की अनुवृत्ति आतीहै) तब चर् होनेसे रामात्, पक्षमें (८४) द् होनेसे रामाद् यह दो रूप हुए, "अनचि च ८।४।४७/४८" इससे अन्त्य वर्णको द्वित्व करनेसे चार रूप होंगे । राम+भ्याम्=रामाभ्याम् (दो रामोंसे) । रामेभ्यः (बहुत रामोंसे) ।

अब षष्ठीका एकवचन रामके आगे ङस् और उसके स्थानमें स्य हुआ तो-रामस्य (रामका) रूप हुआ । सकारको "अनचि च" इससे द्वित्व करनेसे "खरि च ८।४।५५/१२१" से इसके पूर्वसकारको चर्त्व भी कियाजाय तो भी चर्में सकार है हीं, इस कारण आन्तरतम्यसे वही होगा, उसके स्थानमें तकार नहीं होगा, कारण कि,त् को अल्पप्राण होनेसे त् और स्में प्रयत्नभेद होताहै, इसीसे सकारके स्थानमें तकार विधान करनेको "सः स्यार्धधातुके ७।४।४९/द्वे३४२" यह नया सूत्र बनायाहै ॥

राम+ओस् (ष० द्वि०)-

२०७ ओसि च । ७ । ३ । १०४ ॥

ओसि परे अतोऽङ्गस्य एकारः स्यात्।रामयोः॥

२०७-आगे ओस् प्रत्यय परे रहते अकारान्त अंगको एकार होताहै, रामे+ओस् मिलकर रामयोस्=रामयोः (दो रामोंका) ॥

राम+आम् (ष० ब०)-

२०८ ह्रस्वनद्यापो नुट् । ७ । १ । ५४ ॥

ह्रस्वान्तान्नद्यन्तादाबन्ताच्चाङ्गात्परस्यामो नुडागमः स्यात् ॥

२०८-ह्रस्वान्त, नद्यन्त और आबन्त अंगके आगेके आम् प्रत्ययको नुट्(न्)का आगम होताहै।राम+न्+आम्=राम+नाम् ऐसी स्थिति हुई*- ॥

२०९ नामि । ६ । ४ । ३ ॥

नामि परेऽजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्यात् । रामाणाम् । सुपि चेति दीर्घो यद्यपि परत्वस्थापीह न प्रवर्तते । सन्निपातपरिभाषाविरोधात् । नामीत्यनेन त्वारम्भसामर्थ्यात्परिभाषा बाध्यते। रामे । रामयोः । सुपि एत्वे कृते ॥

२०९-नाम् परे रहते अजन्त अंगको दीर्घ होताहै । ("ढ्रलोपे० ६।३।१११/१७४" से दीर्घकी अनुवृत्ति और "अचश्च १।२।२८/३५" से अच्की उपस्थिति होतीहै और अच्, अङ्गका विशेषण होता है, इस कारण "येन विधिः० १।१।७२/२६" से तदन्तविधि हुई, रामाणाम् (बहुतसे रामोंका) ।

'नामि' इस सूत्रसे "सुपि च ७।३।१०२/२०२" यह पर सूत्र है, तो भी यहां प्रवृत्त नहीं हो सकता, कारण कि, इसके प्रवृत्त होनेमें सन्निपातपरिभाषा विरोध आताहै और 'नामि' सूत्र बनाकर जो नवीन विधान कियाहै इसीसे वह परिभाषा इससे दीर्घ करते समय नहीं लगती, यदि ऐसा न होता तो २०२ सूत्रके होते यह सूत्र बनानेकी आवश्यकता ही क्या थी ?

राम+ङि (स० ए०) राम+इ=रामे (राममें) । राम+ओस्=रामयोः (दो रामोंमें) सिद्धि पूर्ववत् ।

राम+सुप् (सप्तमीका बहुवचन) "बहुवचने० ७।३।१०३/२०५" से एत्व, रामे+सु--

२१० अपदान्तस्य मूर्धन्यः।८।३।५५॥

आ पादपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम् ॥

२१०-'अपदान्तस्य' और 'मूर्धन्यः' इन दो पदोंका पादसमाप्ति ८।३।११९ तक अधिकार है ॥

२११ इण्कोः । ८ । ३ । ५७ ॥

इत्यधिकृत्य ॥

२११- इण्, कवर्ग इन पदोंका अधिकार करके कहतेहैं-॥

२१२ आदेशप्रत्यययोः । ८ । ३ । ५९॥

सहेः साडः स इति सूत्रात्स इति षष्ठयन्तं पदमनुवर्तते । इण्कवर्गाभ्यां परस्यापदान्तस्यादेशः प्रत्ययावयवश्च यः सकारस्तस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । विवृताघोषस्य सस्य तादृश एव षः । रामेषु । इण्कोः किम् । रामस्य । आदेशप्रत्यययोः किम् । सुपीः । सुपिसौ। सुपिसः । अपदान्तस्य किम् । हरिस्तत्र । एवं कृष्णमुकुन्दादयः ॥

---

१ सूत्रमें 'नद्यापः' यह पञ्चम्यन्त है षष्ठयन्त नहीं, इसमें प्रमाण "नामि २०३" सूत्र है,नहीं तो प्रकृतिको नुट् होनेसे 'राम' यह अजन्त अङ्ग नहीं होगा ॥

* ह्रस्वान्त शब्द तो स्पष्ट ही हैं, नदीसंज्ञक शब्द आगे १।४।३/२६६ पर आवेंगे और आवन्त अर्थात् आप्प्रत्ययान्त शब्द ४।१।४/४५४ स्त्री० प्रकरणमें आवेंगे, यहांपर बहुतसे स्थानोंमें शब्दसे तदन्तका ग्रहण कियाहै, वह "येन विधिस्तदन्तस्य १।१।१०२/२६" सूत्रके अनुसार है । आशय यह कि उससे पृथक् न होकर उसीकी बात कहतेहैं । उसमें ध्यान रखने योग्य इतनी बात है कि, 'पदाङ्गाधिकारे तस्य तदन्तस्य च' ऐसी परिभाषा है, पदाधिकार ८।१।१६ सूत्रसे ८।३।५४ तक चलताहै, अङ्गाधिकार ६।४।१ से ७।४।९७ तक चलताहै यह पीछे कह दियाहै, तो पदाधिकार और अङ्गाधिकारके सूत्रोंमेंके शब्दसे तदन्तका भी ग्रहण होताहै और केवल शब्दका भी, कारण कि वे शब्द, पद वा अङ्ग इनके विशेषण होतेहैं ॥

१ ह्रस्वान्त अङ्ग होनेके कारण "ह्रस्वनद्यापो नुट् ७।१।५४/२०८" इससे नुट् होकर नाम् ऐसा प्रत्ययका रूप हुआहै, तब नाम् यह यञादि है इस कारण "सुपि च २०२" से इसके अङ्गके अन्त्य अकारको दीर्घ प्राप्त होताहै, अर्थात् अकारका नाश होताहै, आशय यह कि पीछे ७।१।१३/२०४ इस सूत्रमें कहे हुएकी समान उपजीव्य विरोध आताहै, इससे उस सूत्रका यहां कार्य नहीं होसकताहै, और 'नामि' यह नवीन सूत्र बनानेसे स्पष्ट ही है कि वह परिभाषा यहां काम नहीं देती ॥

२१२-" सहेः साडः सः $\frac{८।३।५६}{३३५}$ " इस सूत्रसे सः इस षष्ठ्यन्त पदकी अनुवृत्ति आतीहै, इण् और कवर्गसे परे स्थित अपदान्तमें रहनेवाला आदेशस्वरूप अथवा प्रत्ययावयव जो सकार है, उसके स्थानमें मूर्धन्यादेश होताहै। विवृत (आभ्यन्तर प्रयत्नवाला), अघोष (बाह्यप्रयत्नवाला) सकार है, उसके स्थानमें विवृत अघोष प्रयत्नवाला ही मूर्धन्य ष हुआ, रामेषु (बहुतसे रामोंमें) इसमें विवृतत्वविशेषणसे ठकारकी निवृत्ति हुई और अघोष कहनेसे ऋकारकी निवृत्ति हुई ।

इण् अथवा कवर्गके आगे क्यों कहा ? तो अन्यत्र षत्व नहीं होता, यथा-रामस्य ।

आदेशरूप और प्रत्ययसम्बन्धी ही स् क्यों कहा ? तो अङ्गसम्बन्धी सकार होते मूर्धन्य नहीं होता, यथा-सुपिस्+सु=सुपीः । सुपिस्+औ=सुपिसौ । सुपिस्+जस्=सुपिसः (अच्छा चलनेवाला इत्यादि) इस स्थानमें आदेश अथवा प्रत्ययका सकार न होनेके कारण षत्व न हुआ, अर्थात् इनके अन्तमें सकार, अंग (सुपिस् इस प्रातिपदिक) का है, इससे उसके स्थानमें षत्व न हुआ ।

अपदान्त सकारके स्थानमें ही क्यों ? तो पदान्त सकारके स्थानमें नहीं होता, हरिस्+तत्र-मिलकर हरिस्तत्र हुआ, इसमें पदान्त सकार है इस कारण षकार न हुआ । अब सिद्ध किये रामशब्दके सब रूप एकत्र कर लिखतेहैं-

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	रामः	रामौ	रामाः
सम्बुद्धि	हे राम	हे रामौ	हे रामाः
द्वितीया	रामम्	रामौ	रामान्
तृतीया	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः
चतुर्थी	रामाय	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
पंचमी	रामात्, रामाद्	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
षष्ठी	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
सप्तमी	रामे	रामयोः	रामेषु

इसी प्रकार कृष्ण, मुकुन्द,-इत्यादि अकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्दोंके रूप जानने। विशेष इतनी बात है कि, कृष्ण शब्दमें षकारके आगे 'अट्कुप्वाङ्०' इनके बाहरका ण है, इस कारण तृतीयाके एकवचनमें 'कृष्णेन' ऐसा रूप होगा। मुकुन्द शब्दमें तो णकारके लिये निमित्त ही नहीं है ॥

२१३ सर्वादीनि सर्वनामानि।१।१।२७॥

सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसंज्ञानि स्युः। तदन्तस्यापीयं संज्ञा द्वन्द्वे चेति ज्ञापकात् । तेन परमसर्वत्रेति त्रल् परमभवकानित्यत्राकच्च सिध्यति ॥

२१३-सर्वादि (सि० २१७ देखो) गणमेंके शब्दोंकी सर्वनाम संज्ञा है । सर्वादि गणमें जो शब्द हैं, वे हैं अन्तमें जिनके ऐसे शब्दोंकी भी सर्वनाम संज्ञा होतीहै । इसका "द्वन्द्वे च २२४" यह सूत्र ज्ञापक है, इससे परमसर्वत्र इसमें त्रल् (त्र) प्रत्यय और परमभवकान् इसमें अकच् सिद्ध होतेहैं ।

विवरण-"द्वन्द्वे च $\frac{१।१।३१}{२२४}$" द्वन्द्व समासमें सर्वनाम संज्ञा नहीं होती ऐसा निषेध है, समासमें एकसे अधिक शब्द होतेहैं, तो द्वंद्व समासमें सर्वनाम संज्ञा नहीं ऐसा कहनेसे इतर समासोंमें (अर्थात् तदन्तको भी) सर्वनाम संज्ञा होतीहै ऐसा सिद्ध हुआ, इस कारण परमसर्व इस कर्मधारय समासघटित तदन्त शब्दकी भी सर्वनाम संज्ञा हुईहै, और "सप्तम्यास्त्रल् $\frac{५।३।१०}{१९५७}$" इससे सर्वनामसे जो सप्तम्यर्थमें त्रल् (त्र) हुआ करताहै वह 'परमसर्व' इसके आगे होकर परमसर्वत्र (बहुत सर्वत्र) ऐसा शब्द सिद्ध हुआ । "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः $\frac{५।३।७१}{२०२६}$" "अज्ञाते $\frac{५।३।७३}{२०२८}$" इस अर्थमें भवत् (आप) इस सर्वनामको अकच् (अक्) प्रत्यय टि के पहले होताहै और भवकत् ऐसा रूप होकर उसका प्रथमामें 'भवकान्' रूप होताहै, उसीप्रकार परमभवत् इसको भी सर्वनाम संज्ञा होनेसे अकच् (अक्) प्रत्यय होकर परमभवकत् और प्रथमाका रूप परमभवकान् (आप अज्ञात बडे मनुष्य) ऐसा होताहै * ॥

अब सर्वादि गणमेंके अकारान्त शब्दोंमें पहले सर्व (सब) शब्द है । उसके प्रथम सिद्ध रामशब्दके रूपोंसे जितने पृथक् २ प्रकारके रूप होंगे उतने ही सिद्ध किये जांयगे, शेष रूप पूर्ववत् जानना ॥

सर्व+जस्-

२१४ जसः शी।७।१।१७॥

अदन्तात्सर्वनाम्नः परस्य जसः शी स्यात् । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः । न चार्वणस्तृ इत्यादाविव नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वमिति वाच्यम् । सर्वादेशत्वात्प्रागित्संज्ञाया एवाभावात् । सर्वे ॥

२१४-अकारान्त सर्वनामके आगे जस् प्रत्ययके स्थानमें शी आदेश होताहै, ("अतो भिस ऐस् $\frac{७।१।९}{२०३}$" से अत्की और "सर्वनाम्नः स्मै: $\frac{७।१।१४}{२१५}$" इस सूत्रसे सर्वनामकी अनुवृत्ति आतीहै)। आदेश अनेकाल् होनेसे $\frac{१।१।५५}{४५}$ सब प्रत्ययको निकाल डालताहै। शी यह प्रत्ययको आदेश है, इस कारण स्थानिवद्भाव करके उसको प्रत्ययत्व हुआ, तब "लशक्वतद्धिते $\frac{१।३।८}{१९५}$" से शकारको इत्त्व होकर 'ई' मात्र शेष रहा । यहां सन्देह होताहै कि, जैसे "अर्वणस्त्रसावनञः $\frac{६।४।१२७}{३६४}$" सूत्रमें "नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्" इस परिभाषासे अनुबन्धकृत अनेकाल्त्व नहीं मानाजाता, वैसे ही यहां भी अनुबन्ध (श्) कृत अनेकाल्त्व नहीं होना चाहिये, परन्तु यह परिभाषा यहां नहीं लगती, कारण कि,

* "सर्वादीनि सर्वनामानि" यह सूत्र प्रथमाध्यायमेंका होनेसे यहां पदाधिकार वा अङ्गाधिकार नहीं है (सि० २०८ टिप्पणी देखो) वैसेही सूत्रोंमें विशेषण नहीं होनेसे "येन विधिस्तदन्तस्य $\frac{१।१।७२}{२६}$" यह सूत्र भी यहां नहीं लगता, इस कारण सर्वादि शब्दसे तदन्तका ग्रहण नहीं होता यह दिखानेके निमित्त ही (सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि) अर्थात् सर्वादिओंके शब्दस्वरूप सर्वनामसंज्ञक होतेहैं ऐसा ऊपर कह आयेहैं, तथापि "द्वन्द्वे च" इस ज्ञापकसे तदन्तको भी सर्वनाम संज्ञा होतीहै ऐसा कहाहै ॥

यहां पहले सर्वादेश होगा फिर पीछे इत्संज्ञा होगी, उसके पहले आदेशके अंगमें प्रत्ययत्व न होनेसे इत्वकी प्राप्ति यहां नहीं होती, सर्व+ई=सर्वे। विशेष ३६४ सूत्रमें लिखेंगे।

२१५ सर्वनाम्नः स्मै। ७। १। १४॥

अतः सर्वनाम्नो ङे इत्यस्य स्मै स्यात्। सर्वस्मै॥

२१५-अकारान्त सर्वनामके आगे ङे प्रत्ययके स्थानमें स्मै आदेश होताहै। ("ङेर्यः $\frac{७।१।१३}{२०४}$" से ङेकी अनुवृत्ति आतीहै)। सर्व+ङे=सर्वस्मै (सबके लिये)॥

२१६ ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ। ७। १। १५॥

अतः सर्वनाम्नो ङसिङ्योरेतौ स्तः। सर्वस्मात्॥

२१६-अकारान्त सर्वनामके आगे ङसि और ङिके स्थानमें क्रमसे स्मात् और स्मिन् आदेश होतेहैं। सर्व+ङसि=सर्वस्मात् (सबोंसे)॥

सर्व+आम्-

२१७ आमि सर्वनाम्नः सुट्। ७। १। ५२॥

अवर्णान्तात्सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडागमः स्यात्। एत्वषत्वे। सर्वेषाम्। सर्वस्मिन्। शेषं रामवत्। एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः। सर्वादयश्च पञ्चत्रिंशत्। सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम। पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्। स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्। अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः। त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्, इति। उभशब्दो द्वित्वविशिष्टस्य वाचकः। अत एव नित्यं द्विवचनान्तः। तस्येह पाठस्तु उभकावित्यकजर्थः। न च कप्रत्ययेनेष्टसिद्धिः। द्विवचनपरत्वाभावेनोभयत इभयत्रेत्यादाविवायच्प्रसङ्गात्। तदुक्तम्। उभयोन्यत्रेति। अन्यत्रेति द्विवचनपरत्वाभावे। उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्तीति कैयटः। अस्तीति हरदत्तः। तस्माज्जस्ययजादेशस्य स्थानिवद्भावेन तयप्प्रत्ययान्ततया प्रथमचरमेति विकल्पे प्राप्ते विभक्तिनिरपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वान्नित्यैव संज्ञा भवति। उभये। डतरडतमौ प्रत्ययौ। यद्यपि संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति, सुप्तिङन्तमिति ज्ञापकात्। तथापीह तदन्तग्रहणम्। केवलयोः संज्ञायाः प्रयोजनाभावात्। अन्यतरान्यतमशब्दावव्युत्पन्नौ स्वभावाद्द्विबहुविषये निर्धारणे वर्तेते। तत्रान्यतमशब्दस्य गणे पाठाभावान्न संज्ञा। त्व त्व इति द्वावप्यदन्तावन्यपर्यायौ। एक उदात्तोऽपरोऽनुदात्त इत्येके। एकस्तान्त इत्यपरे। नेम इत्यर्धे। समः सर्वपर्यायः। तुल्यपर्यायस्तु नेह गृह्यते। यथासंख्यमनुदेशः समानामिति ज्ञापकात्॥ अन्तरं बहिर्योगेति गणसूत्रेऽपुरीति वक्तव्यम्॥ * ॥ अन्तरायां पुरि॥

२१७-अवर्णान्तसे परे सर्वनाम शब्दसे विधानकिये आम्को सुट्का आगम हो। सुट्के ट् और उ की इत् संज्ञा होकर 'स्' मात्र शेष रहा, तब सर्व+स्+आम्=ऐसी स्थिति होकर "बहुवचने झल्येत् $\frac{७।३।१०३}{२०५}$" से अकारको एत्व और "आदेशप्रत्यययोः $\frac{८।३।५९}{२१२}$" से सकारको षत्व हुआ, तब सर्वेषाम् (सबोंका) यह पद सिद्ध हुवा। सर्व+ङि=सर्वस्मिन् (सबोंमें) शेष रामशब्दवत् रूप जानो। अब सब रूप लिखतेहैं--

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सर्वः	सर्वौ	सर्वे
सम्बुद्धि	हे सर्व	हे सर्वौ	हे सर्वे
द्वितीया	सर्वम्	सर्वौ	सर्वान्
तृतीया	सर्वेण	सर्वाभ्याम्	सर्वैः
चतुर्थी	सर्वस्मै	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
पंचमी	सर्वस्मात् (द्)	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
षष्ठी	सर्वस्य	सर्वयोः	सर्वेषाम्
सप्तमी	सर्वस्मिन्	सर्वयोः	सर्वेषु

आशय यह है कि, सर्वनामके मुख्य कार्य यह हैं कि अकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्दसे प्रथमाके बहुवचन जस्के स्थानमें शी (ई) १, चतुर्थीके एकवचन ङेके स्थानमें स्मै २, पंचमीके एकवचन ङसिके स्थानमें स्मात् ३, षष्ठीके बहुवचनमें आम्प्रत्ययको सुट्का आगम ४, सप्तमीके एकवचनमें ङिके स्थानमें स्मिन् ५ होतेहैं, दूसरे लिंगोंमें जो विकार होंगे वे जहांके तहां समझेजांयगे। सर्वकी समान अदन्त विश्व आदि जानने।

सर्वादि शब्द ३५ हैं, सर्व, विश्व, उभ, उभय, इत्यादि इनमें प्रत्येक शब्दके सम्बन्धमें जो कुछ विशेष होगा वह क्रमसे कहाजायगा। उभशब्दसे दोका बोध होताहै, इस कारण वह नित्य द्विवचनान्त होताहै, परन्तु अकारान्त सर्वनामका कार्य ऊपर कहे अनुसार केवल प्रथमाके बहुवचन, चतुर्थी, पंचमी, सप्तमीके एकवचन और षष्ठीके बहुवचनमें होताहै, द्विवचनमें वह कार्य नहीं होता, तो फिर सर्वादि गणमें इस द्विवचनान्त उभ शब्दको डालनेका क्या प्रयोजन ? (उत्तर) "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः $\frac{५।३।७१}{२०७६}$" इस सूत्रसे अज्ञातार्थ अथवा कुत्सितार्थ दिखानेके लिये अव्यय और सर्वनामकी टिके पूर्व अकच् प्रत्यय हुआ करताहै, इसमें 'उभ' सर्वनामकी टि (अन्त अकार) के पहले अकच् होकर उभ्+अक्+अ=उभक ऐसा रूप हुआ, तब द्विवचनमें उभकौ (कोई दो अज्ञात) ऐसा रूप सिद्ध होताहै, जो उभ शब्द सर्वादिगणमें न लियागया होता तो 'उभकौ' पद न बनता। (प्रश्न) "अज्ञाते $\frac{५।३।७३}{२०२८}$"

"कुत्सिते ५।३।७४/२०२९" इन सूत्रोंसे सामान्यतः क प्रत्यय होता-है, तो वहां सर्वनाम ही हो ऐसी कुछ आवश्यकता नहीं, तो उभ शब्दको 'क' प्रत्यय लगकर 'उभकौ' ऐसा रूप बन ही जाता फिर सर्वनामत्व क्यों चाहिये ? (उ०) क प्रत्यय करने-से 'उभकौ' इस इष्टरूपकी सिद्धि नहीं होसकती, क्योंकि 'क' प्रत्यय होकर आगे द्विवचन प्रत्यय 'औ' रहनेसे उभक+औ–ऐसी जो स्थिति हुई, तो उसमें द्विवचन प्रत्यय औ उभशब्दके आगे अ-व्यवहित नहीं है, बीचमें 'क' आगयाहै, और जब अव्यवहित द्विवचन प्रत्यय आगे न हो तब उभ शब्दको अयच् (अय) प्रत्यय होताहै, जैसे उभ्+तस् ऐसी स्थिति रहते उभ+अय-+तस् ऐसा रूप होकर उभयतः (दोनों ओरसे) ऐसा रूप सिद्ध होताहै, और उभ+अय+त्र होकर उभयत्र (दोनों ओर) ऐसा रूप सिद्ध होताहै, उसी प्रकार उभ+क+औ इसमें उभ+अय+क+औ–ऐसा होकर उभयकौ ऐसे रूपकी प्राप्ति होजायगी, उभकौ ऐसा रूप नहीं होगा, (तदुक्तमिति) (उभयोन्यत्र वा ० २३२) इस विषयमें भाष्यमें 'उभयः' यह अयच्युक्त रूप अन्यत्र होताहै ऐसा कहाहै, जब कि द्विवचन प्रत्यय आगे न हो तब * ॥

उभ और उभक (अकच्विशिष्ट) शब्दोंके रूप–

वि०	द्वि०	द्वि०
प्र० सं० द्वि०	उभौ	उभकौ
तृ० च० पं०	उभाभ्याम्	उभकाभ्याम्
ष० स०	उभयोः	उभकयोः

उभ, अय, इसमें अय यह पंचमाध्यायका प्रत्यय होनेसे स्वादि प्रत्यय है और अजादि भी है, इस कारण इसको आगे रहनेसे "यचि भम् १।४।१८/२३१" इससे अङ्गको भ संज्ञा हुई, तद्धित प्रत्यय अथवा ईकार परे रहते "यस्येति च ६।४।१४८/३११" सूत्रसे भसंज्ञकके अन्त्य इकार, अकारोंका लोप होताहै, इस कारण उभ्+अय मिलकर उभय होताहै, सवर्णदीर्घ नहीं होताहै ।

उभय शब्द उभ शब्दसे बनाहै, तो भी उसमें द्वित्ववि-शिष्ट अर्थ नहीं किन्तु "संख्याया अवयवे तयप् ५।२।४२/१८४३" इससे अवयव अर्थमें उभ शब्दके आगे तयप्, इसके स्थानमें अयच् होकर उभय शब्द होताहै । (उभयशब्द-स्येति) उभय शब्दका द्विवचन नहीं ऐसा कैयटका मत है, द्विवचन है ऐसा हरदत्तका मत है, क्योंकि उभय शब्दको द्विवचन न होनेसे असर्वविभक्तित्व होनेपर अव्यय संज्ञा प्राप्त हुई तब "तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः १।१।३८/४४८" सूत्रपर 'कृत्तद्धितानां ग्रहणं च पाठे' (पाठमें कृत्तद्धितोंका परिगणन करना) इस भाष्यके अवतरणसे अनभिधान होनेसे द्विवचन नहीं है यह कैयटका मत है । और हरदत्तके मतमें तो 'पचतिकल्पम्' (कुछ कमती पकाता है), 'पचतिरूपम्' (अच्छा पकाताहै) इत्यादिको अव्यय संज्ञा वारण करनेसे पाठको चरितार्थ होनेपर द्विवचनके अनभिधानमें वह पाठ प्रमाण नहीं होसक्ता ।

कैयटने भाष्यप्रदीपनामक महाभाष्यकी टीका की है हरदत्तने पाणिनिसूत्रोंका न्यास कर पदमञ्जरीनामक वृत्ति लिखी है, कैयटकी योग्यता विशेष होनेपर उभय शब्दका द्विवचन नहीं यह मत सबको मान्य है, फिर भाष्यकारने भी 'उभयो मणिः 'उभये देवमनुष्याः' ऐसा उदाहरण दिया, द्विवचनका उदाहरण नहीं दिया, इससे कैयटका मत पुष्ट होताहै ।

(तस्मादिति०) उभय शब्दको जस् प्रत्यय आगे रहते, नित्य सर्वनामकार्य होताहै । यहां शंका हुई कि, उभयमें जो अयच् (अय) प्रत्यय है, वह अभी कहेके अनुसार तयप् (तय) प्रत्ययको आदेश हुआहै, तब "स्थानिवदादेशो० १।१।५६/४९" से आदेशको स्थानिवत् होनेसे वह 'तय' प्रत्यय ही है, तयप्रत्ययान्त शब्दके आगे जस् प्रत्यय होते "प्रथम-चरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च २२६" से विकल्प करके सर्वनाम संज्ञा प्राप्त होतीहै, इस कारण उभय शब्दको जस् प्रत्ययमें विकल्प करके सर्वनाम संज्ञा होकर क्या दो रूप होंगे ? नहीं, कारण कि "प्रथमचरम०" सूत्रसे जस्के निमित्तसे ही वैकल्पिक सर्वनामसंज्ञा होनेवाली है, इससे वह बहिरंगकार्य है और सर्वादिमें उभय शब्दका पाठ होनेसे नित्य सर्वनाम संज्ञामें विभक्तिकी अपेक्षा नहीं है, इससे यह अन्तरङ्ग कार्य्य है इसलिये "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" अर्थात् अन्तरङ्ग कार्य करना हो तो बहिरंग कार्य्य नहीं होताहै इस परिभा-षासे विकल्प करके सर्वनाम संज्ञा न होकर उभय शब्दकी नित्य सर्वनाम संज्ञा होतीहै, इससे जस्को शी होकर उभये ऐसा रूप बना, शेष रूप सर्वशब्दकी समान जानना ।

रूप लिखतेहैं–

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	उभयः	०	उभये
सम्बुद्धि	हे उभय	०	हे उभये
द्वितीया	उभयम्	०	उभयान्
तृतीया	उभयेन	०	उभयैः
चतुर्थी	उभयस्मै	०	उभयेभ्यः
पंचमी	उभयस्मात्	०	उभयेभ्यः
षष्ठी	उभयस्य	०	उभयेषाम्
सप्तमी	उभयस्मिन्	०	उभयेषु

डतर (अतर) और डतम (अतम) यह प्रत्यय "किं-यत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ५।३।९२/२०४७" और "वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ५।३।९३/२०४८" इनसे किम्, यद्, तद् इन सर्वनामोंके आगे आतेहैं, यह पंचमाध्यायके प्रत्यय और अजादि हैं इस कारण "यचि भम् १।४।१८/२३१" से अंगकी भ संज्ञा, "टेः ६।४।१४३/३१६" इससे डित् आगे होते भ की टि का लोप होताहै, और कतर (मेंसेदोनों कोई), यतर (दोनों-

* "उभादुदात्तो नित्यम् ५।२।४४/१८४५" इससे द्विवचन न होते उभ शब्दके आगे नित्य अयच् प्रत्यय होताहै, उभयो मणिः (दो अवयव हैं जिस मणिके ऐसा) परन्तु जब अकच् प्रत्यय होताहै तब शब्दकी टि को आगे छोडकर वह अकच् बीचमें आताहै । तब "तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते" इस परिभाषासे उभ शब्दसे उभक शब्दका भी ग्रहण होताहै इस कारण अगला द्विवचन प्रत्यय दूर नहीं पडता, इस कारण अकच् होकर भी अयच् नहीं होता, अकच् रहते भी उसका ऐसा ही रूप होताहै, अन्यत्र अयच् होताहै ॥

१–२३१ सूत्रकी टिप्पणी देखो ॥

मेंसे जो), ततर (दोनोंमेंसे वह), कतम (बहुतोंमेंसे कौन सा), यतम (बहुतोंमेंसे जो), ततम (बहुतोंमें वह) ऐसे शब्द होतेहैं, यह शब्द सर्वनामसंज्ञक हैं, ऐसा जानना। केवल प्रत्यय सर्वनामसंज्ञक नहीं ।(यद्यपीति) "प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्" अर्थात् प्रत्ययके उच्चारणसे प्रत्ययादि और प्रत्ययान्त शब्दोंका भी ग्रहण होताहै ऐसी परिभाषा (सि० ४५६ पर) है परन्तु "सुप्तिङन्तं पदम् $\frac{१।४।१४}{२९}$" इसमें सुबन्त और तिङन्तकी पदसंज्ञा करनेमें सुप् तिङ् यह केवल प्रत्यय ही न उच्चारण करते स्पष्ट 'सुप्तिङन्त' ऐसा शब्द दियाहुआहै, इससे यह परिभाषा निकलतीहै कि,-(संज्ञाविधौ प्र०) अर्थात् संज्ञाका विधान होते प्रत्ययके ग्रहणसे तदन्तका ग्रहण नहीं होता, इससे यहां भी तदन्त (डतरान्त, डतमान्त) का ग्रहण नहीं होना चाहिये क्योंकि, यह भी संज्ञाविधि है और प्रत्ययग्रहण है, तो भी यहां तदन्तका ही ग्रहण करना चाहिये, कारण कि केवल प्रत्ययोंका ही ग्रहण करना हो तो उनकी सर्वनाम संज्ञा करनेका कुछ प्रयोजन न था, इससे यहां तदन्तका ही ग्रहण है,इनका रूप सर्व शब्दके समान जानो । अन्यशब्द भी सर्वशब्दके समान जानना ।

अन्यतर (दोनोंमेंसे एक) और अन्यतम (बहुतोंमेंसे एक) यह दोनों शब्द अव्युत्पन्न हैं, यह डतर, डतम प्रत्यय लगकर नहीं बने हैं, और स्वभावसे ही द्विबहुविषयक निर्धारणमें हैं और अन्यतम शब्द सर्वादि गणमें नहीं पायेजानेसे उसकी सर्वनाम संज्ञा नहीं, इससे उसके रूप रामशब्दवत् और अन्यतरके सर्वशब्दवत् जानने । इतर शब्द भी सर्व शब्दके समान है ।

'त्व' 'त्व' इन दोनों अकारान्त शब्दोंका अर्थ अन्य है । पहला त्व उदात्त और दूसरा अनुदात्त है ऐसा कोई कहतेहैं, प्रथम त्व शब्द तान्त (त्वत्) है ऐसा कोई कहते हैं, अकारान्त माननेसे इसके सर्व शब्दके समान रूप होतेहैं, यदि एक तान्त ही माना जाय तो हलन्तप्रकरणमें उसकी विभक्ति समझमें आवेगी ।

नेमका अर्थ 'आधा' है सर्व शब्दके समान इसके रूप होंगे । केवल जस्में 'नेमाः' यह एक रूप अधिक होगा ।

(सम इति) सर्वादि गणमें सर्वार्थक सम शब्द लिया जाताहै, तुल्य (समाना) र्थक सम शब्द नहीं लिया-जाताहै, "यथासंख्यमनुदेशः समानाम् $\frac{१।३।१०}{१२८}$" यह सूत्र इसका ज्ञापक है, यदि यह समान अर्थमें सर्वनामसंज्ञक होता तो उसका षष्ठी बहुवचनमें समानाम् न होता, ('समेषाम्' ऐसा सुडागमयुक्त होता) इस कारण समान अर्थवाला सम शब्द राम शब्दकी समान होगा और जहां सर्वार्थक हो वहां सर्व शब्दके समान जानो ।

सिम शब्दका अर्थ सब है, इसके सर्व शब्दके समान रूप होंगे ।

" अन्तरं ब०" इस गण सूत्रमें 'अपुरि' ऐसा कहना चाहिये अर्थात् पुरी अर्थमें सर्वनाम संज्ञा अन्तर शब्दको न हो । इससे 'अन्तरायां पुरि' यहां सर्वनाम टू संज्ञा प्रयुक्त स्यान हुआ ।

पूर्व (प्रथमका), पर (पीछेका), अवर (उल्टी ओरका), दक्षिण (दहिनी ओरका), उत्तर (अन्त वा आगेका), अपर (पृथक्), अधर (नीचेका), यह शब्द पंचम्यर्थके सम्बन्धी अर्थात् अमुकके पहले अमुकके पीछे, इस अर्थके हों और संज्ञा न हो तो सर्वनाम संज्ञक हैं ।

स्व शब्द ज्ञाति और धन इस अर्थका न हो अर्थात् आत्मा वा आत्मीय (आप वा अपना) इस अर्थका हो तो सर्वनामसंज्ञक है ।

अन्तर यह शब्द बहिर्योग (बाहरका) अथवा उपसंव्यान (पहरनेका कपडा) इस अर्थका हो तो सर्वनामसंज्ञक जानना । (अन्तरमिति) ' अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ' ऐसा जो पीछे कहा हुआ गणसूत्र है उसमें अन्तर शब्दका अर्थ बाहरका ऐसा चाहे हो तो भी उसके आगे पुर् (नगरी) शब्द हो तो सर्वनामसंज्ञक नहीं होता, (अपुरीति वा० २४०) इस कारण ' अन्तरायां पुरि ' (बाहरकी नगरीमें) ऐसा रूप हुआ, सर्वनाम संज्ञा होती तो ' अन्तरस्याम् ' ऐसा सप्तम्यन्त रूप हुआ होता (सि० २९१ आबन्त सर्वा शब्द देखो) ।

' पूर्वपरा० ', ' स्वमज्ञाति० ', ' अन्तरं बहिर्० ', यह तीनों गणसूत्र हैं, सर्वनाम संज्ञा करनेके लिये ही केवल इनका प्रयोजन है, यही सूत्र फिर अष्टाध्यायीमें आगे दिये हुएहैं, गणसूत्रसे प्राप्त हुई संज्ञाको जस् प्रत्यय परे रहते विकल्प लाना ही उनका प्रयोजन है, सो यह सब आगे दिखातेहैं-

२१८ पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् ।१।१।३४॥

एतेषां व्यवस्थायामसंज्ञायां सर्वनामसंज्ञा गणपाठात्सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात् । पूर्वे । पूर्वाः। स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था । व्यवस्थायां किम् । दक्षिणा गाथकाः। कुशला इत्यर्थः।असंज्ञायां किम्।उत्तराः कुरवः॥

२१८-पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, इन शब्दोंकी व्यवस्थाकालमें और संज्ञा न होते जो गणपाठसे संज्ञा सब स्थानमें होती है, उसको जस्के रूपमें प्रस्तुत सूत्रसे विकल्प होताहै । पूर्वे । पूर्वाः ।

(स्वाभिधेयेति) इनके अर्थमें जिस अवधिकी अर्थात् मर्यादाकी अपेक्षा उत्पन्न होतीहै उस विषयके नियमको व्यवस्था कहतेहैं, अर्थात् अमुकसे पूर्व इत्यादि पूर्वोक्त प्रकारके विषयमें जो नियम उसको व्यवस्था कहतेहैं । व्यवस्था होते ऐसा क्यों कहा ? तो व्यवस्थाका नियम न हो तो ' दक्षिणा गाथकाः ' कुशला इत्यर्थः । कुशल अर्थात् चतुर गवैया इस प्रकारके अर्थमें प्रयोग है, उसमें दक्षिण शब्दको सर्वनाम संज्ञा नहीं होनेसे जस् के स्थानमें शी नहीं हुई ।

संज्ञा न होते क्यों कहा? तो 'उत्तराः कुरवः' इसमें उत्तरके कुरु यह देशकी संज्ञा (नाम) है, इससे उसकी सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई, इसीसे जस्के स्थानमें शी(ई) नहीं हुई * ॥

२१९ स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् ॥१।१।३५॥

ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य या प्राप्ता संज्ञा सा जसि वा स्यात् । स्वे । स्वाः । आत्मीया इत्यर्थः । आत्मान इति वा । ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः ज्ञातयोऽर्था वा ॥

२१९–ज्ञाति और धनको छोड कर अर्थात् 'आप' वा 'अपना' इन अर्थोंमें जो स्व शब्दकी गणपाठके अनुसार सर्व नाम संज्ञा प्राप्त है सो जस् प्रत्ययमें विकल्प हो। यथा–स्व+जस्= स्वे, स्वाः (आत्मा वा आत्मीय अर्थ यहां जानना)। जब ज्ञाति अथवा धन ऐसा अर्थ होता है; तब स्व+जस्=स्वाः (ज्ञाति वा धन) पद सिद्ध होगा । 'स्वे' में जस्के स्थानमें शी हुई है ॥

२२० अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ॥१।१।३६॥

बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य या प्राप्ता संज्ञा सा जसि वा स्यात् । अन्तरे, अन्तरा वा गृहाः । बाह्या इत्यर्थः । अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः । परिधानीया इत्यर्थः ॥

२२०–बाहरका अथवा पहरनेका वस्त्र इस अर्थमें अन्तर शब्द हो तो उसको जो सर्वनाम संज्ञा सर्वत्र प्राप्त है सो जस् परे रहते विकल्प करके हो । यथा–अन्तर+जस्=अन्तरे, अन्तराः गृहाः (बाहरके घर) । अन्तरे, अन्तराः शाटकाः (पहरनेकी साडी) । दोनों स्थानोंमें विकल्प करके सर्वनाम संज्ञा हुई ॥

२२१ पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ॥७।१।१६॥

एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः । पूर्वस्मात् । पूर्वात् । पूर्वस्मिन् । पूर्वे । एवं परादीनामपि । शेषं सर्ववत् । एकशब्दः संख्यायां नित्यैकवचनान्तः ॥

२२१–इन्हीं पूर्वादि नव शब्द अर्थात् पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, स्व और अन्तर शब्दके परवर्ती ङसि और ङिके स्थानमें क्रमसे विकल्प करके स्मात् और स्मिन् हों । यथा–पूर्व+ङसि=पूर्वस्मात्, पूर्वात् । पूर्व+ङि=पूर्वस्मिन्, पूर्वे । इसी प्रकार पर आदि शब्दोंमें भी जानना । इन शब्दोंके शेष रूप सर्व शब्दकी समान होंगे, इन नव शब्दोंके रूप स्पष्ट करनेके लिये पूर्व शब्दके रूप लिखतेहैं ।

पूर्व शब्दके रूप–

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	पूर्वः	पूर्वौ	पूर्वे, पूर्वाः
सम्बुद्धि	हे पूर्व	हे पूर्वौ	हे पूर्वे, हे पूर्वाः
द्वितीया	पूर्वम्	पूर्वौ	पूर्वान्
तृतीया	पूर्वेण	पूर्वाभ्याम्	पूर्वैः
चतुर्थी	पूर्वस्मै	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः
पंचमी	पूर्वस्मात्, पूर्वात्	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः
षष्ठी	पूर्वस्य	पूर्वयोः	पूर्वेषाम्
सप्तमी	पूर्वस्मिन्, पूर्वे	पूर्वयोः	पूर्वेषु

इसी प्रकार शेष पर आदि आठोंके भी रूप जानो । इसके आगे गणपाठमें क्रमसे आनेवाले त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस् यह सर्वनाम हलन्त हैं, इस कारण हलन्त प्रकरणमें इनके रूप आवेंगे । एकशब्द सर्ववत् है, परन्तु जब उसका संख्याविशेष (एक) अर्थ हो, तब केवल एकवचनान्त ही रूप होताहै, एकशब्दके–

एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा ।
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते ॥

अर्थात् अन्य, प्रधान (मुख्य), प्रथम, केवल, साधारण, समान, अल्प और संख्याविशेष ऐसे आठ अर्थ हैं, उनमें संख्याविशेषको छोडकर दूसरे अर्थ हों तो उनके रूप सब वचनोंके होंगे ।

द्वि शब्द इकारान्त शब्दोंमें आवेगा ।

युष्मद्, अस्मद्, भवतु (भवत्), किम्, यह सर्वनाम हलन्त हैं, इस कारण हलन्तप्रकरणमें आवेंगे ।

समासके कारण कभी २ सर्वनाम संज्ञाको बाध आताहै, उसके विषयमें अगला सूत्र है ॥

२२२ न बहुव्रीहौ । १ । १ । २९ ॥

बहुव्रीहौ चिकीर्षिते सर्वनामसंज्ञा न स्यात् । त्वकं पिता यस्य स त्वत्कपितृकः । अहकं पिता यस्य स मत्कपितृकः । इह समासात्प्रागेव प्रक्रियावाक्ये सर्वनामसंज्ञा निषिध्यते । अन्यथा लौकिके विग्रहवाक्ये इव तत्राप्यकच् प्रवर्तेत स च समासेऽपि श्रूयेत । अतिक्रान्तो भवकन्तमाति भवकानितिवत् । भाष्यकारस्तु त्वकत्पितृको मकत्पितृक इति रूपे इष्टापत्तिं कृत्वैतत्सूत्रं प्रत्याचख्यौ । यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् । संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः । महासंज्ञाकरणेन तदनुगुणानामेव गणे संनिवेशात् । अतः संज्ञाकार्यमन्तर्गणकार्यं च तेषां न भवति । सर्वो नाम कश्चित्तस्मै सर्वाय देहि । अतिक्रान्तः सर्वमतिसर्वस्तस्मा अतिसर्वाय । अतिकतरं कुलम् । अतितत् ॥

२२२–बहुव्रीहि समास करना हो तो समासघटक शब्दकी सर्वनाम संज्ञा न हो । त्वकं पिता यस्य स त्वत्कपितृकः (तू अज्ञात मनुष्य है पिता जिसका वह त्वत्कपितृक), अहकं

---

* सारांश यह कि, जसमें पूर्वे, पूर्वाः । परे, पराः । अवरे, अवराः। दक्षिणे, दक्षिणाः । उत्तरे, उत्तराः । अपरे, अपराः । ऐसे दो दो रूप होतेहैं । इतर रूप २२१ में समझे जांयगे । संज्ञामें सर्वनाम संज्ञा न होनेसे रामशब्दवत् रूप होंगे ॥

पिता यस्य स मत्कपितृकः (मैं अज्ञात मनुष्य हूं पिता जिसका वह मत्कपितृक) सर्वनामसंज्ञक शब्दको ही अकच् प्रत्यय होता है यह पीछे "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ५।३।७१ / १०२६" सूत्रका उल्लेख करके स्पष्ट कर ही दियाहै, तथा अर्थ भी कर दिया है। युष्मद् (तू) अस्मद् (मैं) इन सर्वनामोंके प्रथमाके एकवचन त्वम्, अहम् ३८५ से होते हैं, अकच् होनेसे वह रूप 'त्वकम्' 'अहकम्' होतेहैं–युष्मद्, अस्मद्,–यह सर्वनाम समासमें आतेहैं तब उनके स्थानमें ७।२।९८ / १३७१ त्वत्, मत्,–यह रूप होतेहैं और अकच् होते ही वही त्वकत्, मकत् ऐसे रूप होतेहैं, परन्तु २।२।२३ / ८२९ से बहुव्रीहि समास किया जायगा तब प्रस्तुत सूत्रसे सर्वादिकोंकी सर्वनामसंज्ञा नहीं होती और सर्वनामत्वके बिना तो अकच् होता ही नहीं, इस कारण उक्त प्रसंगमें त्वकत्, मकत्, यह रूप नहीं होते, अकच्के अभावमें सामान्यसे होनेवाला जो केवल क प्रत्यय वह लगकर होनेवाले 'त्वत्क, ' 'मत्क' यह रूप उन्हींकी योजनासे होतेहैं, इस कारण केवल वाक्य हीमें 'त्वकं पिता यस्य' 'अहकं पिता यस्य' इनमें सर्वनाम है, तो भी बहुव्रीहि समास होते समय सर्वनामत्व न रहते, 'त्वत्कपितृकः', मत्कपितृकः' इनमें क-प्रत्ययान्तोंकी योजना हुईहै।

(इह समासादिति) लौकिक विग्रहवाक्यका अर्थ यह कि, समासके पदोंका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये लौकिक भाषणकी रीतिसे जो शब्दयोजनाकी जाती है, वह लौकिक विग्रहका अर्थ है, समासपदका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये उसके घटनायुक्त शास्त्रीयभाषाके अनुसार रहनेवाले प्रकृति प्रत्ययकी स्थिति दिखानेवाले वाक्यको अलौकिक प्रक्रियावाक्य कहते हैं।

'त्वत्कपितृकः' इसका लौकिक विग्रहवाक्य–'त्वकं पिता यस्य' है और अलौकिक प्रक्रियावाक्य युष्मद्+क+सु+पि +सु+कप्+सु यह है।

इस अलौकिक वाक्यमें ही पहले सर्वनामसंज्ञाका निषेध होकर अकच्के स्थानमें क प्रत्यय होकर फि समास हुआहै, ऐसा न होता तो लौकिक विग्रहवाक्यके अनुसार वहांपर भी अकच् हो जाता और समासमें भी उसका श्रवण होता, जैसे 'अतिक्रान्तो भवकन्तम्=अतिभवकान्' इस तत्पुरुष समासमें अन्तमें भी अकच् रह गयाहै वैसा प्रकार (बहुव्रीहिमें) यहां भी होता। (भाष्यकार इति) ऐसा होनेपर भी भाष्यकारने 'त्वकत्पितृकः', 'मकत्पितृकः' इन रूपोंमें इष्टापत्ति (अर्थात् यह रूप बहुव्रीहिमें होतेहैं चलो यही अच्छा है ऐसा स्वीकार) कर "न बहुव्रीहौ" इस प्रस्तुत सूत्रका प्रत्याख्यान कियाहै अर्थात् यह सूत्र नहीं चाहिये ऐसा कहाहै। (यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्) पहले सूत्रकार, फिर वार्तिककार, फिर भाष्यकार, इन तीन मुनियोंमें अनुक्रमसे उत्तरोत्तर प्रमाण मानना अर्थात् सूत्रकारसे वार्तिककारका, वार्तिककारसे भाष्यकारका मत विशेष ग्राह्य है परन्तु भाष्यकारका इन दोनोंके ही मतसे विशेष प्रमाण है इस कारण भाष्यकारके मतानुसार 'त्वकत्पितृकः' 'मकत्पितृकः' यह रूप ग्राह्य हैं और सर्वादि शब्दोंकी बहुव्रीहिसमासमें भी सर्वनामसंज्ञा है।

* (संज्ञोपसर्जनीति) जो सर्वादि शब्द संज्ञा (नाम) में योजना किये गये हैं, अथवा उपसर्जनीभूत (दूसरे शब्दमें विशेषणको समान लगाये हुए) हों तो वे सर्वादि शब्द सर्वनामसंज्ञक न हों (वा० २२५) कारण कि, व्याकरणमें केवल लाघवके निमित्त ही जो छोटी २ विना अर्थकी (टि० ७९), (घि २४३) इत्यादि संज्ञा की हैं, वैसे सर्वनाम यह संज्ञा अर्थशून्य वा छोटी संज्ञा नहीं है, यह महासंज्ञा (पांच अक्षरोंकी बडी संज्ञा) है और सार्थ है, सर्वनामानिका अर्थ 'सर्वेषां नामानि' अर्थात् सब नामोंके स्थानमें आनेवाले शब्द हैं, इसीसे इस अर्थके अनुकूल ही जब यह सर्वादि शब्द होंगे तभी सर्वादि गणमें उनकी गणना होगी, यह बात स्पष्ट है, जब वे केवल संज्ञाशब्द होतेहैं, अथवा विशेषण होतेहैं, तब उनके अर्थमें संकोच होताहै, इसी कारण उनकी सर्वनाम संज्ञा नहीं, इसीसे सर्वनाम संज्ञा होनेसे जो कार्य शब्दको होतेहैं वह (शी, स्मै, स्मात्, स्मिन्, सुट्, अकच्) और अन्तर्गणके कारणसे त्यदादि २६५ डतरादि ३१५ ऐसे जो सर्वादिकोंके अन्तर्गत दूसरे गण किये हैं उस कारणसे होनेवाले जो (अ, अद्, आदि) कार्य वे भी नहीं होते। (सर्वो नाम कश्चित् तस्मै सर्वाय देहि) अर्थात् सर्वनामवाले पुरुषको कुछ दो ऐसा कहनेकी इच्छामें सर्वकी चतुर्थी सर्वस्मै ऐसा न होते 'सर्वाय देहि' ऐसा प्रयोग हुआहै यह संज्ञाका उदाहरण हुआ।

(अतिक्रान्तः सर्वमिति)–सबके उल्लंघन करनेवाले अतिसर्वको कुछ दो ऐसा कहना हो तो उपसर्जनत्वके कारण अर्थात् उसमें विशेषणत्व होनेसे अतिसर्वाय ऐसा ही प्रयोग होताहै।

(अतिकतरं कुलम्) किस मनुष्यका अतिक्रमण किया हुआ कुल। इसमें डतर (अतर) प्रत्ययके कारणसे नपुंसकमें 'अतिकतरम्' ऐसा इतर नपुंसक शब्दके समान रूप हुआ, इसी प्रकारसे 'अतितत्' (उसका अतिक्रमण करनेवाला) इसमें 'तद्' इसको विशेषण होनेके कारण सर्वनाम संज्ञा न होनेसे पुँल्लिङ्गमें भी 'अतितत्' ऐसा ही नपुंसक शब्दके रूपकी समान दीखता हुआ रूप होताहै। अतिसः नहीं होता, ('अतितत्' में "त्यदादीनामः" से अ और "तदोः सः०" से स न हुए)॥

सर्वनामसंज्ञाका निषेधक सूत्र–

२२३ तृतीयासमासे । १ । १ । ३० ॥

अत्र सर्वनामता न स्यात् । मासपूर्वाय । तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि न । मासेन पूर्वाय ॥

२२३–तृतीयातत्पुरुष ६९३ समासमें भी सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। 'मासेन पूर्वाय' एक महीनेसे बड़ा ऐसा विग्रह होते मासपूर्व जो समास होताहै, उसकी चतुर्थीमें 'मासपूर्वाय' होताहै, इस सूत्रमें "विभाषा दिक्समासे०" इससे समासे इसकी अनुवृत्ति लाकर सिद्ध ही था फिर समासग्रहणसे नियम होताहै कि तृतीयातत्पुरुष समासका अर्थ हो जिसमें ऐसा वाक्य होते भी वहां सर्वादि शब्दको सर्वनामता नहीं 'मासेन पूर्वाय'

(जो एक महीनेसे बडा, उसको) यह सूत्र तदन्तविधिसे प्राप्त संज्ञाके निषेधके निमित्त है ॥

२२४ द्वन्द्वे च । १ । १ । ३१ ॥

द्वन्द्वे उक्ता संज्ञा न । वर्णाश्रमेतराणाम् । समुदायस्यायं निषेधो न त्ववयवानाम् । न चैवं तदन्तविधिना सुट्प्रसङ्गः सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडिति व्याख्यातत्वात् ॥

२२४–तदन्तविधिसे प्राप्त जो सर्वनाम संज्ञा वह द्वन्द्वसमास (९०१) में नहीं होती । वर्णाश्रमेतराणाम् (वर्ण, आश्रम और इतरका) । यह निषेध समुदायका है, उसके अवयवोंका जैसे बहुव्रीहिमें होताहै वैसे नहीं होता अर्थात् 'वर्णाश्रमेतर' इस सम्पूर्ण शब्दमात्रको सर्वनामता नहीं है, इसमेंके 'इतर' इस अंशकी तो है ही, इस कारण 'पदाङ्गाधिकारे०' इस पूर्वोक्त (२०९) परिभाषासे "आमि सर्वनाम्नः सुट् $\frac{७।१।५२}{१२७}$" यहाँ तदन्तविधि होकर षष्ठीके आम् प्रत्ययको कहा हुआ जो सुट् वह इतरान्तसे परे जो आम् उसको भी होना चाहिये परन्तु वैसा नहीं होता, कारण कि, सर्वनामसे विधान करके जो आम् प्रत्यय लगाया हुआ होगा उसको सुट्का आगम होताहै, इस प्रकार २१७ सूत्रकी व्याख्या भाष्यकारने की है । इस कारण इतर यह शब्द सर्वनाम भी है और उसके आगे आम् प्रत्यय भी है तो भी उस इतर शब्दसे यह आम् प्रत्यय नहीं विहित है, इसकारण उसको सुडागम नहीं होता ऐसा इस व्याख्यानसे सिद्ध होताहै, आम् प्रत्यय 'वर्णाश्रमेतर' इस द्वन्द्वसमासघटित शब्दसे किया गयाहै, और इस शब्दके सर्वनामत्वका प्रस्तुत सूत्रसे निषेध है, इस कारण यहां सुडागम नहीं होता ऐसा जानना ॥

२२५ विभाषा जसि । १ । १ । ३२ ॥

जसाधारं शीभावाख्यं यत्कार्यं तत्र कर्तव्ये द्वन्द्वे उक्ता संज्ञा वा स्यात् । वर्णाश्रमेतरे । वर्णाश्रमेतराः । शीभावं प्रत्येव विभाषेत्युक्तमतो नाकच् । किंतु कप्रत्यय एव । वर्णाश्रमेतरकाः ॥

२२५–द्वन्द्व समासको सर्वनामसंज्ञा नहीं होती ऐसा कहा भी है, तथापि जस् प्रत्ययको जब शी (ई) कार्य हो तब द्वन्द्व समासमें उक्त सर्वनामसंज्ञा विकल्प करके होतीहै, यथा–वर्णाश्रमेतरे, वर्णाश्रमेतराः । केवल शीरूप कार्यके लिये ही द्वन्द्वमें सर्वनामत्वको विभाषा कहाहै, इस कारण द्वन्द्वमें 'अकच्' नहीं 'क' प्रत्यय ही होताहै, कारण कि 'अकच्' प्रत्यय होनेके लिये उसको सर्वनामसंज्ञा नहीं है, 'वर्णाश्रमेतरकाः' । और शीभाव होताहै तब तो क प्रत्यय भी नहीं होता, कारण कि जो 'क' प्रत्यय किया जाताहै तो द्वन्द्वसमास पीछे पडजाताहै और फिर उसमें जहां 'क' प्रत्यय है, वहां सर्वनाम संज्ञा न होनेसे आगे शीभाव न होगा ॥

ऐसे ही और भी कितने शब्दोंकी सर्वनाम संज्ञा कभी नहीं होती, केवल जस्प्रत्ययमें वह विकल्पसे होती है, उसके निमित्त सूत्र–

२२६ प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च । १ । १ । ३३ ॥

एते जसः कार्यं प्रत्युक्तसंज्ञा वा स्युः । प्रथमे । प्रथमाः । शेषं रामवत् । तयः प्रत्ययस्ततस्तदन्ता ग्राह्याः । द्वितये । द्वितयाः । शेषं रामवत् । नेमे । नेमाः । शेषं सर्ववत् । विभाषाप्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसंख्यानम् ॥ द्वितीयस्मै । द्वितीयायेत्यादि । एवं तृतीयः । अर्थवद्ग्रहणान्नेह । पटुजातीयाय । निर्जरः ॥

२२६–प्रथम, चरम, तय (प्रत्ययान्त), अल्प, अर्ध, कतिपय, नेम, यह शब्द जस् कार्यके समय विकल्प करके सर्वनामसंज्ञक होतेहैं । प्रथमे, प्रथमाः (प्रथमके); शेष रूप रामशब्दके समान जानने । तय यह प्रत्यय है, इससे तयप्प्रत्ययान्त शब्द लिये जायंगे, द्वितये, द्वितयाः (दूसरे) इतर रूप रामशब्दवत् होंगे । इसी प्रकार चरमे, चरमाः (अन्तके) । अल्पे, अल्पाः । अर्धे, अर्धाः । कतिपये, कतिपयाः (कुछ) ऐसे रूप होतेहैं, इतर रूप रामशब्दवत् जानो । नेमे, नेमाः । नेमशब्द सर्वादि गणमें है इससे शेष रूप सर्वशब्दवत् जानो । अवयवोंकी संख्या दिखानेवाला तयप् प्रत्यय है, दो अवयव जिसके हों वह द्वितय इसी प्रकार त्रितय, चतुष्टय, पञ्चतय, बहुतय, इत्यादि रूप जानो $\frac{५।२।४२}{१८४३}$ सूत्र देखो ।

*(विभाषेति) इस विभाषाप्रकरणमें तीयप्रत्ययान्त (द्वितीय, तृतीय) शब्दोंकी ङित् विभक्ति परे रहते सर्वनाम संज्ञा करनी चाहिये । (वा० २४५) अर्थात् द्वितीय, तृतीय शब्दोंको ङित् विभक्तिमें (चतुर्थी, पंचमी, सप्तमी) इनके एक वचनमें विकल्पसे सर्वनाम संज्ञा होतीहै । द्वितीयस्मै, द्वितीयाय । द्वितीयस्मात्, द्वितीयात् । द्वितीयस्मिन्, द्वितीये । इसी प्रकार तृतीय शब्दके रूप जानने । तृतीयस्मै, तृतीयाय । तृतीयस्मात्, तृतीयात् । तृतीयस्मिन्, तृतीये । इनके इतर रूप रामशब्दवत् होंगे ।

'अर्थवद् ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम् ७३' यह परिभाषा पीछे कहीहै, इसके अनुसार यहां ऐसा जानना कि, संख्याके पूर्ण करनेके निमित्त जो "द्वेस्तीयः $\frac{५।२।५४}{१८५४}$" इससे तीय प्रत्यय होताहै उसके उच्चारणसे "प्रकारवचने जातीयर् $\frac{५।३।६९}{२०२४}$" इससे होनेवाला जातीयर् (जातीय) प्रत्यय है, इसमेंके 'तीय' इतने निरर्थक अंशका ग्रहण नहीं होता, उन शब्दोंका इस विभाषासे किसी प्रकारका कुछ सम्बन्ध नहीं, इस कारण पटुजातीय (कुशल मनुष्यकेसा) इस शब्दकी चतुर्थीमें 'पटुजातीयाय' ऐसा ही रूप होताहै, ऐसे ही और रूप रामशब्दकी समान जानने ॥

निर्जर (देवता) शब्द–(निर्गता जरा यस्मात् अर्थात् जिसको बुढापा नहीं आता–देवता) निर्जर+सु–निर्जरः । निर्जर+औ–

२२७ जराया जरसन्यतरस्याम् ७ । २ । १०१ ॥

जराशब्दस्य जरस् वा स्यादजादौ विभक्तौ ।

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशे प्राप्ते निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वाज्जरशब्दस्य जरस् । निर्जरसौ । निर्जरसः । इनादीन् बाधित्वा परत्वाज्जरस् । निर्जरसा । निर्जरसे । निर्जरसः । पक्षे हलादौ च रामवत् । वृत्तिकृता तु पूर्वविप्रतिषेधेन इनातोः कृतयोः सन्निपातपरिभाषाया अनित्यत्वमाश्रित्य जरसि कृते निर्जरसिन निर्जरसादिति रूपे न तु निर्जरसा निर्जरस इति केचिदित्युक्तम्। तथा भिसि निर्जरसैरिति रूपान्तरमुक्तम् । तदनुसारिभिश्च षष्ठ्येकवचने निर्जरस्येत्येव रूपमिति स्वीकृतमेतच्च भाष्यविरुद्धम् ॥

२२७-अजादि विभक्ति आगे होते जरा शब्दको जरस् आदेश होताहै । (परि०) 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' अर्थात् पदाधिकार वा अंगाधिकारमें कहे हुए शब्दसे तदन्तका भी ग्रहण होताहै (२०९ सि०) । यह सूत्र अंगाधिकारमें है, इससे जराशब्दसे निर्जर शब्दका भी ग्रहण होताहै, अर्थात् निर्जर शब्दको भी जरस् आदेश होताहै, जरस् यह अनेकवर्णवान् आदेश है इससे निर्जरके स्थानमें १।१।५५/४५ से प्राप्त हुआ, परन्तु (पारि०) 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' अर्थात् सूत्रमें जितनेका उच्चारण किया हो उतने ही अंशको आदेश होताहै, इस कारण 'जर' इतने ही अंशको आदेश जानना चाहिये । (एकदेशेति) एक देशमें विकार होनेसे अन्यके तुल्य नहीं होता (जैसे कुत्ता कान, पूंछ कटनेपर घोडा या गधा नहीं होता) इससे आदिमें जरा इस आकारान्त शब्दको सूत्रमें आदेश कहाहै तो भी उसके एकदेश अर्थात् थोडे भागमें विकार होकर बना जो जर शब्द उसको जरस् आदेश होताहै, निर्जर शब्दमें जरा यह मूल स्त्रीलिंग शब्द है, "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १।२।४८/६५६" इससे उसको ह्रस्व हुआ है । निर्जरसौ । जस्, शस्में निर्जरसः । अकारान्त पुँल्लिगके आगेके टा, ङे, ङसि, ङस्के स्थानमें ५।१।१२/२०१ । ७।१।२३/२०४ से क्रमसे इन, य, आत्, स्य. यह आदेश होतेहैं, परन्तु इस ७।२।७१/२२७ का कार्य जरस् आदेश पहले होकर शब्दका अकारान्तत्व नष्ट होगया, और उससे इन इत्यादि आदेश न होकर टा आदि मूल प्रत्यय ही लगकर निर्जरस् + टा=निर्जरसा । ङे=निर्जरसे । ङसि, ङस्=निर्जरसः । इसी प्रकारसे ओस्, आम्, ङि, इन प्रत्ययोंमें पहले ही जरस् आदेश होताहै । और जरसादेशके विकल्प पक्षमें और हलादिमें रामवत् रूप होतेहैं ।

निर्जर शब्दके रूप-

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	निर्जरः	निर्जरसौ, निर्जरौ	निर्जरसः, निर्जराः
सम्बोधन	हे निर्जर	हे निर्जरसौ, हे निर्जरौ	हे निर्जरसः, हे निर्जराः
द्वि०	निर्जरसम्, निर्जरम्,	निर्जरसौ, निर्जरौ	निर्जरसः, निर्जरान्
तृ०	निर्जरसा, निर्जरेण	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
च०	निर्जरसे, निर्जराय	निर्जराभ्याम्	निर्जरेभ्यः
पं०	निर्जरसः, निर्जरात्-द्	निर्जराभ्याम्	निर्जरेभ्यः
षष्ठी	निर्जरसः, निर्जरस्य	निर्जरसोः, निर्जरयोः	निर्जरसाम्, निर्जराणाम्
सप्तमी	निर्जरसि, निर्जरे	निर्जरसोः, निर्जरयोः	निर्जरेषु ॥ * ॥

(वृत्तिकृतेति)-वृत्तिकार कहतेहैं कि, "विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२/१०५" से पर अर्थात् इष्ट प्रसंगके अनुकूल ऐसा अर्थ लेकर यहां पूर्व यही अनुकूल अर्थ है, ऐसा कह कर "विभक्त्यादेशाः पूर्वप्रतिषेधेन भवन्ति" ऐसा वार्तिक वचन होनेसे उसके बलसे पूर्व कार्य पहले करना, अकारान्त निर्जर शब्दको इन, आत् यह पूर्व ७।१।१२/२०१ कार्य पहले करके उन्हींके निमित्तसे फिर उलटे निर्जर शब्दको २२७ से जरस् आदेश करना चाहिये, सन्निपातपरिभाषा तो अनित्य है अर्थात् यहां बाध आनेपर भी कोई हानि नहीं, इस कारण 'निर्जरसिन' 'निर्जरसात्' ऐसे रूप होतेहैं; 'निर्जरसा' 'निर्जरसः' ऐसे रूप नहीं होते ऐसा कोई कोई कहतेहैं, इसी प्रकार भिस् प्रत्ययमें भी निर्जरसैः ऐसा एक और रूप उन्होंने मानाहै, इसी प्रकार वृत्तिकारका मत माननेवालोंने षष्ठीके एकवचनमें 'निर्जरस्य' यह एक ही रूप मानाहै, वार्तिकसे स्य आदेश पहले होताहै और फिर जरस् आदेशको स्थल नहीं रहता ऐसा कहते हैं, परन्तु यह सब मत भाष्यविरुद्ध होनेसे त्याज्य हैं * ॥

(इस सूत्रमें "अचि र ऋतः ७।२।१००/२९९" से 'अचि' और "अष्टन आ विभक्तौ ७।२।८४/३७१" से 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति आतीहै)

पाणिनीय सूत्रोंकी वृत्ति लिखनेवालोंका नाम [illegible]त्तिकार है, नाम प्रसिद्ध नहीं ।

स्त्रीलिंग जरा शब्द २९३ सूत्रमें आवेगा उसका वर्णन वहीं करेंगे, यहां केवल अकारान्त शब्द दिखाया है ॥

---

* द्वितीयाबहुवचनमें अर्थात् शस् प्रत्ययमें प्रथम रूपमें दीर्घ नहीं होता इस कारण "तस्माच्छसो नः पुंसि ६।१।७२/१९६" सूत्र नहीं लगता अर्थात् नकार नहीं होता । तृतीयाबहुवचनमें "अतो भिस ऐस् ७।१।९/२०३ इससे अकारान्तके आगे भिस् प्रत्ययके स्थानमें ऐस् आदेश हुआ, वह अजादि है इससे उसके कारणसे "जराया जरस्०" ७।२।१०१/२२७ सूत्रसे जरसादेश भी प्राप्त होताहै ऐसा न कहना चाहिये कारण कि निर्जर शब्दमेंके अकारान्तके आश्रयसे जो ऐस् आदेश हुआ उसीके कारणसे उपजीव्य निर्जर शब्दके अकारान्तत्वको नष्ट न होते सन्निपातपरिभाषा २०४ का विरोध आताहै वैसे ही अकारान्त शब्दको भी जो कितने एक दूसरे कार्य होने हैं वे जरसादेशमें नहीं होते ॥

* २०१ सूत्रमें भाष्यकारने इन और आत् का प्रत्याख्यान करके उसके स्थानमें 'न' 'अत्' ऐसा विधान किया 'रामेण' इत्यादि रूपसिद्धिके लिये "आङि चापः २८९" में 'आङि च' इसका योगविभाग कर आङ् परे रहते अदन्ताङ्गको एत्व हो ऐसा अर्थ किया और 'रामात्' इत्यादिकी सिद्धिके लिये 'अत्' ऐसा उच्चारणसामर्थ्यसे पररूप १९१ का बाध कर दीर्घ ही ८५ होगा ऐसा कहाहै, उनके मतसे वार्तिककारका 'निर्जरसिन' 'निर्जरसात्' इत्यादिरूप विरुद्ध हैं क्योंकिं 'न' 'अत्' ऐसा आदेश होनेपर वे रूप नहीं बनसकते और भिस्से 'निर्जरैः' ऐसा ही होताहै यहां सन्निपातपरिभाषासे जरस् आदेश नहीं होता ऐसा भाष्यकारने कहाहै ॥

अब पाद (चरण) शब्द कहतेहैं-

२२८ पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु ॥ ६ । १ । ६३ ॥

पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष, दोष, यकृत्, शकृत्, उदक, आस्य, एषां पादादय आदेशाः स्युः शसादौ वा । यत्तु आसनशब्दस्य आसन्नादेश इति काशिकायामुक्तं तत्प्रामादिकम् । पादः । पादौ । पादाः । पादम् । पादौ । पदः । पादान् । पदा । पादेन इत्यादि ॥

२२८-पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष, दोष, यकृत्, शकृत्, उदक, आस्य, इन शब्दोंके स्थानमें क्रमसे पद्, दत्, नस्, मास्, हृद्, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, यक्न्, शकन्, उदन्, आसन्, आदेश शस् आदि विभक्ति परे रहते विकल्प करके हों ("अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् ६ । १ । ५९" से विकल्पकी अनुवृत्ति आतीहै)। आसन शब्दके स्थानमें आसन् आदेश हो यह बात जो काशिका वृत्तिमें लिखीहै, वह प्रमाद अर्थात् भूल है * ॥

पाद शब्दके रूप-

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र.	पादः	पादौ	पादाः
सं.	हे पाद	हे पादौ	हे पादाः
द्वि.	पादम्	पादौ	पदः, पादान्
तृ.	पदा, पादेन	पद्भ्याम्, पादाभ्याम्	पद्भिः, पादैः
च.	पदे, पादाय	पद्भ्याम्, पादाभ्याम्	पद्भ्यः, पादेभ्यः
पं.	पदः, पादात्	पद्भ्याम्, पादाभ्याम्	पद्भ्यः, पादेभ्यः
ष.	पदः, पादस्य	पदोः, पादयोः	पदाम्, पादानाम्
स.	पदि, पादे	पदोः, पादयोः	पत्सु, पादेषु

अब 'दन्त' (दांत) इसको शसादि प्रत्यय आगे रहते पूर्वसूत्रसे विकल्पसे दत् आदेश होताहै परन्तु इसके रूप कहनेसे पहले कितनी ही संज्ञायें कहनी उचित हैं, सो कहतेहैं-

२२९ सुडनपुंसकस्य । १ । १ । ४३ ॥

सुट् प्रत्याहारः । स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरक्लीबस्य ॥

२२९-सुट् यह प्रत्याहार है, इससे सु, औ, जस्, अम्, औट् इन पांच प्रत्ययोंमेंसे प्रत्येकका ग्रहण होताहै । नपुंसकलिंगको छोडकर सु आदि पांच विभक्तियोंकी सर्वनामस्थान संज्ञा है । ("शि सर्वनामस्थानम् $\frac{१।१।३९}{३१३}$" से सर्वनामस्थानकी अनुवृत्ति आतीहै) * ॥

२३० स्वादिष्वसर्वनामस्थाने । १ । ४ । १७ ॥

कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं पदसंज्ञं स्यात् ।

२३०-असर्वनामस्थान अर्थात् सर्वनामस्थानभिन्न कप् प्रत्ययपर्यन्त (चतुर्थाध्यायके प्रारम्भसे पञ्चमाध्यायतकके) प्रत्यय परे रहते पूर्वकी पद संज्ञा हो । "सुप्तिङन्तं पदम् २९" से, $\frac{४।१।२}{१८३}$ से सुप् और $\frac{३।४।७८}{२१५४}$ से तिङ् प्रत्यय लगाकर जो शब्द बनतेहैं, उनकी पद संज्ञा होतीहै, परन्तु यहां प्रत्यय आगे रहते शब्दके मूलरूपकी पद संज्ञा है, यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये । यहां (२९ से पदकी अनुवृत्ति आतीहै) ॥

इसका अपवाद-

२३१ यचि भम् । १ । ४ । १८ ॥

यकारादिष्वजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं भसंज्ञं स्यात्॥

२३१-पिछले सूत्रमें कहेके अनुसार असर्वनामस्थान जो सु से लेकर कप् तक प्रत्यय उनमेंसे जो यकारादि अथवा अजादि प्रत्यय आगे हों तो पूर्व शब्दकी भ संज्ञा होतीहै ॥

पद और भ संज्ञा यह दोनों एक ही समय प्राप्त होतीहैं, तो इसपर कहतेहैं-

२३२ आ कडारादेका संज्ञा । १ । ४ । १ ॥

इत ऊर्ध्वं कडाराः कर्मधारय इत्यतः प्रागेकस्यैकैव संज्ञा ज्ञेया या पराऽनवकाशा च । तेन शसादावचि भसंज्ञैव न पदत्वम् । अतो जश्त्वं न । दतः । दता । जश्त्वम् । दद्भ्यामित्यादि । मासः । मासा । भ्यामि रुत्वे यत्वे च यलोपः । माभ्याम् । माभिरित्यादि ॥

२३२-यहां $\frac{१।४।१}{२३२}$ से "कडाराः कर्मधारये $\frac{२।२।३८}{७५१}$" तक अर्थात् पहिले अध्यायके चतुर्थपादसे लेकर द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादकी समाप्तितक तीन पादमें जो संज्ञा कही हैं, वह एकको एक ही होतीहैं अर्थात् एक शब्दको कौन संज्ञा हो ? तो इनमेंसे दो वा अधिक संज्ञायें नहीं होतीं, (या परेति) जो पर हो वह होतीहै, परन्तु जो पूर्व संज्ञाको

---

१ जयादित्य अपर नाम वामनाचार्यने जो पाणिनीय सूत्रोंकी वृत्ति लिखी है वह काशी क्षेत्रमें लिखे जानेके कारण काशिका नामसे विख्यात है, कौमुदीसे पहले इसीका प्रचार था ॥

* "आस्नो वृकस्य वर्त्तिकाम्" इस मन्त्रमें 'आस्नः' इसका 'मुखात्' (मुखसे) ऐसा ही उचित अर्थ होनेसे और "हव्या जुह्वान आसनि" इस मन्त्रमें 'आसनि' इसका 'मुखे' (मुखमें) ऐसा अर्थ होनेसे 'आसन्' इस आदेशका स्थानी आस्य शब्द है, आसन शब्द नहीं ॥

* यहां लाघवसे 'सुट् स्त्रीपुंसयोः' ऐसा कहना उचित था सो न कहकर 'अनपुंसकस्य' ऐसा जो उच्चारण किया सो प्रसज्यप्रतिषेधमें भी समास हो (नञ्के दो अर्थ हैं-पर्युदास और प्रसज्य, तिसमें पर्युदास सदृशका ग्राहक होनेसे उसके समासमें कोई बाधा नहीं यथा 'अब्राह्मणः' इत्यादि और प्रसज्यार्थकका तो क्रियासे अन्वय होताहै इस कारण इस अर्थमें भी समास हो) ऐसे वाक्यसे ज्ञापक होताहै तिससे 'असूर्यंपश्यानि मुखानि' इत्यादि वाक्य भी समास होनेसे सिद्ध होतेहैं ॥

और कहीं भी अवकाश न हो तो वही होतीहै, इससे शस् यहांसे चतुर्थ पंचम अध्यायमेंके प्रत्यय जो हैं, उनमेंके अजादि प्रत्यय आगे हों तो पूर्व शब्दको भ संज्ञा ही होतीहै, पद संज्ञा नहीं होती।

सारांश यह कि, सु, औ, जस्, अम्, औट् इन पांच प्रत्ययोंको पुँल्लिङ्गमें और स्त्रीलिंगमें सर्वनाम संज्ञा होतीहै, इन पांच प्रत्ययोंको छोडकर चौथे पांचवें अध्यायोंके जो और प्रत्यय बचे हैं उनमेंसे यकारादि और अजादि प्रत्यय आगे रहते पूर्व शब्दको 'भ' और उन्हींमेंके इतर प्रत्यय आगे रहते पूर्व शब्दको पद संज्ञा जाननी चाहिये, यह सब प्रत्यय बहुत हैं, परन्तु यहां सुप् प्रत्ययोंको दिखातेहैं-शस्, टा, ङे, ङसि, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस् इनसे भ संज्ञा है। भ्याम्, भिस्, भ्याम्, भ्यस्, भ्याम्, भ्यस्, सुप, इन सातसे पद संज्ञा है। विशेष ध्यान रखने योग्य यह बात है कि, सर्वनामस्थान संज्ञा प्रत्ययोंकी होतीहै, परन्तु पद और भ संज्ञा यह प्रत्ययोंके पहले रहनेवाले शब्दोंकी होतीहै। इसी प्रकारसे शसादिकोंमेंके अजादि प्रत्यय आगे रहते पद संज्ञा नहीं होती, इसीसे 'दत्' के आगे शस् प्रत्यय होते "झलाञ्जशोऽन्ते ८४" सूत्र नहीं लगता, कारण कि पदान्तके बिना इस सूत्रकी प्राप्ति नहीं होती, यहां पदान्त नहीं है, इससे तकारको (जश्त्व) दकार नहीं होता, दतः। दता। भ्याम् इत्यादि हलादि प्रत्यय आगे रहते पद संज्ञा है इससे ८४ से जश्त्व (तकारको दकार) हुआ दद्भ्याम् इत्यादि।

दन्त शब्दके रूप-

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र.	दन्तः	दन्तौ	दन्ताः
सं.	हे दन्त	हे दन्तौ	हे दन्ताः
द्वि.	दन्तम्	दन्तौ	दतः, दन्तान्
तृ.	दता, दन्तेन	दद्भ्याम्,दन्ताभ्याम्	दद्भिः, दन्तैः
च.	दते, दन्ताय	दद्भ्याम्,दन्ताभ्याम्	दद्भ्यः,दन्तेभ्यः
पं.	दतः, दन्तात्	दद्भ्याम्,दन्ताभ्याम्	दद्भ्यः,दन्तेभ्यः
ष	दतः, दन्तस्य	दतोः, दन्तयोः	दताम्,दंतानाम्
स.	दति, दन्ते	दतोः, दन्तयोः	दत्सु, दन्तेषु

नासिका (नाक) शब्द स्त्रीलिंगमें आगे आवेगा, (२९३ सू० देखो)।

मास (महीना) शब्द, इसको शसादिमें विकल्प करके मास् होगा, इससे मास्+शस्=मासः। मास्+टा=मासा। मास्+भ्याम्=माभ्याम्, इसमेंके सकारको "ससजुषो रुः ८।२।६६/१६२" से रु(र्) और आगे अश् रहनेसे रु को "भोभगो० ८।३।१७/१६७" से यत्व, फिर "हलि सर्वेषाम् ८।३।२२/१७१" से लोप होकर माभ्याम् हुआ। मास्+भिस्=माभिः-इत्यादि।

मास शब्दके रूप-

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र.	मासः	मासौ	मासाः
सं.	हे मास	हे मासौ	हे मासाः
द्वि.	मासम्	मासौ	मासः, मासान्
तृ.	मासा, मासेन	माभ्याम्, मासाभ्याम्	माभिः, मासैः
च.	मासे, मासाय	माभ्याम्, मासाभ्याम्	माभ्यः, मासेभ्यः
पं.	मासः मासात्	माभ्याम्, मासाभ्याम्	माभ्यः, मासेभ्यः
ष.	मासः, मासस्य	मासोः, मासयोः	मासाम्, मासानाम्
स.	मासि, मासे	मासोः, मासयोः	माःसु, मास्सु,मासेषु

हृदय नपुंसक लिंगमें, निशा स्त्रीलिंगमें, असृज् नपुंसकमें आवेंगे।

यूष (मूंगका काढा) शब्द, इसको शसादिमें विकल्प करके यूषन् आदेश होताहै, परन्तु-॥

२३३ भस्य। ६। ४। १२९॥

अधिकारोऽयम् ॥

२३३-यहां भसंज्ञाका अधिकार जानना चाहिये॥

२३४ अल्लोपोऽनः। ६। ४। १३४॥

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपः स्यात्॥

२३४-अङ्गका अवयव और असर्वनामस्थान यकारादि प्रत्यय और अच् आदिवाले स्वादि प्रत्यय जिसके परे हों ऐसे अनके अकारका लोप हो। यूषन्+अस् ऐसी स्थिति हुई-॥

२३५ रषाभ्यां नो णः समानपदे। ८। ४। १॥

एकपदस्थाभ्यां रेफषकाराभ्यां परस्य नस्य णः स्यात्। यूष्णः। यूष्णा। पूर्वस्मादपि विधौ स्थानिवद्भाव इति पक्षे तु अड्व्यवाय इत्येवात्र णत्वम्। पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवदिति तु इह नास्ति। तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेष्विति निषेधात्॥

२३५-एक ही पदमें रहनेवाला रेफके आगेका अथवा षकारके आगेका जो 'न्' उसके स्थानमें 'ण्' आदेश होताहै,- यूष्णः। यूष+टा=यूष्णा, यहां अकारके स्थानमें लोप यह आदेश है, (पूर्वस्मादिति) "अचः परस्मिन्पूर्वविधौ १।१।५७/५०" इससे पर वर्णके निमित्तसे अच्के स्थानमें प्राप्त होनेवाला जो आदेश वह अच्के पूर्व वर्णके कार्य कर्तव्य होते स्थानिवत् होताहै ऐसा कहाहै, परन्तु 'पूर्वविधौ' इसका अर्थ पूर्वस्य विधौ (पूर्ववर्णके सम्बन्धसे कार्य कर्त्तव्य होते) ऐसा न करते 'पूर्वस्मात् विधौ' अर्थात् पूर्ववर्णके अगले वर्णका कार्य कर्त्तव्य होते ऐसा भी कहीं २ करतेहैं, इस कारण विभक्ति प्रत्ययके निमित्तसे यूषन् इसमेंके जिस 'अ' अच्के स्थानमें अकारका लोप आदेश हुआहै, उसका पूर्व वर्ण जो ष् उससे परे नकारको णकार करना है, इस कारण अकारके लोपको 'स्थानिवद्भाव' अर्थात् अ है ऐसा पक्ष लियाजाय तो 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८।४।२/१५७" इस सूत्रसे बीचमें अकार रहते भी षकारके निमित्तसे नकारके स्थानमें णत्व होताहै। (पूर्वत्रासि०) 'त्रिपादीमें स्थानिवद्भाव नहीं होताहै' ऐसा वचन है, परन्तु वह यहां नहीं लगता, क्योंकि संयोगादिलोप, लत्व, णत्व इनका

विधान होते त्रिपादीमें भी स्थानिवद्भाव होता है, ऐसा भाष्यमें निषेध होनेसे यहां उस वचनका बाध होताहै * ॥

२३६ न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य । ८ । २ । ७ ॥

नेति प्रातिपदिकेति च लुप्तषष्ठीके पदे । प्रातिपदिकसंज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नकारस्य लोपः स्यात् । नलोपस्यासिद्धत्वाद्दीर्घत्वमेत्वमैस्त्वं च न। यूषभ्याम्।यूषभिः। यूषभ्य इत्यादि॥

२३६–इस सूत्रमें 'न' और 'प्रातिपदिक' यह दोनों पद 'लुप्तषष्ठीक' हैं, इनमेंके षष्ठीप्रत्ययोंका लोप हुआ है, सूत्रोंमें यह बात देखी जातीहै इससे षष्ठीप्रत्यय न होते भी षष्ठीका अर्थ लेना चाहिये, तब प्रातिपदिकसंज्ञक पद होते (अर्थात् उसके आगे असर्वनामस्थानसंज्ञक यजादिवर्ज भ्याम् इत्यादि स्वादि प्रत्यय होते) उसके अन्त्य नकारका लोप होताहै ।

(नलोपस्येति) यह सूत्र त्रिपादीका है इससे सपादसप्ताध्यायीमेंके आगे कहे कार्यको लोप नहीं दीखता, नकार ही दीखताहै, इससे "सुपि च ७।३।१०२ / २०२" इससे यञादि सुप् प्रत्यय आगे रहते अकारान्त अंगको होनेवाला दीर्घ वहां नहीं होता, "अतो भिस ऐस् ७।१।९ / २०३" इससे अकारान्तके आगे जो भिस् उसके स्थानमें होनेवाला ऐस् आदेश वह भी नहीं होता, "बहुवचने झल्येत् ७।३।१०३ / २०५" इससे बहुवचन झलादि सुप् प्रत्यय आगे रहते अकारको होनेवाला एत्व भी नहीं होता । इनके उदाहरण अनुक्रमसे यूषभ्याम्, यूषभिः, यूषभ्यः–इत्यादि

ऊपर वृत्तिमें 'प्रातिपदिकसंज्ञकं यत्पदम्' ऐसा कहा है उसमें सुप्तिङन्त जो पद उसका भी ग्रहण होताहै, इससे राजन्+पुरुषः इत्यादिमें नकारका लोप होकर 'राजपुरुषः' ऐसा हुआ है ॥

२३७ विभाषा ङिश्योः।६।४।१३६॥

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपो वा स्यात् ङिश्योः परयोः । यूष्णि । यूषणि । पक्षे रामवत् । पद्न्निति सूत्रे प्रभृतिग्रहणं प्रकारार्थम् । तथा च औङः श्यामपि दोषन्नादेशो भाष्ये ककुद्दोषणी इत्युदाहृतः । तेन पदंघ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्, स्वान्तं हृन्मानसं मन इति संगच्छते । आसन्यं प्राणमूचुरिति च । आस्ये भवः आसन्यः । दोष्शब्दस्य नपुंसकत्वमप्यत एव भाष्यात् । तेन दक्षिणं दोर्निशाचर इति संगच्छते । भुजबाहू प्रवेष्टो दोरिति साहचर्यात्पुंस्त्वमपि । दोषं तस्य तथाविधस्य भजत इति । द्वयोरह्नोर्भवो द्व्यह्नः॥

२३७–असर्वनामस्थानयजादिस्वादिपर (अर्थात् भसंज्ञक) और अंगका अवयव जो अन् उसके अकारका विकल्प करके लोप होताहै आगे ङि वा शी ७।१।१९ / ३१० प्रत्यय परे रहते । यूष्णि, यूषणि । अन्य पक्षमें रामशब्दवत् ।

यूष शब्दके रूप–

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	यूषः	यूषौ	यूषाः
सम्बोधन	हे यूष	हे यूषौ	हे यूषाः
द्वितीया	यूषम्	यूषौ	यूष्णः, यूषान्
तृतीया	यूष्णा, यूषेण	यूषभ्याम्, यूषाभ्याम्	यूषभिः, यूषैः
चतुर्थी	यूष्णे, यूषाय	यूषभ्याम्, यूषाभ्याम्	यूषभ्यः, यूषेभ्यः
पञ्चमी	यूष्णः, यूषात्	यूषभ्याम्, यूषाभ्याम्	यूषभ्यः, यूषेभ्यः
षष्ठी	यूष्णः, यूषस्य	यूष्णोः, यूषयोः	यूष्णाम्, यूषाणाम्
सप्तमी	यूष्णि, यूषणि, यूषे	यूष्णोः, यूषयोः	यूषसु, यूषेषु

इसके अगले शब्द दोष्, यकृत्, शकृत् यह हलन्त हैं । उदक, आस्य यह अदन्त नपुंसक हैं, इससे इनके रूप अपने २ स्थानपर आवेंगे.

"पद्दन्० २२८" सूत्रमें प्रभृतिशब्द प्रकार अर्थात् सादृश्य दिखानेके निमित्त जोडा गयाहै, इस कारण शस्के पूर्वमें भी कहे हुए प्रत्यय आगे रहते कहीं २ पद्, दत् इत्यादि आदेश होतेहैं, (तथा च औङः श्या०) भाष्यमें "नपुंसकाच्च ७।१।१९ / ३३०" इस सूत्रसे औङ् (औ) प्रत्ययको होनेवाला शी (ई) आदेश करते समय भी 'ककुद्दोषणी' (बैलकी ककुद्-कन्धा)। दोष (हाथ) यह उदाहरण देकर स्पष्ट कियाहै । इसीसे 'पदंघ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यादि अमरकोशके वाक्योंमें पद्, हृद् ऐसा शब्द प्रथमाके एकवचन सुप्रत्यय में लाये गयेहैं यह ठीक बैठतेहै । (आसन्यं प्राणमूचुरिति) मुखमें उत्पन्न हुए वायुको प्राण कहतेहैं, ऐसा भी प्रामाणिक प्रयोग है । (आस्ये भव आसन्यः) मुखमें उत्पन्न हुआ, 'आसन्य' इसमें "शरीरावयवाच्च ४।३।५५ / १४३०" इससे यत् (य) प्रत्यय हुआहै यह शसादि सुप् प्रत्ययोंके परेका है

---

* 'रषाभ्यां नो०' 'अट्कुप्वाङ्०' यह सूत्र त्रिपादीमें होनेसे पूर्वत्र असिद्ध है इस कारण तत्प्रयुक्त कार्यको "अचः परस्मिन्पूर्वविधौ १।१।५७ / ५०" यह शास्त्र नहीं लगता, इसपरसे "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" यह परिभाषा प्रगट हुई, परन्तु फिर 'संयोगादिलोप०' इस निषेधके कारण उसका प्रस्तुत प्रसंगमें निराकरण हुआ, अर्थात् वहां स्थानिवद्भाव है ऐसा निश्चय हुआ, इन तीनों अपवादोंके उदाहरण यहां हैं–"स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ८।२।२९ / ३८०" इससे पदान्तमें वा आगे झल् रहते संयोगके प्रारंभमें रहनेवाले सकार और ककारका लोप होताहै, इस कारण चक्री+अत्र इसकी संधि होनेसे जो चक्र्य्×अत्र ऐसी स्थिति हुई उसमें 'क्र्य्' ऐसा जो संयोग वह पदान्तमें होनेसे उसके आदि ककारका लोप प्राप्त हुआ, परन्तु 'संयोगादिलोप०' इस वचनसे अन्त्य यकारको स्थानिवद्भावसे ईत्व प्राप्त है, इस कारण क्र् इस संयोगको पदान्तत्व नहीं आता, और आगे झल् भी नहीं है इस कारण आदि ककारका लोप न होते 'चक्र्यत्र' ऐसी संधि हुई । लत्वका उदाहरण–'निगाल्यते' यह गृ धातुका प्रयोजकणिजन्तकर्मणि रूप है, इसमें स्थानिवद्भावसे रेफके स्थानमें "अचि विभाषा" ८ । २ । २१" से लत्व हुआ है । 'माषवपनी' इसमें स्थानिवद्भाव है इस कारण नकारको णत्व नहीं हुआ, अर्थात् 'यस्येति च' इससे अलोपके स्थानिवद्भाव होनेमें नकारको प्रातिपदिकान्तत्वाभाव होनेसे णकार न हुआ । अन्तके इन दोनों रूपोंकी सिद्धिका विस्तार आगेके स्थलोंमें आवेगा इस कारण यहां नहीं लिखते ॥

तो भी यह आगे रहते आस्य शब्दको आसन् आदेश हुआ है ।

'आसन्' यह आदेश आसन शब्दको होताहै ऐसा काशिकाकारने कहाहै सो प्रामादिक है यह कहनेको 'आसन्यं प्राणमूचुः' यही आधार है ॥

(दोष्शब्दस्य) ऊपर 'ककुदोषणी' ऐसा शब्द आया है वह 'ककुदोषन्' इस नपुंसक शब्दका प्रथमा द्वितीयाका द्विवचन है, इस भाष्यके लेखके आधारसे दोष शब्द नपुंसक भी है, इससे 'दक्षिणं दोर्निशाचरे' (दहिनी भुजा राक्षसपर 'डाली') यह प्रयोग साधु दीखताहै । (भुजबाहू०) अमरकोशमें 'प्रवेष्टः' पुँल्लिङ्गके साथ 'दोः' (दोष्) शब्द दिया हुआहै इस कारण उसको पुंस्त्व भी है, इसका प्रयोग 'दोषं तस्य तथाविधस्य भजतः' (इस प्रकारका वह ईश्वर है उसकी बाहुको भजते०) यह है ॥

अब द्व्यह्न शब्द-('द्वयोः अह्नोः भवः-द्व्यह्नः' । जो दो दिनोंमें हुआ)---

२३८ संख्याविसायपूर्वस्याह्नस्याहन्नन्यतरस्यां ङौ । ६ । ३ । ११० ॥

संख्यादिपूर्वस्याह्नस्याहनादेशो वा स्यान्ङौ। द्व्यह्नि। द्व्यहनि। द्व्यह्ने। विगतमहर्व्यह्नः। व्यह्नि। व्यहनि। व्यह्ने। अह्नः सायः सायाह्नः। सायाह्नि। सायाहनि। सायाह्ने॥ ॥ इत्यदन्ताः ॥

विश्वपाः ॥

२३८-संख्यावाचक शब्द अथवा अव्यय वि और साय-शब्द यदि पूर्वमें हों तो अह्न शब्दके स्थानमें ङि परे रहते विकल्प करके अहन् आदेश हो । इससे द्व्यह्नको 'द्व्यहन्' ऐसा रूप हुआ परन्तु आगे ङि होनेसे "विभाषा ङिश्योः ६।४।१३६/२३७" इससे फिर विकल्प करके अन्के अकारका लोप हुआ इस प्रकारसे तीन रूप हुए-द्व्यह्नि, द्व्यहनि, द्व्यह्ने। शेष रूप रामशब्दवत् जानो ।

इसी प्रकार व्यह्न ('विगतम् अहः' बीता हुआ दिन) शब्दके रूप जानो । इसके आगे ङि होनेसे व्याह्नि, व्यहनि, व्यह्ने । इतर रूप रामशब्दवत् जानो ।

अह्नः सायः-(दिनका सायंकाल) 'सायाह्नः' ङि प्रत्यय आनेपर सायाह्नि, सायाहनि, सायाह्ने । इतर रूप रामशब्दवत् जानने ।

इसमें अहन शब्द हलन्त है तो भी "अहोऽह्न एतेभ्यः ५।४।८८/७९०" इससे टच् (अ) होकर समासान्तमें अह्न आदेश हुआ है, अहन् शब्द आदिका नपुंसक है तो भी द्व्यह्न यह सामासिक शब्द विशेषणरूप होनेसे पुँल्लिङ्गमें लेनेसे कोई दोष नहीं, 'व्यह्न' और 'सायाह्न' यह शब्द "रात्राह्नाहाः पुंसि २।४।२९/८१४" इससे पुँल्लिङ्ग हुए हैं ॥

इति अदन्ताः ॥

आदन्त शब्द विश्वपा (विश्वं पाति इति विश्वपाः-विश्वका पालन करनेवाला) इसमें 'पा' धातुके आगे क्विप् प्रत्यय हुआ है क्विप् प्रत्यय सब जातारहताहै (२२६ देखो) कृत् प्रत्यय होनेके कारण इसकी प्रातिपदिक संज्ञा हुई आगे विभक्ति प्रत्यय 'सु' में विश्वपाः । अब 'औ' और 'जस्' में-

२३९ दीर्घाज्जसि च । ६ । १ । १०५ ॥

दीर्घाज्जसि इचि च परे प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घो न स्यात् । वृद्धिः । विश्वपौ । सवर्णदीर्घः । विश्वपाः । यद्यपीह औङि नादिचीत्येव सिद्धं जसि तु सत्यपि पूर्वसवर्णदीर्घे क्षतिर्नास्ति तथापि गौर्यौ गौर्य इत्याद्यर्थं सूत्रमिहापि न्याय्यत्वादुपन्यस्तम् ॥

२३९-दीर्घके आगे जस् वा इच् प्रत्याहारका वर्ण हो तो "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ६।१।१०१/१६४" यह सूत्र नहीं लगता अर्थात् इससे पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता । औ प्रत्यय आगे रहते "वृद्धिरेचि ६।१।८८/७२" इससे वृद्धि हुई तब विश्वपौ । आगे जस् परे रहते "अकः सवर्णे दीर्घः ८५" से दीर्घ विश्वपाः ।

(यद्यपीति०) यहां औङ् (औ) प्रत्यय आगे रहते "नादिचि ६।१।१०४/१६५" अवर्णके आगे इच् रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता, इसीसे रूप सिद्ध होजायगा और जस् प्रत्ययमें तो पूर्वसवर्णदीर्घ हो तो भी कोई हानि नहीं वही रूप होगा तथापि गौरी इत्यादिशब्दोंके गौर्यौ गौर्यः, इत्यादि रूप "प्रथमयोः० १६४" से सिद्ध नहीं होंगे इस सूत्रसे उसमें दोष आजायगा, इससे यह प्रस्तुत सूत्र लगाना चाहिये (२०० सूत्र देखो) उस शब्दकी समान ही यह शब्द दीर्घान्त होनेसे यहां भी वही नियम लगाना न्याय्य है, इससे वह सूत्र यहां दियाहै ॥

२४० आतो धातोः । ६ । ४ । १४० ॥

आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याऽङ्गस्य लोपः स्यात् । अलोन्त्यस्य । विश्वपः । विश्वपा । विश्वपाभ्यामित्यादि । एवं शङ्खध्मादयः । धातोः किम् । हाहान् । टा । सवर्णदीर्घः । हाहा । ङे । वृद्धिः । हाहै । ङसिङसोर्दीर्घः । हाहाः २ । ओसि वृद्धिः । हाहौः । ङौ आद्गुणः । हाहे । शेषं विश्वपावत् । आत इति योगविभागादधातोरप्याकारलोपः क्वचित् । क्त्वः । इनः ॥

इत्यादन्ताः ॥

२४०-आकारान्त जो धातु वह है अन्तमें जिसके ऐसे भसंज्ञक अंगका लोप हो । "अलोन्त्यस्य १।१।५२/४२" इससे आकारका लोप हुआ विश्वप्+अस=विश्वपः । विश्वपा+टा=विश्वपा । विश्वपाभ्याम् इत्यादि ।

विश्वपा शब्दके रूप-

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	विश्वपाः	विश्वपौ	विश्वपाः
सम्बोधन	हे विश्वपाः	हे विश्वपौ	हे विश्वपाः
द्वितीया	विश्वपाम्	विश्वपौ	विश्वपः

तृतीया	विश्वपा	विश्वपाभ्याम् विश्वपाभिः
चतुर्थी	विश्वपे	विश्वपाभ्याम् विश्वपाभ्यः
पंचमी	विश्वपः	विश्वपाभ्याम् विश्वपाभ्यः
षष्ठी	विश्वपः	विश्वपोः विश्वपाम्
सप्तमी	विश्वपि	विश्वपोः विश्वपासु

बिश्वपा शब्दको एङन्त वा ह्रस्वान्त न होनेसे सम्बोधनमें "एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः ६।१।६९/१९३" इसका कार्य अर्थात् सुलोप नहीं होता, दूसरा भी कोई कार्य नहीं होता कारण कि प्राप्ति ही नहीं।

इसी प्रकार शंखध्मा आदि शब्दोंके रूप जानने। धूम्रपा, सोमपा आदि शब्दोंके रूप इसी प्रकार होंगे।

(धातोः किम्) धातुको हो ऐसा क्यों कहा? तो धातु न होते भी भ संज्ञकका लोप होजाता। यथा—हाहा (गन्धर्वविशेष) यह अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है इसमें लोप न होनेसे शस् प्रत्ययमें 'हाहान्', टा प्रत्ययमें "अकः सवर्णे दीर्घः ८५" से दीर्घ हाहा। ङेप्रत्ययमें "वृद्धिरेचि ६।१।८८/७२" इससे वृद्धि हाहै। ङसि, ङस्, इन प्रत्ययोंमें सवर्ण दीर्घ हाहाः। हाहाः। ओस् प्रत्ययमें "वृद्धिरेचि ७२" से वृद्धि हाहौः। ङिमें "आद् गुणः ६।१।८७/६९" से गुण हाहे। शेष रूप विश्वपा शब्दके समान जानने। इस सब जगह लोप होजाता, इसलिये धातोः कहा।

हाहा शब्दके रूप—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	हाहाः	हाहौ	हाहाः
संबोधन	हे हाहाः	हे हाहौ	हे हाहाः
द्वितीया	हाहाम्	हाहौ	हाहान्*
तृतीया	हाहा	हाहाभ्याम्	हाहाभिः
चतुर्थी	हाहै	हाहाभ्याम्	हाहाभ्यः
पंचमी	हाहाः	हाहाभ्याम्	हाहाभ्यः
षष्ठी	हाहाः	हाहौः	हाहाम्
सप्तमी	हाहे	हाहौः	हाहासु

(आतः०) 'आतो धातोः' इस सूत्रमें 'आतः' इतना भाग अलग है उससे केवल अर्थात् धातु न होते भी आकारान्त शब्दोंको कहीं भके स्थानमें अन्त्यलोप होताहै, इससे ३।४।१८/३३१६ इस प्रत्ययका शस् प्रत्ययमें 'क्त्वः' रूप और स्ना ३।१।८१/२५५४ इस बिकरणका शस्प्रत्ययमें 'स्नः' रूप हुआ॥

इति आदन्ताः॥

हरिः। प्रथमयोः पूर्वसवर्णः। हरी॥

इकारान्त हरि (विष्णु) शब्द। सुप्रत्ययमें हरिः। औ प्रत्ययमें "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ६।१।१०१/१६४" इससे पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर हरी। जस्—

२४१ जसि च। ७। ३। १०९॥

ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणः स्याज्जसि परे। हरयः॥

२४१—आगे जस् रहते ह्रस्वान्त अङ्गको गुण होता है। हरे+अस्—अय् (एचोयवायावः) होकर हरयः। सम्बुद्धि—

* शस् प्रत्ययमें पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर "तस्माच्छसो नः पुंसि ६।१।१०३/१९६" इससे सकारको नकारादेश होकर 'हाहान्' ऐसा रूप हुआ॥

२४२ ह्रस्वस्य गुणः। ७। ३। १०८॥

ह्रस्वस्य गुणः स्यात्संबुद्धौ। एङ्ह्रस्वादिति संबुद्धिलोपः। हे हरे। हरिम्। हरी। हरीन्॥

२४२—आगे सम्बुद्धि रहते ह्रस्वको गुण होताहै। हरे+सु ऐसी स्थिति रहते "एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः ६।१।६९/१९३" इससे सम्बुद्धिलोप, हे हरे। "अमि पूर्वः ६।१।१०७/१९४" इससे हरिम्। हरी पूर्ववत्। "तस्माच्छसो० ६।१।१०३/१९६" से हरीन्।

अगले रूप समझानेको नई संज्ञा करतेहैं।

२४३ शेषो घ्यसखि। १। ४। ७॥

अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविवर्णोवर्णौ तदन्तं सखिवर्जं घिसंज्ञं स्यात्। शेषः किम्। मत्यै। एकसंज्ञाधिकारात्सिद्धे शेषग्रहणं स्पष्टार्थम्। ह्रस्वौ किम्। वातप्रम्ये। यू किम्। मात्रे॥

२४३—ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त जो सखिवर्जित शब्द उनमें नदीसंज्ञक शब्दोंको छोडकर शेष रहे शब्दोंकी घि संज्ञा हो ("यूस्त्र्याख्यौ नदी १।४।३/२६६" से इ वर्ण उ वर्णकी और "ङिति ह्रस्वश्च १।४।६/२९६" इससे ह्रस्व पदकी अनुवृत्ति आती है) *॥

(शेषः किम्) नदीसंज्ञक शब्द छोडकर शेष रहे हुए ऐसा क्यों कहा? इसका आशय यह कि जब नदी संज्ञा है तब घि संज्ञा नहीं होती यह बात दिखानेको ('मत्यै' इस को विचारो) मति शब्दको ङे प्रत्ययमें जब विकल्पसे नदी संज्ञा होकर मत्यै (२९६) रूप हुआ, तब उसकी घि-संज्ञा नहीं है जब नदी संज्ञा नहीं तभी घि संज्ञा है।

(एकसंज्ञाधिकारादिति) "आ कडारादेका संज्ञा १।४।१/२३२" यहांसे लेकर २।२।३८ तक एकसंज्ञाधिकार होनेसे यहां दोनों संज्ञा एक ही समय नहीं होतीं घिसंज्ञाका नदी संज्ञा अपवाद है, इससे शेष ऐसा शब्द सूत्रमें योजना करनेका प्रयोजन न था तथापि स्पष्ट करनेके निमित्त जोडा गयाहै।

ह्रस्व क्यों कहा? तो वातप्रमी यह शब्द नदीसंज्ञक नहीं है तो भी वह दीर्घान्त है इस कारण घि संज्ञा नहीं और इसीसे

* बहुतसे दीर्घ ईकारान्त ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द नदीसंज्ञक हैं, यथा १।४।३/२६६। १।४।४/३०३। १।४।५/३०४। १।४।६/२९६ इस संज्ञाका प्रयोजन आगे सिद्ध होगा. (सि० २६६। २७०)। सब ह्रस्व इकारान्त, उकारान्त स्त्रीलिङ्गशब्द भी नदीसंज्ञक होतेहैं परन्तु केवल ङित् (जिसमें ङ् इत् हो ऐसा) प्रत्यय आगे रहते ही वह नदीसंज्ञक हैं और फिर भी विकल्प करके नदीसंज्ञक हैं इससे दूसरे पक्षमें सर्वदा अनदीसंज्ञक भी हैं। ह्रस्व उकारान्त शब्दोंकी जब नदी संज्ञा नहीं होती तब सामान्यतः घिसंज्ञा होतीहै, घिसंज्ञा सभी लिङ्गोंमें होतीहै, स्त्रीलिङ्गमें ही होतीहै यह बात नहीं, आशय यह कि पुंल्लिङ्गमें, स्त्रीलिङ्गमें अथवा नपुंसकलिङ्गमें, सखि शब्दको छोडकर दूसरा कोई ह्रस्व इकारान्त वा उकारान्त शब्द हो वह घिसंज्ञक होताहै यह सामान्य नियम है (पतिशब्दका अपवाद सि० २५७) और ह्रस्व इकारान्त उकारान्त स्त्रीलिङ्गवाले शब्द ङित्प्रत्ययके पूर्वमें विकल्प करके नदीसंज्ञक जानने। हरिशब्द इकारान्त पुंल्लिङ्ग होनेसे उसकी घि संज्ञा है, घि संज्ञाका कार्य हरि शब्दकी विभक्तियोंमें समझमें आवेगा॥

'वातप्रम्ये' ऐसा ङे प्रत्यय (२६५) में रूप होताहै । 'हरये' इसके समान नहीं होताहै । अब नहीं होगा इस लिये करना चाहिये ।

(यू०) इ उकारान्त ही क्यों? तो मातृ इस ऋकारान्त शब्द-की नदी संज्ञा नहीं है तो भी घि संज्ञा नहीं इससे ङे प्रत्ययमें मात्रे (३०८) ऐसा रूप होता है, हरये के समान नहीं होता अब घि संज्ञाका कार्य होगा इसलिये यू कहना चाहिये ।

२४४ आङो नाऽस्त्रियाम् ।७।३।१२०॥

घेः परस्याऽऽङो ना स्यादस्त्रियाम् । आङि-ति टासंज्ञा प्राचाम् । हरिणा । अस्त्रियां किम् । मत्या ॥

२४४-' टा ' की ' आङ् ' ऐसी संज्ञा प्राचीन वैयाकर-णोंकी है, स्त्रीलिंगको छोड़ कर घिसंज्ञक शब्दके आगे टाके स्थानमें ' ना ' आदेश होताहै । हरि+टा=हरिणा इसमें " अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८।४।२/१९७ " इससे णत्व हुआ, अस्त्रीलिङ्गमें क्यों ? तो स्त्रीलिङ्गमें ना नहीं होता, ' मत्या ' सि० २९५ ॥

२४५ घेर्ङिति । ७ । ३ । १११ ॥

घिसंज्ञकस्य ङिति सुपि गुणः स्यात् । हरये । घेः किम् । सख्ये । ङिति किम् । हरिभ्याम् । सुपि किम् । पट्वी । घेर्ङितीति गुणे प्राप्ते ॥

२४५-ङित् सुप् (ङे, ङसि, ङस्, ङि) विभाक्ति आगे रहते घिसंज्ञक शब्दको गुण होताहै (" ह्रस्वस्य गुणः ७।३।१०८ " से गुणकी अनुवृत्ति आतीहै)। हरे+ए=हरये । घिसंज्ञक क्यों कहा ? तो ' घि ' न होते गुण नहीं होता । सखि+ए=सख्ये (सि० २४५) ङित् होते सन्ते सुप् ऐसा क्यों ? तो अन्यत्र गुण नहीं होता, हरिभ्याम् । सुप् ऐसा क्यों ? तो जिस स्थानमें सुप् न हो वहां पटु (कुशल) इस घिसंज्ञक शब्दको ङीप् (ई) यह ङित् स्त्रीप्रत्यय है, परन्तु वह सुप् प्रत्यय न होनेसे गुण नहीं हुआ, (सि० ५०२) पटु+ई=पट्वी । ङसि प्रत्ययमें '.घेर्ङिति ' इस सूत्रसे गुण किया गया तो हरे+अस् ऐसी स्थिति हुई, तब-

२४६ ङसिङसोश्च ।६।१।११०॥

एङो ङसिङसोरति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । हरेः । हरेः । हर्योः । हरीणाम् ॥

२४६-एङन्त शब्दके परे ङसि, ङस् प्रत्यय सम्बन्धी अत् हो तो पूर्वरूप एकादेश हो:(" एङः पदान्तादति ६।१।१०९/८६" इस सूत्रसे ' एङ् ' और ' अत् ' की अनुवृत्ति आतीहै)। हरि+ङसि=हरेः । हरि+ङस्=हरेः । हरि+ओस्=हर्योः। आम् प्रत्ययमें राम शब्दके समान नुट् दीर्घ और णत्व (सि० ३०८ । ३०९) हरीणाम् ॥

२४७ अच्च घेः । १ । ३ । ११९ ॥

इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत्स्याद् घेरन्तादेश-श्चाकारः । हरौ । हर्योः । हरिषु । एवं श्रीपत्य-ग्निरविकव्यादयः ॥

२४७-ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्दके परे स्थित ङिके स्थानमें ' औ ' हो और उसी समय घिसंज्ञक शब्दको अकार अन्तादेश होता है । " इदुद्भ्याम् ७।३।११७/२९७ " " औत् ७।३।११८/२५६ " " ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ७।३।११६/२७० " इन सूत्रोंसे इकार, उकार औत् (औ) और ङिकी अनुवृत्ति आतीहै 'हरि+ ङि इनकी हर+ औ=ऐसी स्थिति होकर ' हरौ ' हुआ, यहां " घेर्ङिति ७।३।१११/२४५ " के अनुसार गुण होना चाहिये परन्तु प्रस्तुत सूत्र पर सूत्र है और अपवादक भी होनेके कारण गुण नहीं होता, प्रस्तुत सूत्रकाही कार्य होताहै । हरि+ओस्=मिल कर पूर्ववत् हर्योः । हरि+सु=हरिषु (सि० २१२) ।

हरि शब्दके रूप-

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	हरिः	हरी	हरयः
संबोधन	हे हरे	हे हरी	हे हरयः
द्वितीया	हरिम्	हरी	हरीन्
तृतीया	हरिणा	हरिभ्याम्	हरिभिः
चतुर्थी	हरये	हरिभ्याम्	हरिभ्यः
पंचमी	हरेः	हरिभ्याम्	हरिभ्यः
षष्ठी	हरेः	हर्योः	हरीणाम्
सप्तमी	हरौ	हर्योः	हरिषु

इसपरसे देखा जाय तो घिसंज्ञाके कार्य तीन हैं १ अस्त्री-लिंगमें तृतीयाके एकवचनमें ' ना ', २ ङिति गुण और ३ सप्तमीके एकवचनमें औ । ऐसेही श्रीपति, अग्नि, रवि, कवि, इत्यादि शब्दोंके रूप जानो ।

अब सखि (मित्र) शब्द, इसको घि संज्ञा नहीं १।४।५/२४३॥

२४८अनङ् सौ । ७ । १ । ९३ ॥

सख्युरङ्गस्यानङादेशः स्यादसंबुद्धौ सौ परे । ङिच्चेत्यन्तादेशः ॥

२४८-सम्बुद्धिसंज्ञक न हो ऐसा (प्रथमाका) सुप्रत्यय परे रहते सखि शब्दके अङ्गको अनङ् (अन्) आदेश होताहै । ' अनङ्'के नकारके परे स्थित अकार उच्चारणके निमित्त है, "ङिच्च १।१।५३/४३" इससे अन्त्यवर्णको आदेश,सखन्+स् ऐसी स्थिति होनेपर-॥

२४९ अलोन्त्यात्पूर्व उपधा ।१।१।६५॥

अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः स्यात् ॥

२४९-अन्त्य अल्के पिछले वर्णकी उपधा संज्ञा है ॥

२५०सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ ।६।४।८॥

नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यादसंबुद्धौ सर्वना-मस्थाने परे ॥

२५०-सम्बुद्धिको छोडकर सर्वनामस्थान परे रहते नान्त-शब्दकी उपधाको दीर्घ होताहै (" नोपधायाः ६।४।७/३७० " और "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" ६।३।१११/१७४ इन दो सूत्रोंसे नान्त उपधा और दीर्घकी अनुवृत्ति आतीहै) । सखान्+स् ऐसी स्थिति हुई, फिर संज्ञा-

२५१ अपृक्त एकाल् प्रत्ययः।१।२।४१॥

एकाल् प्रत्ययो यः सोऽपृक्तसंज्ञः स्यात् ॥

२५१-एकवर्णात्मक प्रत्ययकी अपृक्त संज्ञा है ॥

२५२ हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् । ६ । १ । ६८ ॥

हलन्तात्परं दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परं सुतिसीत्येतदपृक्तं हल् लुप्यते । हल्ङ्याब्भ्यः किम् । ग्रामणीः । दीर्घात्किम् । निष्कौशाम्बिः । अतिखट्वः । सुतिसीति किम् । अभैत्सीत् । तिपा सहचरितस्य सिपो ग्रहणात्सिचो ग्रहणं नास्ति । अपृक्तमिति किम् । बिभर्ति । हल् किम् । बिभेद । प्रथमहल् किम् । राजा । नलोपो न स्यात्, संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वात् । सखा । हे सखे ॥

२५२-हलन्त शब्दके परे सु, ति, सि, इनके अपृक्तरूपी हल्का लोप हो और दीर्घ ङी (ई) आप् (आ) वाले स्त्री प्रत्ययके आगेके भी सु-सम्बन्धी अपृक्त हल्का लोप हो * ॥

हल्, ङी और आप् एतदन्त शब्दके आगेका ही क्यों कहा? तो 'ग्रामणीः' यह हलन्त नहीं तो भी ङीबन्त अथवा आबन्त भी नहीं किन्तु दीर्घान्त है (ग्रामं नयति इति) 'गांव पर अधिकार चलाताहै' सो ग्रामणी। यह ग्राम और नी धातुसे बनाहै, इस कारण हल् (स्) का लोप नहीं 'ग्रामणीः' (सि० २७२) ।

दीर्घ जो ङी और आप् तदन्तशब्दके आगेका ऐसा क्यों कहा ? तो वे मूलके दीर्घ होते फिर ह्रस्व हुए हों तो उनके आगेका हल्लोप नहीं होता, कुशाम्बेन निर्वृत्ता (कुशाम्ब राजासे बसाई) कौशाम्बी नगरी इसमें "तेन निर्वृत्तम् ४।२।६८/१२६०" इससे अण् (औ वृद्धि) और "टिड्ढाणञ्० ४।१।१५/४७०" इससे ङीप् होकर कुशाम्बसे 'कौशाम्बी' ऐसा शब्द बनाहै, और उस ङीबन्त शब्दसे फिर "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १।२।४८/६५६" इससे कौशाम्ब्याः निर्गतः (कौशाम्बीसे निकलगया हुआ) 'निष्कौशाम्बिः' ऐसा ह्रस्वान्त पुँल्लिंगशब्द बना है, यह ङीबन्त है, तथापि दीर्घान्त न होनेसे हल् लोप नहीं हुआ इस कारण आगे विसर्ग है । वैसे ही 'खट्व' इस शब्दसे "अजाद्यतष्टाप् ४।१।४/४५४" इससे टाप् (आ) प्रत्यय होकर खट्वा (खाट) यह आबन्त शब्द बना इससे फिर खट्वाम् अतिक्रान्तः (खाट छोड रक्खीहै जिसने सो) 'अतिखट्वः' ऐसा "गोस्त्रियो०" के अनुसार ह्रस्वान्त शब्द हुआ, यद्यपि यह आबन्त है तो भी दीर्घ न होनेसे इसमें हल्का लोप नहीं ।

सु, ति, सि, इनके सम्बन्धी ही हल् का लोप क्यों ? तो 'अभैत्सीत्' यह भिद् धातुके लुङ् नाम भूतकालका रूप बनते समय अ+भैत्+सिच् (स्) त् ऐसी स्थिति रहते समय तकारके आगे चाहें 'स्' यह अपृक्त हल् है तो भी उसका लोप नहीं होता कारण कि (तिपा सहचरितस्य सिपो ग्रहणात् सिचो ग्रहणं नास्ति) सु, ति, सि, ऐसा उच्चारण है, इससे तिप् (ति) के साथ रहनेवाला जो सिप् (सि) ३।४।७८/२१५४ उसीका ग्रहण है, लुङ्में आनेवाला जो सिच् ३।१।४४/२२२२ तत्सम्बन्धी सकारका ग्रहण नहीं होता अर्थात् उसका लोप नहीं होता ।

(अपृक्तम् इति किम्) अपृक्तका ही लोप क्यों ? तो 'बिभर्ति' (धारण करताहै) इसमें रेफके आगे तिप् (ति) यह द्विवर्ण प्रत्यय होनेसे उसमेंके तकारका लोप नहीं होता (२४९६ सि०) ।

(हल् किम्) हल्का ही लोप क्यों ? तो 'बिभेद' (फोडता हुआ) इसमें बिभिद्+अ ऐसी स्थिति है, यहां दकारके आगे अपृक्त है तो भी वह हल् नहीं अच् है, इससे उसका लोप नहीं ।

(प्रथमहल् किम् । राजा । नलोपो न स्यात् संयोगान्तलोपस्य असिद्धत्वात्) सूत्रमें आये हुए जो दो हल्, उनमेंका प्रथम हल् क्यों, अर्थात् हल्के परे हल्का लोप ऐसा क्यों ? तो राजन् शब्दको "सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ ६।४।८/२५०" इससे दीर्घ होकर राजान्+स् ऐसा रूप होकर नकारके परे सकारका इससे: लोप होना चाहिये, परन्तु यदि कोई शंका करै कि राजान्+स् इसमें "संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३/५४" इससे सकारका लोप होसकेगा, फिर इसका कुछ कार्य नहीं, तो ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि, "संयोगान्तस्य०" यह सूत्र त्रिपादीमेंका है, इससे उसका कार्य असिद्ध होनेसे 'राजान्' इस शेष रहे हुए अंशमेंके नकारको प्रातिपदिकान्तत्व नहीं प्राप्त होगा और "न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७/२३६" इस सूत्रसे उसका लोप होना अशक्य होगा अर्थात् 'राजा' यह रूप नहीं बन सकेगा, इससे सूत्रमें प्रथमका हल् होना ही चाहिये ऐसा कहा है, इस सूत्रसे हल्लोप होनेके पीछे नकारको प्रातिपदिकान्तत्व प्राप्त होकर "नलोपः०" इस सूत्रसे उसका लोप होनेमें कोई हानि नहीं हुई, इसी प्रकारसे सखान्+स् इसमें भी हल् शेष और नलोप होकर 'सखा' हुआ । आगे सम्बुद्धि रहते "ह्रस्वस्य गुणः ७।३।१०८/२४२" इससे गुण और "एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः ६।१।६९/१९३" इससे सम्बुद्धिलोप होकर 'हे सखे' ऐसा बना ॥

आगे संज्ञा-

---

* सु (स्) यह प्रथमाके एकवचनका प्रत्यय, 'ति' और 'सि' यह "तिप्तस्झिसिप् ३।४।७८/२१५४" इसमेंके 'तिप्' और 'सिप्' हैं, लङ् (अनद्यतन भूतकाल) में इनके त् और स् यह शेष रहतेहैं, उनका यहां ग्रहण किया है, 'ङी' इसमें ङीप्, ङीष्, ङीन् यह तीनों प्रत्यय आतेहैं ।

इस सूत्रमें 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्' ऐसा कहाहै उसमें दीर्घात् यह ङी और आप् इन दोनोंका विशेषण है परन्तु 'हल्ङ्याब्भ्यः' ऐसा पंचमी बहुवचन होत सन्ते दीर्घात् यह केवल पंचमीका एकवचन है, विशेषण और उसका विशेष्य यह दोनों एक लिंग और एक वचनके होने चाहिये परन्तु सूत्रोंमें कभी २ यह नियम टूटा हुआ दिखाई देताहै, इस विषयमें 'सूत्रे लिंगवचनमतंत्रम्' ऐसी परिभाषा है ॥

२५३ सख्युरसंबुद्धौ । ७ । १ । ९२ ॥

सख्युरङ्गात्परं संबुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णित्कार्यकृत्स्यात् ॥

२५३-सखि शब्दके अंगसे परे रहनेवाला सम्बुद्धिको छोडकर सर्वनामस्थान णिद्वत् अर्थात् णकार है इत् जिसमें ऐसा होकर कार्य करनेवाला जानना चाहिये ॥ णित्का कार्य-

२५४ अचो ञ्णिति । ७ । २ । ११५ ॥

ञिति णिति च परेऽजन्ताङ्गस्य वृद्धिः स्यात् । सखायौ । सखायः । सखायम् । सखायौ । घिसंज्ञाऽभावान्न तत्कार्यम् । सख्या । सख्ये ॥

२५४-ञित् वा णित् आगे रहते अजन्त अंगको वृद्धि होती है । सखै+औ=सखायौ । सखै+अस्=सखायः । सखै+अम्=सखायम्, यहां अम् इसके पहले अक् न होनेसे पूर्वरूप नहीं होता(६।१।१०७/१९४ की वृत्ति देखनी चाहिये) फिर सखायौ सखि शब्दको घि संज्ञा न होनेसे उस संज्ञाका कार्य नहीं होता, सख्या, सख्ये, यहां टा और ङे परे गुण न हुआ ॥

२५५ ख्यत्यात्परस्य । ६ । १ । ११२ ॥

खितिशब्दाभ्यां खीतीशब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उत्स्यात् । सख्युः ॥

२५५-खि, ति और खी, ती, इनके परे ङसि, ङस् (अस्) यह प्रत्यय रहते संधिनियमोंके अनुसार इ, ईके स्थानमें ६।१।७७/४७ से यण (य्) होनेपर अगले ङसि, ङस् (अस्) इनमेंके अकारके स्थानमें 'उ' होताहै । सखि+अस् ऐसी स्थिति होते सख्य्+अस् होकर फिर सख्य्+उस् ऐसी स्थिति होकर 'सख्युः' ऐसा हुआ ।

इसमें खि, ति, खी, ती, इन चारोंका ग्रहण होकर उदाहरणमें सखिशब्दमात्र आया, 'ति' का उदाहरण पतिशब्द (सि० २५७), 'खी' के उदाहरण-पुँल्लिंग 'सखी' 'सुखी' शब्द (सि० २७३), 'ती' का उदाहरण सुतीशब्द (सि० २७३) देखो ॥

२५६ औत् । ७ । ३ । ११८ ॥

इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत्स्यात् । उकारानुवृत्तिरुत्तरार्था । सख्यौ । शेषं हरिवत् । शोभनः सखा सुसखा । सुसखायौ । सुसखायः । अनङ्णिद्वद्भावयोराङ्गत्वात्तदन्तेऽपि प्रवृत्तिः । समुदायस्य सखिरूपत्वाभावादसखीति निषेधाप्रवृत्तेर्घिसंज्ञा । सुसखिना । सुसखये । ङसिङसोर्गुणे कृते कृतयणादेशत्वाभावात्ख्यत्यादित्युत्वं न । सुसखेः । सुसखौ । इत्यादि । एवमतिशयितः सखा अतिसखा । परमः सखा यस्येति विग्रहे परमसखा । परमसखायावित्यादि । गौणत्वेप्यनङ्णित्त्वे प्रवर्तेते । सखीमतिक्रान्तोऽतिसखिः । लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया अनित्यत्वान्न टच् । हरिवत् । इहानङ्णित्त्वे न भवतः । गोस्त्रियोरिति ह्रस्वत्वेन सखिशब्दस्य लाक्षणिकत्वात् । लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणात् ॥

२५६-ह्रस्व इ और ह्रस्व उ इनके आगे ङिके स्थानमें औत् (औ) होताहै । ("इदुद्भ्याम् ७।३।११७/२६७" इस सूत्रसे इत् और उत्की अनुवृत्ति आतीहै) यहां केवल अनुवृत्तिसे उकार आयाहै, पर उसका यहां कुछ प्रयोजन नहीं है आगे अनुवृत्ति चलनेके निमित्त ही वह लेना चाहिये । सखि+औ =सख्यौ । (शेषं हरिवत्) शेष रूप हरिशब्दके समान जानने ।

सखि शब्दके रूप-

वि०	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	सखा	सखायौ	सखायः
सं०	हे सखे	हे सखायौ	हे सखायः
द्वि०	सखायम्	सखायौ	सखीन्
तृ०	सख्या	सखिभ्याम्	सखिभिः
च०	सख्ये	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
पं०	सख्युः	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
ष०	सख्युः	सख्योः	सखीनाम्
स०	सख्यौ	सख्योः	सखिषु

शोभनः सखा (अच्छा मित्र) सुसखा इसमें 'सुसखि' यह शब्द है । सुसखायौ । सुसखायः । "अनङ् सौ ७।१।९३/२४८" और "सख्युरसम्बुद्धौ ७।१।९२/२५३" यह अंगाधिकारमेंके सूत्र हैं, इस कारण तदन्त शब्दमें भी इनकी प्रवृत्ति होकर सर्वनामस्थानमें उक्त रूप होतेहैं । आगे "शेषो घ्यसखि १।४।७/२४३" इससे सखिशब्दको घिसंज्ञाका निषेध तो सत्य है, पर यह सूत्र प्रथमाध्यायमेंका है, इस कारण अंगाधिकार अथवा पदाधिकार इनमेंका न होनेसे समुदाय अर्थात् तदन्तको 'असखि' यह निषेध नहीं पहुँचता, इससे सुसखि इसकी घि संज्ञा है इसलिये सुसखिना, सुसखये, यह रूप होतेहैं । ङसि और ङस् यह प्रत्यय आगे रहते घि संज्ञा होनेके कारण गुण होकर सुसखे ऐसा होताहै, यहाँ यण आदेश न होनेके कारण "ख्यत्यात्परस्य ६।१।११२/२५५" इस सूत्रका कार्य जो उत्व उसकी प्राप्ति न हुई तो हरिशब्दके समान (सुसखेः) रूप हुआ, वैसे ही ङि प्रत्ययमें सुसखौ इत्यादि । सारांश इसमें यह है कि सर्वनामस्थानमें सखिवत् कार्य होंगे और इतर विभक्तियोंमें हरिशब्दवत् होंगे ।

सुसखि शब्दके रूप-

वि०	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	सुसखा	सुसखायौ	सुसखायः
सं०	हे सुसखे	हे सुसखायौ	हे सुसखायः
द्वि०	सुसखायम्	सुसखायौ	सुसखीन्
तृ०	सुसखिना	सुसखिभ्याम्	सुसखिभिः
च०	सुसखये	सुसखिभ्याम्	सुसखिभ्यः

पं०	सुसखेः	सुसखिभ्याम्	सुसखिभ्यः
ष०	सुसखेः	सुसख्योः	सुसखीनाम्
स०	सुसखौ	सुसख्योः	सुसखिषु.

इसी प्रकारसे 'अतिसखि' इस शब्दके रूप भी जानने। 'अतिशयितः सखा' (परम मित्र) अतिसखा।

अत्र परमसखि शब्द—'परमः सखा यस्य इति विग्रहे' अर्थात् बडा है मित्र जिसका वह, ऐसे विग्रहमें 'परमसखा, परमसखयौ'—इत्यादि रूप होंगे, 'परमसखि' यह बहुव्रीहि समासका उदाहरण लाये हैं, बहुव्रीहि समासान्त शब्द अन्य-शब्दोंके सहारेसे चलनेवाले होते हैं इससे उनको गौणत्व है (गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः) गौण और मुख्य इनमेंसे मुख्य जो हो उसमें कार्यकी प्राप्ति होतीहै, ऐसी सामान्य परिभाषा है, तथापि गौणत्व होते भी सख्यन्त (परमसखि) शब्दमें, अंगाधिकार होनेके कारण अनङ् और णित्व इनकी प्राप्ति होतीहै, अर्थात् इस शब्दके भी रूप सुसखिशब्दके रूपकी समान जानने।

अब 'अतिसखि' ऐसा एक पृथक् शब्द लाये (सखीम् अतिक्रान्तः) जो सखीको छोड कर गया वह 'अतिसखिः' यह द्वितीयान्तके साथ तत्पुरुष समास है (सि० ७८०*२) तत्पुरुष समासमें राजन्, अहन्, सखि इनमेंसे कोईसा शब्द उत्तरभागमें रहते ''राजाहःसखिभ्यष्टच् $\frac{५।४।९१}{७८८}$'' इससे टच् (अ) प्रत्यय होकर अकारान्त शब्द बनताहै, परन्तु यहां सखी यह दीर्घान्त शब्द है (लिङ्गविशिष्टपरिभाषायाः अनित्यत्वात् न टच्) सखिशब्दसे ही स्त्रिलिंगमें 'सखी' यह $\frac{४।१।६१}{५१७}$ से दीर्घ ङीषन्त शब्द बनाहै, इस कारण यहां भी टच् होना चाहता था, परन्तु लिंगविशिष्ट परिभाषा अनित्य है (१८२) इस कारण यहां वह नहीं लगतीहै, इससे टच् नहीं हुआ * ॥

इस शब्दके रूप हरि शब्दके समान होतेहैं, (इहानङ्-णित्वे न भवतः) सखि शब्दको जो अनङ् और प्रत्ययको णित्व हुआ करतेहैं, वे यहां नहीं होते, कारण यह है कि, ''गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य $\frac{१।२।४८}{६५६}$'' इससे दीर्घको ह्रस्व होनेंहीसे केवल यह सखि शब्दके समान दीखताहै, परन्तु यह सखि शब्द लाक्षणिक (सूत्रसे बना हुआ) है इसलिये इसमें (लक्षण०) लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त इन दोनोंमेंसे प्रति-पदोक्तका ही ग्रहण करना चाहिये ऐसी परिभाषा है, इससे यहां लाक्षणिक सखि शब्दको सच्चे सखि शब्दकी समान कार्य नहीं होता, घि संज्ञा होतीहै।

अतिसखि शब्दके रूप—

वि०	एक०	द्वि०	ब०
प्र०	अतिसखिः	अतिसखी	अतिसखयः
सं०	हे अतिसखे	हे अतिसखी	हे अतिसखयः
द्वि०	अतिसखिम्	अतिसखी	अतिसखीन्
तृ०	अतिसखिना	अतिसखिभ्याम्	अतिसखिभिः
च०	अतिसखये	अतिसखिभ्याम्	अतिसखिभ्यः
पं०	अतिसखेः	अतिसखिभ्याम्	अतिसखिभ्यः
ष०	अतिसखेः	अतिसख्योः	अतिसखीनाम्
स०	अतिसखौ	अतिसख्योः	अतिसखिषु

* ''शक्तिलाङ्गलाङ्कुशतोमरयष्टिघटघटीधनुष्षु ग्रहेरुपसंख्यानम्'' ऐसा $\frac{३।२।९}{२९२३}$ इसमें वार्तिक है, इसमें 'घट' पुंल्लिंगशब्द देकर पुनः 'घटी' ऐसा उस पुंल्लिंग शब्दसे ही बना हुआ स्त्रीलिङ्ग शब्द दिया है, लिङ्गविशिष्टपरिभाषासे घट शब्दसे घटीका भी ग्रहण होजाता, घटी शब्द पृथक् देनेका कुछ काम न था, परन्तु यहां दोनों शब्दोंकी योजना की है इससे वार्तिककारका ऐसा अभिप्राय स्पष्ट है कि, लिङ्गविशिष्टपरिभाषा अनित्य है ॥

पति (स्वामी) शब्द—

२५७ पतिः समास एव ।१।४।८ ॥

पतिशब्दः समास एव घिसंज्ञः । पत्या । पत्ये । पत्युः २ । पत्यौ । शेषं हरिवत् । समासे तु भूपतिना । भूपतये । कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः ॥

२५७—पति शब्द केवल समासमें ही घिसंज्ञक है अर्थात् अकेला पति शब्द घिसंज्ञक नहीं, इससे इसको घिकार्य नहीं, पत्या। पत्ये । पति+अस् ऐसी स्थितिमें यण् होकर ''ख्यत्यात्परस्य $\frac{६।१।११२}{२५५}$'' इससे पत्य्+इससे पर अस् इसके अ को उ होकर । पत्युः । पत्युः । ङि प्रत्ययमें ''औत् $\frac{७।३।११८}{२५६}$'' से औ, पति+औ=पत्यौ । शेष रूप हरिशब्दके समान होंगे।

पति शब्दके रूप—

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	पतिः	पती	पतयः
सं०	हे पते	हे पती	हे पतयः
द्वि०	पतिम्	पती	पतीन्
तृ०	पत्या	पतिभ्याम्	पतिभिः
च०	पत्ये	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
पं०	पत्युः	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
ष०	पत्युः	पत्योः	पतीनाम्
स०	पत्यौ	पत्योः	पतिषु * ॥

(समासे तु) परन्तु समासमें पति शब्दको घि संज्ञा रहनेसे भूपति :(राजा) शब्दके रूप सर्वत्र हरि शब्दके समान जानने, भूपतिना भूपतये।

भूपति शब्दके रूप—

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	भूपतिः	भूपती	भूपतयः
सं०	हे भूपते	हे भूपती	हे भूपतयः
द्वि०	भूपतिम्	भूपती	भूपतीन्
तृ०	भूपतिना	भूपतिभ्याम्	भूपतिभिः
च०	भूपतये	भूपतिभ्याम्	भूपतिभ्यः
पं०	भूपतेः	भूपतिभ्याम्	भूपतिभ्यः
ष०	भूपतेः	भूपत्योः	भूपतीनाम्
स०	भूपतौ	भूपत्योः	भूपतिषु

* पति और सखि इन शब्दोंको घि संज्ञा करके उनके पतिना, सखिना, पतौ इत्यादि रूप बने हुए कहीं २ स्मृति पुराणोंमें मिलतेहैं, परन्तु उन रूपोंको आर्ष (ऋषिप्रणीत) जान कर उसी स्थलमें ग्राह्य समझने, लौकिक प्रयोगमें वे रूप अशुद्ध गिने जातेहैं इससे उनकी योजना न करनी ॥

कति (कितने) शब्द । कति शब्द सदा बहुवचनान्त होताहै उसकी संख्या संज्ञा करतेहैं-

२५८ बहुगणवतुडति संख्या १।१।२३॥

एते संख्यासंज्ञाः स्युः ॥

२५८-बहु (बहुत), गण (समुदाय), वतुप्रत्ययान्त और डतिप्रत्ययान्त, शब्दोंकी ' संख्या ' संज्ञा है * ॥

२५९ डति च । १ । १ । २५ ॥

डत्यन्ता संख्या षट्संज्ञा स्यात् ॥

२५९-डतिप्रत्ययान्त संख्याकी षट् संज्ञा है । तब कति शब्दकी षट् संज्ञा हुई । अब षट् संज्ञाका कार्य बतानेको फिर संज्ञा-

२६० प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः।१।१।६१॥

लुक्श्लुलुप्शब्दैः कृतं प्रत्ययादर्शनं क्रमात्तत्तत्संज्ञं स्यात् ॥

२६०-अदर्शन की ' लोप ' ऐसी संज्ञा पीछे $\frac{१।१।६०}{५३}$ इस सूत्रमें कही गई, परन्तु वही अदर्शन लुक्, श्लु अथवा लुप् इनमेंके किसी भी शब्दसे प्रत्ययका कहागया हो तो उस अदर्शनको लुक् ,श्लु, लुप् यह संज्ञा अनुक्रमसे होतीहैं, इनका प्रयोजन सि० २६३ में आवेगा ॥

२६१ षड्भ्यो लुक् । ७ । १ । २२॥

षड्भ्यः परयोर्जश्शसोर्लुक् स्यात् ॥

२६१-षट्संज्ञक शब्दोंके आगे जस् और शस् प्रत्ययका लुक् होताहै । यहां डतिप्रत्ययमात्रकी षट् संज्ञा कही, परन्तु " ष्णान्ता षट् $\frac{१।१।२४}{३६६}$ " इससे षान्त नान्त संख्याकी भी षट् संज्ञा है इससे ' षड्भ्यः ' ऐसा पंचमीबहुवचनका रूप सूत्रमें लायेहैं, लुकका कार्य कहनेके पहले लोपका कार्य कहतेहैं * ॥

२६२ प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् । १ । १ । ६२ ॥

प्रत्यये लुप्तेपि तदाश्रितं कार्यं स्यात् । इति जसि चेति गुणे प्राप्ते ॥

२६२-प्रत्ययका लोप करनेपर भी प्रत्ययके आश्रयसे होनेवाला कार्य होसकताहै । इससे " जसि च $\frac{७।३।१०९}{२४१}$ " इससे ' कति ' इस ह्रस्वान्त अंगको गुण प्राप्त हुआ, परन्तु—

२६३ न लुमताङ्गस्य । १ । १ । ६३ ॥

लुक् श्लुः लुप् एते लुमन्तः । लुमता शब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात् । कति२ । कतिभिः । कतिभ्यः ३ । कतीनाम् । कतिषु । अस्मद्युष्मद्षट्संज्ञास्त्रिषु सरूपाः । त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । त्रयः । त्रीन् । त्रिभिः । त्रिभ्यः ॥

२६३-लुक्, श्लु, लुप् इनमें लु यह अक्षर है इस कारण यह. लुममान् हैं, लुमान् शब्दसे (लुक्, श्लु, लुप् इनमें से किसी भी शब्दसे) यदि लोप कहा गया हो तो वहां तन्निमित्त अंगकार्य नहीं होता, इससे जस्, शस्, इनका लुक् रहते " जसि च " इससे गुण नहीं होता । कति । कति । कति+भिस्=कतिभिः । कति+भ्यस्=कतिभ्यः २ । कति+आम्=कतीनाम्[१] । कति+सुप्=कतिषु ।

अस्मद् (मैं) युष्मद् (तू) और षट् संज्ञक शब्द, इनके रूप तीनों लिंगोंमें समान होतेहैं, अर्थात् कति शब्दके रूप भी उसी प्रकारसे हैं ।

त्रि (तीन) शब्द भी नित्य बहुवचनान्त है, " जसि च $\frac{७।३।१०९}{२४१}$ " से गुण होकर त्रे+अयः=त्रयः । त्रि+शस्=त्रीन् । त्रि+भिस्=त्रिभिः । त्रि+भ्यस्=त्रिभ्यः ॥

२६४ त्रेस्त्रयः । ७ । १ । ५३ ॥

त्रिशब्दस्य त्रयादेशः स्यादामि । त्रयाणाम् । परमत्रयाणाम् । गौणत्वे तु नेति केचित् । प्रियत्रीणाम् । वस्तुतस्तु प्रियत्रयाणाम् । त्रिषु । द्विशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः ॥

२६४-आगे आम् प्रत्यय रहते त्रिशब्दको त्रय आदेश होताहै । " ह्रस्वनद्यापो नुट् २०८ " सूत्रसे त्रयाणाम् । ऐसे ही त्रि शब्द कर्मधारय समासमें हो तो परमाश्च ते त्रयश्च= परमत्रयः (तीनों बडे) ऐसा प्रथमाके बहुवचनमें रूप होताहै, और ' परमत्रयाणाम्' ऐसा षष्ठीबहुवचनमें रूप होताहै ।

(गौणत्वे तु०) बहुव्रीहिसमासमें प्रियाः त्रयः यस्य सः= प्रियत्रिः (जिसको तीन प्रिय हैं सो) ऐसा विशेषणत्व प्राप्त होकर यहां गौणत्व आताहै (सू० २५६ देखो) इससे उस समय आम् प्रत्ययमें ' त्रय ' आदेश नहीं होता, ऐसा कोई कोई कहतेहैं, इससे ' प्रियत्रीणाम् ' यह रूप होगा पर वास्त-

---

* एक, द्वि, त्रि, इत्यादि शब्दोंकी यह संज्ञा प्रसिद्ध ही है, परन्तु उनको छोड कर 'बहु' 'गण' इत्यादि शब्दोंकी 'संख्या' संज्ञा होनी चाहिये, यह प्रस्तुत सूत्रका प्रयोजन है, जैसे "यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् $\frac{५।२।३९}{१८४०}$" तथा "किमिदंभ्यां वो घः $\frac{५।२।४०}{१८४१}$" इससे वतुप् प्रत्यय होकर यावत् (जितना) तावत् (तितना) एतावत् (इतना) कियत् (कितना) इयत् (इतना) यह शब्द सिद्ध होतेहैं, वतु प्रत्ययद्वारा उनका ग्रहण किया जाताहै, वैसे ही "किमः संख्यापरिमाणे डति च $\frac{५।२।४१}{१८४२}$" इससे डति (अति) प्रत्यय होकर कति (कितने) यह शब्द बनताहै उसका डतिप्रत्ययद्वारा ग्रहण कियाजायगा ॥

* यहां 'षड्भ्यः' ऐसा बहुवचन क्यों किया ? लाघवसे 'षषो लुक्' ऐसा ही करते इससे बहुवचन अर्थप्राधान्यसूचनार्थ जानना अर्थात् पर्यवगतसंख्याका अभिधान करनेवाले जो जस् और शस् उनहींका लोप हो, तिससे प्रियपञ्चानः (प्रिय हैं पांच जिनके) यहां जस् और शसका लुक् नहीं होता, कारण कि बहुव्रीहि समास होनेसे पञ्चन् शब्दार्थगतसंख्याभिधायी जस्, शस् नहीं हैं ॥

[१] 'कतीनाम्' इसमें आम् प्रत्ययको जो नुट् (न्) का आगम हुआ है वह "ह्रस्वनद्यापो नुट् $\frac{७।१।५४}{२०८}$" से नहीं हुआ है इस विषयमें "षट्चतुर्भ्यश्च $\frac{७।१।५५}{३३८}$" ऐसा स्वतंत्र सूत्र है और उसीको परत्व है, इससे यहां उसीका कार्य है ॥

बमें तो "पदांगाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च" इससे त्रयादेशका कोई बाध नहीं, इससे 'प्रियत्रयाणाम्' ऐसा भी रूप होगा, इस प्रकार सामासिकशब्दोंका निर्णय होजानेपर सप्तमीमें–त्रिषु रूप होगा ॥

रूप–(बहुवचनमें) परमत्रयः । परमत्रीन् । परमत्रिभिः । परमत्रिभ्यः । परमत्रिभ्यः । परमत्रयाणाम् । परमत्रिषु ।

प्रियत्रि (बहुव्रीहि समासनिष्पन्न) शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	प्रियत्रिः	प्रियत्री	प्रियत्रयः
सं०	हे प्रियत्रे	हे प्रियत्री	हे प्रियत्रयः
द्वि०	प्रियत्रिम्	प्रियत्री	प्रियत्रीन्
तृ०	प्रियत्रिणा	प्रियत्रिभ्याम्	प्रियत्रिभिः
च०	प्रियत्रये	प्रियत्रिभ्याम्	प्रियत्रिभ्यः
पं०	प्रियत्रेः	प्रियत्रिभ्याम्	प्रियत्रिभ्यः
ष०	प्रियत्रेः	प्रियत्र्योः	(प्रियत्रीणाम्) प्रियत्रयाणाम्
स०	प्रियत्रौ	प्रियत्र्योः	प्रियत्रिषु ।

प्रियाश्च ते त्रयश्च–प्रियत्रयः (प्यारे तीनों) ऐसा कर्मधारयसमास होते यही रूप होंगे, परन्तु केवल बहुवचनमें ही होंगे और षष्ठीमें परमत्रि शब्दके समान 'प्रियत्रयाणाम्' यह एक ही रूप होगा ॥

द्वि शब्द नित्य द्विवचनमें आताहै–

२६५ त्यदादीनामः । ७ । २ । १०२ ॥

एषामकारोन्तादेशः स्याद्विभक्तौ ॥ द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः ॥ * ॥ द्वौ २ । द्वाभ्याम् ३ । द्वयोः २ । द्विपर्यन्तानां किम् । भवान् । भवन्तौ । भवन्तः । संज्ञायामुपसर्जनत्वे च नात्वम् । सर्वाद्यन्तर्गणकार्यत्वात् । द्विर्नाम कश्चित् । द्विः । द्वी । द्वावतिक्रान्तोऽतिद्विः । हरिवत् । प्राधान्ये तु परमद्वौ । इत्यादि । औडुलोमिः । औडुलोमी । उडुलोमाः ॥ लोम्नोपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः ॥ * ॥ बाह्वादीञोऽपवादः । औडुलोमिम् । औडुलोमी । उडुलोमान् ॥

इतीदन्ताः ॥

२६५–त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि–इन आठ सर्वनाम त्यदादिको आगे विभक्तिप्रत्यय होते अकार अन्तादेश होताहै ("अष्टन आ विभक्तौ ७।२।८४/२७१" से विभक्तिकी अनुवृत्ति आतीहै) । सर्वादि गणमेंसे 'द्वि' तक ही त्यदादिगण है, ऐसी 'इष्टि' अर्थात् भाष्यकारका निश्चय है । अकार अन्तादेशके कारण द्व ऐसी स्थिति होकर औ प्रत्ययमें द्वौ २ । द्वि+भ्याम्=द्वाभ्याम् ३ । द्वि+ओस्–द्वयोः २ । त्यदादिकोंका सम्बोधन नहीं होता । द्वितक ही त्यदादि क्यों ? तो भवत् शब्द द्विसे परे है, इससे उसको अकार अन्तादेश नहीं होता, नहीं तो तको अकारान्तादेश होकर "उगिद० ३६१" से नुम् (न्) आगम और "सर्वनामस्थाने० २५०" से दीर्घ, सु (स्) का लोप और न्का लोप होकर 'भवा' ऐसा अनिष्टरूप होजायगा । भवत्+सु=भवान् । भवत्+औ=भवन्तौ । भवत्+जस्=भवन्तः । इन रूपोंकी सिद्धि आगे ४२५ में करेंगे ।

(संज्ञायामिति) इस त्यदादि गणको सर्वादि गणका अन्तर्गण होनेसे इस अन्तर्गणका जो यह (अकारान्तादेशरूप) कार्य वह अंशसे सर्वादिगणका ही कार्य है, अर्थात् जब त्यदादिकोंकी सर्वनामसंज्ञा रहेगी तभी यह होगा, और 'संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः' इस सि० २२२ वार्तिक देखनेसे जानाजाताहै कि संज्ञा वा उपसर्जन होनेसे सर्वादिकोंकी सर्वनामसंज्ञा नहीं अर्थात् संज्ञा अथवा उपसर्जन होते त्यदादि कार्यभी नहीं जैसे 'द्वि' इस संज्ञाका कोई मनुष्य हो तो वहां संज्ञाके कारण 'द्वि' यह असर्वनाम होगा, इससे द्विः । द्वी । द्वयः । यह रूप होंगे । इसी प्रकार द्वौ अतिक्रान्तः–(दोनोंको छोड कर गया सो) अतिद्विः यह उपसर्जन अर्थात् विशेषण होनेसे असर्वनाम है, इस कारण यह दोनों शब्द केवल हरि शब्दके समान होतेहैं इनमें त्यदादिकार्य नहीं होता ।

(प्राधान्ये तु) जब प्राधान्य है गौणत्व नहीं, तब अंगाधिकारके कारण तदन्तको भी सर्वनामकार्य अर्थात् त्यदादिकार्य होगा । इससे 'परमद्वि' (बडे दोनों) इसके रूप द्विशब्दकी समान होंगे, परमद्वौ २ । परमद्वाभ्याम् ३ । परमद्वयोः २ ।

अब विशेष प्रकारसे होनेवाला औडुलोमि शब्द–

उडूनीव लोमानि यस्य सः (जिसके बाल तारोंकी समान चमकते हों वह) उडुलोमा (ऋषिविशेष) तस्य अपत्यं पुमान् (उसका पुत्र) औडुलोमिः इसमें उडुलोमन् यह मूल शब्द है उसके आगे "बाह्वादिभ्यश्च ४।१।९६/१०९६" इस सूत्रसे अपत्यार्थमें इञ् (इ) और आदि अच्को ५।२।११७/१०७५ से वृद्धि होकर औडुलोमन्+इ ऐसी स्थिति हुई और "नस्तद्धिते ६।४।१४४/६७९" इससे अन्का लोप होकर 'औडुलोमि' यह शब्द बना है, इस व्युत्पत्तिको ध्यानमें रखनेसे रूप अच्छी प्रकार समझमें आवेंगे, औडुलोमिः । औडुलोमी । उडुलोमाः । कारण यह है कि (लोम्नो०) * लोमन् (रोम) शब्द जिसके अन्तमें है ऐसे शब्दके आगे अपत्यार्थमें बहुवचनमें अकार होताहै ऐसा कहना चाहिये (वा० २५६०) ऊपर इस शब्दकी व्युत्पत्तिमें "बाह्वादिभ्यश्च" इस सूत्रसे होनेवाला जो इञ् (इ) वृद्धिनिमित्तक यह प्रत्यय कहा गयाहै । उसका यह अपवाद है, इससे बहुवचनमें इकार भी नहीं और वृद्धि भी नहीं केवल अकारान्त शब्द होकर रामशब्दवत् 'उडुलोमाः' आगे औडुलोमिम् । औडुलोमी । पुनः बहुवचनमें पूर्ववत् अकार प्रत्यय होकर उडुलोमान् ।

औडुलोमि शब्दके रूप–

वि०	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	औडुलोमिः	औडुलोमी	उडुलोमाः
सं०	हे औडुलोमे	हे औडुलोमी	हे उडुलोमाः
द्वि०	औडुलोमिम्	औडुलोमी	उडुलोमान्

तृ०	औडुलोमिना	औडुलोमिभ्याम्	उडुलोमैः
च०	औडुलोमये	औडुलोमिभ्याम्	उडुलोमेभ्यः
पं०	औडुलोमेः	औडुलोमिभ्याम्	उडुलोमेभ्यः
ष०	औडुलोमेः	औडुलोम्योः	उडुलोमानाम्
स०	औडुलोमौ	औडुलोम्योः	उडुलोमेषु* ॥

इति इदन्ताः ॥

वातप्रमीरित्युणादिसूत्रेण माङ ईप्रत्ययः स च कित् । वातं प्रमिमीते वातप्रमीः । दीर्घाज्जसि च । वातप्रम्यौ । वातप्रम्यः । हे वातप्रमीः । अमि पूर्वः । वातप्रमीम् । वातप्रम्यौ । वातप्रमीन् । वातप्रम्या । वातप्रमीभ्याम् ३ । वातप्रम्ये । वातप्रम्यः २ । वातप्रम्योः २ । वातप्रम्याम् । दीर्घत्वान्न नुट् । ङौ तु सवर्णदीर्घः । वातप्रमी । वातप्रमीषु । एवं ययीपप्यादयः । यान्त्यनेनेति ययीर्मार्गः । पाति लोकमिति पपीः सूर्यः । यापोः किद्द्वे चेति ईप्रत्ययः । क्विबन्तवातप्रमीशब्दस्य तु अमि शसि ङौ च विशेषः । वातप्रम्यम् । वातप्रम्यः । वातप्रम्यि । एरनेकाच इति वक्ष्यमाणो यण् । प्रधीवत् । बह्वयः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी । दीर्घङ्यन्तत्वाद्धल्ङ्याबिति सुलोपः ॥

ईदन्त शब्द वातप्रमी (मृगविशेष)-

"वातप्रमीः (उणा० ४ । १)" इस उणादिसूत्रसे वातशब्दके आगे 'माङ्-माने' इस धातुसे 'ई' यह कित् प्रत्यय होकर यह वातप्रमीशब्द बना है, कित् यह संज्ञा अगले 'ई' इस अजादिप्रत्ययके होनेसे 'मा' इसमेंके आकारका "आतो लोप इटि च ६।४।६४ / २३७२" इससे लोप होकर वातप्रम्+ई मिलकर 'वातप्रमी'। वातं प्रमिमीते इति (वायुका माप लेताहै अर्थात् वायुवेगसे दौड़ता है) इससे 'वातप्रमीः' आगे औ और जस् प्रत्यय होते "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ६।१।१०२ / १६४" से होनेवाला जो पूर्वसवर्णदीर्घ उसको "दीर्घाज्जसि च ६।१।१०५ / २३९" इससे निषेध है इस कारण वातप्रम्यौ । वातप्रम्यः । हे वातप्रमीः । "अमि पूर्वः ६।१।१०७ / १९४" इससे वातप्रमीम् । वातप्रम्यौ । पूर्वसवर्णदीर्घ और सकारके स्थानमें नकार (सि० १९६) वातप्रमीन् । वातप्रम्या । वातप्रमीभ्याम् ३ । वातप्रमीभिः । वातप्रम्ये । वातप्रम्यः २ । वातप्रम्योः २ । वातप्रम्याम्, यह शब्द दीर्घान्त होनेसे "ह्रस्वनद्यापो नुट् ७।१।५४ / २०८" यह सूत्र नहीं लगता । ङि (इ) प्रत्यय आगे रहते केवल सवर्णदीर्घ ८५ होकर वातप्रमी । वातप्रमीषु । रूप हुए । इसीप्रकारसे ययी, पपी आदि शब्दोंके रूप होतेहैं । यान्ति अनेन इति ययीः मार्गः (जगत् गमन करताहै इससे ययी मार्ग) पाति लोकम् इति पपीः सूर्यः (जगत् को पावन करताहै इससे पपी सूर्य) "यापोः०" उणादि ३ । १५९ से 'या प्रापणे' तथा 'पा रक्षणे' इस धातुके आगे कित् 'ई' प्रत्यय होताहै और द्विरुक्ति होतीहै, इस उणादि सूत्रसे ययी, पपी यह शब्द सिद्ध होतेहैं ।

इसी अर्थका एक दूसरा वातप्रमी शब्द है, इसकी व्युत्पत्ति सब धातुओंसे "क्विप् च ३।२।७६ / २९८३" इस सूत्रसे क्विप् प्रत्यय हुआ करते हैं, इसी प्रकारसे वात प्र और 'मा' धातु मिलकर 'वातप्रमा' इसके आगे क्विप् प्रत्यय होकर क्विप्मेंका क् इत् होनेसे "घुमास्था० ६।४।६६ / २४६२" इस सूत्रसे 'मा' इसके आकारके स्थानमें 'ई' आदेश हुआ, और वात+प्रम्+ई+क्विप् ऐसी स्थिति हुई, क्विप् प्रत्ययके सब वर्ण जाते हैं, उनमेंसे कुछ शेष नहीं रहता, इस प्रकार 'वातप्रमी' शब्द क्विबन्त अर्थात् धात्वन्त है, ऊपरके वातप्रमीशब्दके समान ई प्रत्ययान्त नहीं इसके कुछ रूप भिन्नप्रकारके होतेहैं, सो इस प्रकारसे हैं कि, इस क्विबन्त वातप्रमी शब्दके अम्, शस्, ङि, इन प्रत्ययोंमें भेद है, वातप्रम्यम् । वातप्रम्यः । वातप्रम्यि । इनमें धातुत्वके कारण "एरनेकाचः ६।४।८२ / २७२" इस सूत्रके निमित्तसे प्रधीशब्दवत् अन्त्य ईकारके स्थानमें यण् होताहै सो आगेका सूत्र जाननेसे स्पष्टतासे ध्यानमें आवेगा ।

वातप्रमी ईप्रत्ययान्तके रूप-

वि०	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	वातप्रमीः	वातप्रम्यौ	वातप्रम्यः
सं०	हे वातप्रमीः	हे वातप्रम्यौ	हे वातप्रम्यः
द्वि०	वातप्रमीम्	वातप्रम्यौ	वातप्रमीन्
तृ०	वातप्रम्या	वातप्रमीभ्याम्	वातप्रमीभिः
च०	वातप्रम्ये	वातप्रमीभ्याम्	वातप्रमीभ्यः
पं०	वातप्रम्यः	वातप्रमीभ्याम्	वातप्रमीभ्यः
ष०	वातप्रम्यः	वातप्रम्योः	वातप्रम्याम्
स०	वातप्रमी	वातप्रम्योः	वातप्रमीषु

क्विबन्तमें विशेष रूप-

वि०	एकवचन	द्वि०	बहु०
द्वि०	वातप्रम्यम्	वातप्रम्यौ	वातप्रम्यः
स०	वातप्रम्यि	(शेष पूर्ववत् जानो)	

(बह्वयः०) बहुत श्रेष्ठ स्त्रियें हैं जिसके वह 'बहुश्रेयसी'

* इस प्रकारसे (१) यस्कादि २।४।६३ / ११४६ गणमेंके शब्द, (२) "अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यश्च २।४।६५ / ११४७" इसमें पठित शब्द, (३) गर्गादि ४।१।१०५ / ११०७ गणमेंके शब्द, और (४) तद्राजसंज्ञक प्रत्यय २।४।६२ / ११९३ के लुक्वाले शब्द, और (५) प्राच्य भरत इन दोनों गोत्रोंके बहुच् होते इञ्प्रत्ययान्त २।४।६६ / ११४८ शब्द, यह पुँल्लिगमें बहुवचनके हों तो उनके अपत्यार्थद्योतक प्रत्यय मिट गयेके समान होकर मूलशब्दहीको बहुवचन प्रत्यय लगतेहैं, यथा-गार्ग्यः । गार्ग्यौ । गर्गाः इत्यादि ॥

१ दो शब्दोंमेंसे एकको भेद दिखाना हो तो शब्दसे ईयसुन् (ईयस्) ऐसा प्रत्यय हुआ करताहै, ५।३।५७ / २००५ 'प्रशस्य' (स्तुत्य) इस शब्दको यह प्रत्यय होते हुए 'प्रशस्य' के स्थानमें 'श्र' ५।३।६० / २००९ आदेश होकर प्रत्ययके योगसे श्रेयस् (अधिकस्तुत्य) ऐसा रूप होताहै, 'ईयसुन्' इसमें 'उ' यह इत् है इस कारण "उगितश्च ४।१।६ / ४५५" इस सूत्रसे श्रेयस्के आगे ङीप् (ई) यह प्रत्यय होकर 'श्रेयसी' (श्रेष्ठा स्त्री) ऐसा शब्द होताहै, अर्थात् श्रेयसी शब्द ङीबन्त है ऐसा जानना ॥

यह बहुव्रीहि समास है, समासमें स्त्रीलिंग शब्द अन्तमें हो तो सामान्यतः "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १।२।४८ / ६५६" इससे शब्द ह्रस्वान्त होताहै और "नद्यृतश्च ५।४।१५३ / ८३३" नदीसंज्ञकको, ऋदन्तको बहुव्रीहि समासके अन्तमें कप् (क) प्रत्यय हुआ करताहै परन्तु "ईयसश्च ५।४।१५६ / ८९४" इससे ईयसुन् प्रत्ययान्त शब्दके अन्तमें कप् प्रत्ययका निषेध है, वैसेही "ईयसो बहुव्रीहेर्न" इस वार्तिकसे ह्रस्वका भी निषेध है इससे 'बहुश्रेयसी' ऐसा ही दीर्घान्तशब्द रहा।

यह पुँल्लिङ्गशब्द है तथापि दीर्घङीबन्त ही है इस कारण आगे प्रथमाका सुप्रत्यय रहते दीर्घङ्यन्तत्वके कारण "हल्ङ्या० ६।१।६८ / २५२" इससे सु का लोप होकर 'बहुश्रेयसी' रूप बना। आगे रूप समझनेको संज्ञा—

२६६ यूस्त्र्याख्यौ नदी। १। ४। ३॥

ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसंज्ञौ स्तः॥ प्रथमलिङ्गग्रहणं च॥ * ॥ पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः॥

२६६–दीर्घ 'ई' 'ऊ'कारान्त जो नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्द उनकी नदी संज्ञा है। परन्तु बहुश्रेयसी यह शब्द ङीबन्त है सही तो भी पुँल्लिङ्ग है तो क्या इसकी नदीसंज्ञा है? इसपर कहतेहैं कि इसमेंका 'श्रेयसी' इतना अंश ईकारान्त नित्यस्त्रीलिंग है, इससे उसकी तो नदी संज्ञा है ही 'बहुश्रेयसी' यह तदन्त शब्द पुँल्लिंग है तो भी इसके नदीत्वके विषयमें वार्तिक "प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च (वा० १०३२)" अर्थात् जो पहले शब्दका लिंग हो वही ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् शब्द स्त्रीलिंग होते पहले जो उसको नदी संज्ञा हो तो तदन्तशब्द बहुव्रीहि समाससे उपसर्जनत्व (विशेषणत्व) पा कर अन्य लिंगमें गया हो तो भी उस तदन्तकी नदी संज्ञा होतीहै, ऐसा जानना चाहिये। अब नदी संज्ञाका कार्य कहतेहैं—

२६७ अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः।७।३।१०७॥

अम्बार्थानां नद्यन्तानां च ह्रस्वः स्यात्संबुद्धौ। हे बहुश्रेयसि। शसि बहुश्रेयसीन्॥

२६७–अम्बा (माता) अर्थके जो आकारान्त शब्द (सि० २९३) और नदीसंज्ञकान्त शब्द इनको सम्बुद्धिप्रत्यय परे रहते ह्रस्व होताहै। यहां ह्रस्व होताहै ऐसा स्पष्ट कहनेसे वह ह्रस्व वैसे ही रहताहै, "ह्रस्वस्य गुणः ७।३।१०८ / २४२" से उसको गुण नहीं होता, हे बहुश्रेयसि। शस्में बहुश्रेयसीन्॥

२६८ आण् नद्याः। ७। ३। ११२॥

नद्यन्तात्परेषां ङितामाडागमः स्यात्॥

२६८–नद्यन्त शब्दके आगे आनेवाले ङित्प्रत्ययको आट्का आगम होताहै। आट् + ङे। आट् + ङसि। आट् + ङस्—

२६९ आटश्च। ६। १। ९०॥

आटोचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। बहुश्रेयस्यै। बहुश्रेयस्याः। नद्यन्तात्परत्वान्नुट्। बहुश्रेयसीनाम्॥

२६९–आट्के आगे अच् हो तो दोनोंके स्थानमें मिल कर वृद्धिरूप एकादेश होताहै। ऐ। आस्। आस्। यह नद्यन्तके आगे होनेसे "इको यणचि ४७" से यण् होकर बहुश्रेयस्यै। बहुश्रेयस्याः २। आम्प्रत्ययमें "ह्रस्वनद्यापो नुट् २०८" इससे नुट् बहुश्रेयसीनाम्।

२७० ङेराम्नद्याम्नीभ्यः।७।३।११६॥

नद्यन्तादाबन्तान्नीशब्दाच्च ङेराम् स्यात्। इह परत्वादाटा नुड् बाध्यते। बहुश्रेयस्याम्। शेषं मीप्रत्ययान्तवातप्रमीवत्। अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः। अतिलक्ष्मीः। शेषं बहुश्रेयसीवत्। कुमारीमिच्छन् कुमारीवाचरन्वा ब्राह्मणः कुमारी। क्यजन्तादाचारक्विबन्ताद्वा कर्तरि क्विप्। हल्ङ्याबिति सुलोपः॥

२७०–नद्यन्त, आबन्त (सि० २८७) और नी शब्द (सि० २७२) के आगे ङि प्रत्ययके स्थानमें आम् आदेश होताहै। यह आम् यद्यपि सप्तमीका है तो भी आम् तो है, फिर कोई क्यों न हो "ह्रस्वनद्यापो० ७।१।५४ / २०८" से षष्ठीबहुवचनके समान यहां भी उसको नुट्का आगम होना चाहिये, ऐसी शंका होते यहांपर "आण् नद्याः ७।३।११२ / २६८" इसको पर सूत्र होनेसे इस नुट्को बाध होकर परसूत्रका कार्य आट्का आगम ही होताहै, आट् होनेपर "सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव" इस न्यायसे पीछे नुट् नहीं होता। आट् + आम् वृद्धि ६।१।९० / २६९ होकर आम् तब बहुश्रेयस्याम्। और सब रूप ईप्रत्ययान्त वातप्रमीशब्दके समान जानने।

बहुश्रेयसी शब्दके रूप—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	बहुश्रेयसी	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयस्यः
संम्बुद्धि	हे बहुश्रेयसि	हे बहुश्रेयस्यौ	हे बहुश्रेयस्यः
द्वितीया	बहुश्रेयसीम्	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयसीन्
तृतीया	बहुश्रेयस्या	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभिः
चतुर्थी	बहुश्रेयस्यै	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्यः
पंचमी	बहुश्रेयस्याः	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्यः
षष्ठी	बहुश्रेयस्याः	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीनाम्
सप्तमी	बहुश्रेयस्याम्	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीषु

इसपरसे देखनेसे मुख्यनदीकार्य चार–(१) सम्बुद्धिह्रस्व। (२) ङित्को आट्का आगम। (३) ङिके स्थानमें आम्। (४) बहुव्रीहिसमासमें "नद्यृतश्च" इससे कप्। इनको छोड नदीसंज्ञक शब्द जो ङ्यन्त हो तो प्रथमाके एकवचनमें सुलोप। (अगला अतिलक्ष्मी शब्द देखो)—

अतिलक्ष्मी शब्द—

लक्ष्मीम् अतिक्रान्तः (लक्ष्मीको छोड कर चला गया वह) अतिलक्ष्मीः। इसमें "अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः" (उणा० ३।१५८) और "लक्षेर्मुट् च" (उणा० ३।१६०) इन सूत्रोंसे लक्ष धातुसे 'लक्ष्मी' ऐसा ईप्रत्ययान्त शब्द

बना है, यह केवल ई प्रत्ययान्त है ङ्यन्त नहीं, इसी प्रकार 'अतिलक्ष्मी' शब्द भी ।

अतिलक्ष्मी शब्दको ङ्यन्त न होनेसे "हल्ङ्या० ६।१।६८/२५२" यह सूत्र नहीं लगता (इससे सुलोप नहीं) अतिलक्ष्मीः । शेष रूप बहुश्रेयसीशब्दके समान जानने । षष्ठीके बहुवचनमें अतिलक्ष्मीणाम् ।

कुमार (लड़का) शब्दके परे "वयसि प्रथमे ४।१।२०/४७८" इससे ङीप् (ई) प्रत्यय होकर कुमारी (लडकी) ऐसा स्त्रीलिङ्ग शब्द बना है, इससे यह ङ्यन्त है और नित्यस्त्रीलिंग होनेके कारण इसको नदीत्व है ।

नामके आगे क्यच्, क्विप् इत्यादि प्रत्यय लगाकर नामधातु हुआ करतेहैं (सि० २६५७।२६७७) उसी प्रकार "सुप आत्मनः क्यच् ३।१।८/२६५७" इससे कुमारी शब्दके आगे क्यच् (य) प्रत्यय होकर कुमारीय (कुमरीकी इच्छा कहताहै) ऐसी धातु हुई उससे "क्विप् च ३।२।७६/२९८३" इससे क्विप् प्रत्यय होकर कुमारीय+क्विप् ऐसी स्थिति हुई, "अतो लोपः ६।४।४८/२३०८" इससे उसके अन्त्य अकारका और "लोपो व्योर्वलि ६।१।६६/८७२" इससे यकारका लोप होकर अन्तमें कुमारी (कुमारीकी इच्छा करनेवाला ब्राह्मण) ऐसा पुँल्लिंग शब्द सिद्ध हुआहै ।

अथवा ("सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः*") (सि० २६६) इससे निष्पन्न क्विबन्तधातुसे फिर नाम होनेके वास्ते "क्विप् च २९८३" से क्विप् प्रत्यय होकर कुमारी (कुमारीवत् आचरणकरनेवाला ब्राह्मण) ऐसा पुँल्लिंग शब्द सिद्ध हुआ, ऐसी व्युत्पत्ति भी ठीक है, इसप्रकारसे "क्विबन्ता विजन्ता विडन्ता धातुत्वं न जहति शब्दत्वं परिपालयन्ति" इस वचनसे कुमारी शब्दको धातुत्व प्राप्त हुआ । क्यच्, क्विप् यह प्रत्यय नहीं रहेके समान होकर अन्तमें ङ्यन्त पुँल्लिङ्ग शब्द हुआ और "प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च" इस वार्तिकसे नदीत्व भी प्राप्त हुआ (२६६ सि०) कुमारी+सु=इसमें "हल्ङ्याप्० २५२" से सु का लोप होकर 'कुमारी' बना ॥

२७१ अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ । ६ । ४ । ७७ ॥

श्नुप्रत्ययान्तस्य इवर्णोवर्णान्तधातोर्भ्रू इत्यस्य चाङ्गस्येयङुवङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे । ङिच्चेत्यन्तादेशः । आन्तरतम्यादेरियङ् ओरुवङ् । इतीयङि प्राप्ते ॥

२७१–अजादि प्रत्यय परे रहते श्नु ३।१।७३/२५२३ प्रत्ययान्त, इवर्णान्त, उवर्णान्त धातु और भ्रू (३०६) इस अंगको इयङ् (इय्) और उवङ् (उव्) आदेश होतेहैं । "ङिच्च १।१।५३/४३" से अन्तादेश, "स्थानेऽन्तरतमः १।१।५०/३९" इससे अतिसादृश्यके अनुसार इवर्णके स्थानमें इयङ् और उवर्णके स्थानमें उवङ् होताहै, इस कारण अजादिप्रत्यय परे रहते कुमारीमेंके अन्त्य ईकारके स्थानमें इयङ् (इय्) की प्राप्ति हुई, परन्तु–

२७२ एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य । ६ । ४ । ८२

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ प्रत्यये परे । इति यण् । कुमार्यौ । कुमार्यः । हे कुमारि । अमि शसि च । कुमार्यम् । कुमार्यः । कुमार्यै । कुमार्याः २ । कुमारीणाम् । कुमार्याम् । प्रधीः । प्रध्यौ । प्रध्यः । प्रध्यम् । प्रध्यः । उन्नयतीत्युन्नीः । धातुना संयोगस्य विशेषणादिह स्यादेव यण् । उन्न्यौ । उन्न्यः । हे उन्नीः । उन्न्यम् । ङेराम् । उन्न्याम् । एवं ग्रामणीः । अनेकाचः किम् । नीः । नियौ । नियः । अमि शसि च परत्वादियङ् । नियम् । नियः । ङेराम् । नियाम् । असंयोगपूर्वस्य किम् । सुश्रियौ । यवक्रियौ ॥ गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते ॥ * ॥ शुद्धधियौ । परमधियौ । कथं तर्हि दुर्धियो वृश्चिकभियेत्यादि । उच्यते । दुस्स्थिता धीर्येषामिति विग्रहे दुरित्यस्य धीशब्दं प्रति गतित्वमेव नास्ति । यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रत्येव गत्युपसर्गसंज्ञाः । वृश्चिकशब्दस्य बुद्धिकृतमपादानत्वं नेह विवक्षितम् । वृश्चिकसंबन्धिनी भीरित्युत्तरपदलोपो वा ॥

२७२–धातुका अवयव संयोगपूर्व न हो ऐसा जो इवर्ण, तदन्तधातु जिसके अन्तमें हो ऐसे अनेक अच्युक्त अङ्गके इवर्णके स्थानमें यण् हो अजादि प्रत्यय परे रहते ("इणो यण ६ । ४ । ८१" इससे यण्की अनुवृत्ति आतीहै और "अचि श्नुधातुभ्रुवाम् २७१" से केवल धातु हीकी अनुवृत्ति आतीहै । और श्नु, भ्रूको इवर्णान्त न होनेसे अनुवृत्ति नहीं) । पिछले सूत्रसे जो इयङ् प्राप्त हुआ सो नहीं होता इससे कुमारी+औ–कुमार्यौ । कुमारी+जस्–कुमार्यः । यहां इस सूत्रसे यण् हुआ । नदीकार्य, हे कुमारि । अम्–शस् परे भी यण् होकर कुमार्यम् । कुमारी+शस्–कुमार्यः । कारण यह है कि "अमि पूर्वः ६।१।१०७/१९४" और पूर्व सवर्ण दीर्घ ६।१।१०२/१६४ और तन्मूलक नकार ६।१।१०३/१९६ इनसे भी यह प्रस्तुत सूत्र पर है, इससे बाधक है, नदीकार्य, कुमारी ङे=कुमार्यै । कुमारी+ङसि=कुमार्याः। कुमारी+ङस्=कुमार्याः । कुमारी+आम्=कुमारीणाम् । "ह्रस्वनद्यापो नुट् ७।१।५४/२०८" यह प्रस्तुत सूत्रसे पर है, इससे उसका कार्य होताहै, यण् नहीं । ङिके स्थानमें नदीत्व होनेके कारण जो आम् उसको नुट् नहीं । (देखो सि० २७०) यण् होताहै कुमार्याम् । कुमारी+ओस्–कुमार्योः ।

कुमारी शब्दके रूप–

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	कुमारी	कुमार्यौ	कुमार्यः

सं॰	हे कुमारि	हे कुमार्यौ	हे कुमार्यः
द्वि॰	कुमार्यम्	कुमार्यौ	कुमार्यः
तृ॰	कुमार्या	कुमारीभ्याम्	कुमारीभिः
च॰	कुमार्यै	कुमारीभ्याम्	कुमारीभ्यः
पं॰	कुमार्याः	कुमारीभ्याम्	कुमारीभ्यः
ष॰	कुमार्याः	कुमार्योः	कुमारीणाम्
स॰	कुमार्याम्	कुमार्योः	कुमारीषु.

अब प्रधीशब्द–

'प्रकर्षेण ध्यायति–इति कर्तरि क्विप्' (जो अतिशय ध्यान करता है वह प्रधी) इसमें प्र उपसर्ग "ध्यै–चिन्तायाम्" इस धातुसे "ध्यायतेः सम्प्रसारणञ्च" इस वचनसे क्विप्, सम्प्रसारण और "हलः ६।४।२ / २५५९" इससे दीर्घ होकर प्रधी शब्द बनताहै, यह केवल क्विबन्त है ङ्यन्त नहीं और नदीसंज्ञक भी नहीं इससे सुलोप भी नहीं, प्रधी+सु=प्रधीः, प्रधी+औ=प्रध्यौ, प्रधी+जस्=प्रध्यः, नदीकार्य न होनेसे हे प्रधीः । धातुत्वके कारण "एरनेकाचः०" इस सूत्रसे अम्, शसें भी (कुमारीशब्दके अनुसार) यण् होगा, प्रधी+अम्=प्रध्यम् । प्रध्यः । नदीत्वका अभाव है इससे नुट् नहीं । ङिप्रत्ययमें सवर्णदीर्घ न होते ६।१।१० / ८५ परत्वके कारण यण् होगा सारांश यह कि अजादिप्रत्ययमें सर्वत्र यण् होगा * ॥

अनदीसंज्ञक प्रधी शब्दके रूप–

वि॰	एक॰	द्वि॰	बहु॰
प्र॰	प्रधीः	प्रध्यौ	प्रध्यः
सं॰	हे प्रधीः	हे प्रध्यौ	हे प्रध्यः
द्वि॰	प्रध्यम्	प्रध्यौ	प्रध्यः
तृ॰	प्रध्या	प्रधीभ्याम्	प्रधीभिः
च॰	प्रध्ये	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः
पं॰	प्रध्यः	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः
ष॰	प्रध्यः	प्रध्योः	प्रध्याम्
स॰	प्रध्यि	प्रध्योः	प्रधीषु,

नदीसंज्ञक प्रधी शब्दके रूप–

वि॰	एक॰	द्वि॰	बहु॰
प्र॰	प्रधीः	प्रध्यौ	प्रध्यः
सं॰	हे प्रधि	हे प्रध्यौ	हे प्रध्यः
द्वि॰	प्रध्यम्	प्रध्यौ	प्रध्यः
तृ॰	प्रध्या	प्रधीभ्याम्	प्रधीभिः
च.	प्रध्यै	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः
पं.	प्रध्याः	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः
ष.	प्रध्याः	प्रध्योः	प्रधीनाम्
स.	प्रध्याम्	प्रध्योः	प्रधीषु.

उत् नयति इति उन्नीः (ऊपर ले जाताहै सो उन्नी) उत्+नी–क्विप्, "धातुना संयोगस्य विशेषणात् इह स्यादेव यण्' (चाहें इसमें ईकारके पहले 'न्न' यह संयोग है तो भी यह धातुका संयोग नहीं, उपसर्गके संयोगसे हुआ है इससे यण् होता ही है) उन्न्यौ । उन्न्यः । हे उन्नीः । उन्न्यम् । यह सूत्र अङ्गाधिकारका है इससे 'उन्नी' इसको नीशब्दान्त होनेपर भी " ङेराम् नद्याम्नीभ्यः ७।३।११६ / २७०" इस सूत्रसे नी शब्दके आगे ङिके स्थानमें आम् 'उन्न्याम्' अर्थात् अनदीसंज्ञक प्रधीशब्दके समान ङिके स्थानमें आम्मात्रमें विशेष ।

उन्नी शब्दके रूप–

वि॰	एक॰	द्वि॰	बहु॰
प्र॰	उन्नीः	उन्न्यौ	उन्न्यः
सं॰	हे उन्नीः	हे उन्न्यौ	हे उन्न्यः
द्वि॰	उन्न्यम्	उन्न्यौ	उन्न्यः
तृ॰	उन्न्या	उन्नीभ्याम्	उन्नीभिः
च॰	उन्न्ये	उन्नीभ्याम्	उन्नीभ्यः
पं॰	उन्न्यः	उन्नीभ्याम्	उन्नीभ्यः
ष॰	उन्न्यः	उन्न्योः	उन्न्याम्
स॰	उन्न्याम्	उन्न्योः	उन्नीषु.

इसी प्रकार 'ग्रामणीः' ग्रामं नयति इति (गांव चलनेवाला जिमीदार) यह शब्द होताहै, इसमें ग्राम+नी+क्विप् ऐसी व्युत्पत्तिमें "अग्रग्रामाभ्यां नयतेः ३।२।६१ / २९७५" * इस वार्तिकसे णत्व हुआ ।

('अनेकाचः' किम्) सूत्रमें अंग अनेकाच् होना चाहिये ऐसा क्यों कहा ? तो नी+क्विप् इससे बना हुआ 'नी' (लेजानेवाला) यह शब्द एकाच् होनेसे अजादिप्रत्ययमें यण् नहीं होता, "अचि श्नुधातु० ६।४।७७ / २७२" इससे इयङ् होताहै । नीः । नियौ । नियः । अम् , शस् प्रत्ययोंके पहले अनुक्रमसे पूर्वरूप ६।१।१०७ / १९४ और पूर्वसवर्ण ६।१।१०२ / १६४ न होते यह "अचि श्नुधातु०" सूत्र पर है इससे ईकार्य इयङ् होताहै नी+अम्=नियम् । नी+शस्=नियः । "ङेराम्० ७।३।११६ / २७०" से नियाम् ।

नी शब्दके रूप–

वि॰	एक॰	द्वि॰	बहु॰
प्र॰	नीः	नियौ	नियः
सं॰	हे नीः	हे नियौ	हे नियः
द्वि॰	नियम्	नियौ	नियः
तृ॰	निया	नीभ्याम्	नीभिः
च॰	निये	नीभ्याम्	नीभ्यः
पं॰	नियः	नीभ्याम्	नीभ्यः
ष॰	नियः	नियोः	नियाम्
स॰	नियाम्	नियोः	नीषु

सूत्रमें 'असंयोगपूर्वस्य' ऐसा क्यों कहा ? तो पूर्वमें संयोग

* प्रधीशब्दमें अन्त्य ईवर्णके पूर्व प्र यह संयोग है, तथापि वह धातुका अवयव नहीं बाहर उपसर्गका है इस कारण यण्में कोई बाधा नहीं ॥

पीछे (सि॰ २६५) क्विबन्तवातप्रमीशब्दमें 'बक्ष्यमाण यण् प्रधीवत्' ऐसा जो कहा है वह इसी प्रधी शब्दके समान है इस शब्दके स्त्रीलिंगमें रूप कैयटके मतसे ऐसे ही होतेहैं (सि॰ ३०४) । प्रधी शब्दकी नदी संज्ञा भी होतीहै, परन्तु उस जगह अर्थ और व्युत्पत्तिमें मतभेद है, यह सब आगे स्त्रीलिङ्ग प्रकरण (३०४) में ध्यानमें आवेंगे परन्तु इस स्थानमें प्रधीशब्द पुँल्लिंग हो वा स्त्रीलिंग हो जब उसकी नदी संज्ञा है तब उसकी रूपावली कैसी यह तो केवल दिखावेंगे, लक्ष्मीशब्दके समान (सि॰ ३००) धातुत्व होनेके कारण अम्, शस् ङिमें यणमात्र विशेष होगा ॥

होते यण् न हो पूर्ववत् इयङ् हो। सुष्ठु श्रयते इति सुश्रीः (उत्तम प्रकारसे सेवा करताहै वह सुश्री) इसमें 'श्रिञ्-सेवायाम्' के आगे क्विप् होकर* "क्विब्वचिप्रच्छ्यायत०" (३१५८ सि०) इस वार्तिकसे दीर्घ हुआ है, इसमें 'श्र' यह स्वतः धात्ववयव संयोग होनेसे यण् नहीं हुआ, पूर्ववत् इयङ् हुआ, सुश्री+औ=सुश्रियौ। ङिके स्थानमें आम् प्राप्त नहीं इससे वहां भी इयङ् होगा।

सुश्री शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सुश्रीः	सुश्रियौ	सुश्रियः
सं०	हे सुश्रीः	हे सुश्रियौ	हे सुश्रियः
द्वि०	सुश्रियम्	सुश्रियौ	सुश्रियः
तृ०	सुश्रिया	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभिः
च०	सुश्रिये	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभ्यः
पं०	सुश्रियः	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभ्यः
ष०	सुश्रियः	सुश्रियोः	सुश्रियाम्
स०	सुश्रियि	सुश्रियोः	सुश्रीषु.

इसी प्रकारसे यवं क्रीणाति इति यवक्रीः (यव मोल लेताहै सो) यह क्विन्त शब्द होता है, यवक्री+औ इस अवस्थामें 'क्र' इसको स्वतः धात्ववयव संयोग होनेसे यण् न होकर इयङ् हुआ, यवक्रियौ।

"गतिकारके०" (वा० ५०३४) गति (प्रआदि उपसर्ग $\frac{१।४।६}{२३}$) और कारक (क्रियाके कर्तृकर्मादि) इनको छोड कर अन्य जो शब्द उनमेंका शब्द इवर्णान्त धातुके पूर्वमें हो तो यण् नहीं होता इयङ् ही होताहै।

"कर्ता कर्म च करणं संप्रदानं तथैव च। अपादाना-ऽधिकरणमित्याहुः कारकाणि षट्" ऐसी कारिका है, इसका अर्थ कारकप्रकरण (सि० ५३२। ६४६) में स्पष्ट किया जायगा, अस्तु पिछले प्रधी, उन्नी, सुश्री, इनमें प्र, उत्, सु यह गतिसंज्ञक हैं 'ग्रामणी' 'यवक्री' इनमें ग्राम और यव यह अनुक्रमसे नी और क्री इन धातुओंके कर्म हैं, परन्तु 'शुद्ध-धी' 'परमधी' इनमें वैसा प्रकार नहीं है, 'ध्यै' के आगे क्विप् होकर पूर्ववत् धी (बुद्धि) ऐसा शब्द बना और शुद्धा धीर्यस्य सः (जिसकी शुद्ध बुद्धि है सो) ऐसा समास हुआ है, इसमें शुद्ध यह धीका विशेषण है, गति अथवा कारक नहीं इससे 'शुद्धधी' 'परमधी' इनमें यण् नहीं, इयङ् होताहै 'शुद्धधियौ' 'परमधियौ' अर्थात् यह शब्द सुश्री शब्दके समान होतेहैं * ॥

शंका-(कथं तर्हि दुर्धियो वृश्चिकभिया इत्यादि) ऐसे शब्दोंमें गति और कारकसे इतर (दूसरा ही) पूर्वपद रहते यण् नहीं होता ऐसा नियम करनेसे गति अथवा कारक यह पूर्वपद होते यण् होना चाहिये, ऐसा है तो 'दुर्धी' 'वृश्चि-कभी' इत्यादिकोंमें गति और कारक पूर्वपद रहते उनके 'दुर्धियः' 'वृश्चिकभिया' इत्यादि प्रकारके इयङ्युक्त रूप कैसे हुए ? तो इसपर कहतेहैं 'दुःस्थिता धीः येषाम्' ऐसे विग्रहमें धी शब्दकी दृष्टिसे देखाजाय तो 'दुर्' को गतित्व ही नहीं है कारण कि (यत्क्रियायुक्ताः०) जिस क्रियासे यह प्रादि शब्द युक्त किये हों उसी क्रियाके योगमें उनकी गति और उपसर्गसंज्ञा है, 'धी' इसकी दृष्टिसे नहीं है, इससे यण् नहीं।

(वृश्चिकशब्दस्येति) (वृक्षात् पतति) पेडसे गिरताहै इत्यादिकोंमें जैसे वास्तविक अपादान अर्थात् विवक्षित स्थल-से दूरगमन दृष्टिमें आताहै, वैसे, वृश्चिकभीः-(विच्छूसे डर) इसमें वास्तविक अपादान नहीं है, केवल बुद्धिसे मानलेनेका अपादान है, इससे यहां कारकशब्दसे उसका ग्रहण नहीं किया गया (वृश्चिकसम्बन्धिनीति) अथवा विच्छूके विषै जो भय वह 'वृश्चिकभीः' ऐसा उत्तरपदलोपसमास मानाजाय सो भी ठीक ही है सि० ७३९ पर "उत्तरपदलोपो वा" यह वार्तिक देखनेसे इस शंकाका समाधान होगा।

सुधीशब्द-सुष्ठु ध्यायति इति-(उत्तम प्रकारसे ध्यान करताहै) 'सुधीः' ऐसा क्विन्त शब्द-

२७३ न भूसुधियोः ६।४।८५॥

एतयोर्यण् न स्यादचि सुपि। सुधियौ। सुधिय इत्यादि। सखायमिच्छति सखीयति। ततः क्विप्। अल्लोपयलोपौ। अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वाद्यणि प्राप्ते क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्। एकदेशविकृतस्यानन्यतयानङ्णित्त्वे। सखा। सखायौ। सखायः। हे सखीः। अमि पूर्वरूपात्परत्वाद्यणि प्राप्ते ततोपि परत्वात्सख्युरसंबुद्धाविति प्रवर्तते। सखायम्। सखायौ। शसि यण्। सख्यः। सह खेन वर्तत इति सखः। तमिच्छतीति सखीः। सुखमिच्छतीति सुखीः। सुतमिच्छतीति सुतीः। सख्यौ। सुख्यौ। सुत्यौ। ख्यत्यादिति दीर्घस्यापि ग्रहणादुकारः। सख्युः। सुख्युः। सुत्युः। लूनमिच्छतीति लूनीः। क्षाममिच्छतीति क्षामीः। प्रस्तीममिच्छतीति प्रस्तीमीः। एषां ङसिङसोर्यण। नत्वमत्वयोरसिद्धत्वात् ख्यत्यादित्युत्वम्। लून्युः। क्षाम्युः। प्रस्तीम्युः। शुष्कीयतेः शुष्कीः। इयङ्। शुष्कियौ। शुष्कियः। ङसिङसोः शुष्किय इत्यादि॥

॥ इतीदन्ताः ॥

२७३-आगे अजादि सुप् होते 'भू' (भूमि) और 'सुधी' (उत्तमरीतिसे ध्यान करनेवाला) इन शब्दोंको यण्

* ऊपर 'शुद्धधी' इसमें गतिकारकेतरपूर्वपद होनेसे यण् नहीं होता ऐसा कहा है वह ठीक है परन्तु शुद्धं ध्यायति इति (शुद्ध प्रकारसे अथवा शुद्धको ध्यान करताहै वह) 'शुद्धधीः' ऐसा समास कियाजाय तो शुद्ध इसको क्रियाका विशेषणत्व (कारकत्व) प्राप्त होकर उसमें अजादि विभक्तिके परे यण् होताहै और अनदी प्रधीशब्दके समान उसके 'शुद्धध्यौ' इत्यादि रूप होतेहैं॥

नहीं होता अर्थात् उवङ्, इयङ् होतेहैं ("ओः सुपि ६।४।८३/२८१" से सुप्की अनुवृत्ति आती है) * ॥

सुधियौ । सुधिय इत्यादि । भूशब्दका प्रयोजन आगे २८१ सूत्रमें स्वभूशब्दमें आवेगा ।

सुधीशब्दके रूप—

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सुधीः	सुधियौ	सुधियः
सं०	हे सुधीः	हे सुधियौ	हे सुधियः
द्वि०	सुधियम्	सुधियौ	सुधियः
तृ०	सुधिया	सुधीभ्याम्	सुधीभिः
च०	सुधिये	सुधीभ्याम्	सुधीभ्यः
पं०	सुधियः	सुधीभ्याम्	सुधीभ्यः
ष०	सुधियः	सुधियोः	सुधियाम्
स०	सुधियि	सुधियोः	सुधीषु

(सखायमिच्छति सखीयति । ततः क्विप्) 'सखि (मित्र) की जो इच्छा करताहै ' इस अर्थमें उसके आगे क्यच् प्रत्यय लगा और उसके कारण "अकृत्सार्वधातुकयोः० ७।४।२५/२२९४" से दीर्घ होकर 'सखीय' इस धातुके आगे क्विप् हुआ, और (अल्लोपयलोपौ) "अतो लोपः ६।४।४८/२३०८" इससे अल्लोप और "लोपो व्योर्वलि ६।१।६६/८७३" इससे यकारका लोप इस प्रकारसे अन्तमें 'सखी' (मित्रकी इच्छा करनेवाला) ऐसा शब्द बना, (अल्लोपस्य०) अकारलोपको स्थानिवद्भाव करके 'अ' वृद्धि होनेसे सखी इसमें यण् प्राप्त हुआ, परन्तु (क्वौ लुप्तं० वा ० ४३१) क्विप् प्रत्यय आगे होते जो लोप वह स्थानिवत् नहीं होता, इससे स्थानिवद्भावका निषेध होजानेसे यण् न हुआ । (एकदेशेति) मूलका 'सखी' शब्द और उससे बना यह 'सखी' शब्द इनका केवल अन्तवर्णमात्रमें भेद है, इससे यह कोई दूसरा शब्द नहीं, इससे उसी शब्दके अनुसार अनङ् और प्रत्ययको णिद्वत्त्व होगा । प्रथमाके एकवचनमें अनङ् ७।१।९३/२४८ होकर सखन्+स् आगे दीर्घ ६।४।८/२५०, सुलोप ६।१।६८/२७२, नलोप ८।२।७/२३६ सखि शब्दके तुल्य ही जानो, सखा । सम्बुद्धिवर्ज सर्वनामस्थानमें णित्व ७।१।९२/२५३ तथा उसी प्रकारसे अङ्गकी वृद्धि भी जानो । सखायौ । सखायः । संबुद्धिमें दीर्घ होनेके कारण ७।३।१०८/२४२ गुण नहीं और सुलोप भी नहीं, हे सखीः ।

(अमि पूर्वेति) अम् प्रत्ययमें पूर्वरूप ६।१।१०७/१९४ होना चाहिये परन्तु "एरनेकाचः० ६।४।८२/२७२" यह सूत्र पर है, इससे यण् प्राप्त हुआ, परन्तु "सख्युरसम्बुद्धौ ७।१।९२/२५३" यह उससे भी पर है, इससे इसका कार्य णिद्वत्त्व और "अचो ञ्णिति २५४" से वृद्धि हुई, सखायम् । सखायौ । शस्में धातुत्वके कारण "एरनेकाचः०" इससे यण् होकर 'सख्यः' रूप हुआ । ङसि और ङस् में यण् होकर "ख्यत्यात्० २५५" से उत्व होनेपर 'सख्युः' ऐसा होगा ।

(सह खेन वर्तत इति सखः) 'ख' अर्थात् इन्द्रिय इसके सहित रहताहै सो 'सख' सखकी इच्छा करनेवाला 'सखी' सुखकी इच्छा करनेवाला 'सुखी' सुत (पुत्र) की इच्छा करनेवाला 'सुती' * ॥

क्विबन्त शब्द होनेके कारण इनके रूप 'सख्यौ', 'सुख्यौ' 'सुत्यौ' यण्युक्त होते हैं । "ख्यत्यात्परस्य ६।१।११२/२५५" इसमें खी, ती इन दीर्घोंका भी ग्रहण होनेसे ऊपरके सखी, सुखी, सुती, ऐसे यह तीनों शब्दोंमें ङसि, ङस्, इनके निमित्तसे "एरनेकाचः" इससे यण् होनेके अनन्तर ख्य्, त्य्, के आगे ङसि, ङस्, इनमें 'अ' के स्थानमें उकार होताहै, सख्युः । सुख्युः । सुत्युः । शेष रूप अनदीसंज्ञक श्री शब्दके समान यण्युक्त जानने ।

सखी—(मित्रकी इच्छा करनेवाला) शब्दके रूप—

वि०	एक०	द्वि०	ब०
प्र०	सखा	सखायौ	सखायः
सं०	हे सखीः	हे सखायौ	हे सखायः
द्वि०	सखायम्	सखायौ	सख्यः
तृ०	सख्या	सखीभ्याम्	सखीभिः
च०	सख्ये	सखीभ्याम्	सखीभ्यः
पं०	सख्युः	सखीभ्याम्	सखीभ्यः
ष०	सख्युः	सख्योः	सख्याम्
स०	सखि	सख्योः	सखीषु.

सखी—(सख—इन्द्रिययुक्त प्राणी, उसकी इच्छावाला) शब्दके रूप—

वि०	एक०	द्वि०	ब०
प्र०	सखीः	सख्यौ	सख्यः
सं०	हे सखीः	हे सख्यौ	हे सख्यः
द्वि०	सख्यम्	सख्यौ	सख्यः
तृ०	सख्या	सखीभ्याम्	सखीभिः
च०	सख्ये	सखीभ्याम्	सखीभ्यः
पं०	सख्युः	सखीभ्याम्	सखीभ्यः
ष०	सख्युः	सख्योः	सख्याम्
स०	सख्यि	सख्योः	सखीषु

इसी प्रकार सुखी, सुती शब्द जानने ।

(लूनमिच्छतीति लूनीः) कटे हुएकी इच्छा करनेवाला लूनी, (क्षीण वस्तुकी इच्छा करनेवाला) क्षामी, प्रस्तीम (ध्वनित) की इच्छा करनेवाला प्रस्तीमी * ॥

---

* "एरनेकाचः० ६।४।८२/२७२" इसके आगे "ओः सुपि ६।४।८३/२८१" यह सूत्र है, इसमें उवर्णान्त धातुको प्रायः पूर्वसूत्रकी अनुवृत्तिसे ही यण् कहागया है इससे अनेकाच् न होनेके कारण भूशब्दको धातुत्वसे "अचि श्नुधातु० ६।४।७०/२७१" इससे उवङ् हो सकताहै, परन्तु तदन्त शब्दमें 'ओः सुपि' इससे जो यण् प्राप्त है उसका प्रस्तुत सूत्रसे निषेध है, 'सुधीः' (सुष्टु ध्यायति) उसका भी निषेध प्रस्तुतसूत्रसे जानना ॥

* इनमें सख, सुख, सुत, इनके आगे "सुप आत्मनः क्यच् ३।१।८/२६५" इससे क्यच् (य) प्रत्यय होकर उसके कारण "क्यचि च ७।४।३३/६५८" इससे शब्दके अन्त्य अकारको ईकार होकर सखीय, सुखीय, सुतीय ऐसे क्यजन्त धातु बने, आगे क्विप् होनेसे पूर्ववत् अल्लोप यलोप होकर सखी, सुखी, सुती यह क्विबन्त सिद्ध हुए हैं ।

* इनमें "ल्वादि० ८।२।४४/३०१८", "क्षायो मः ८।२।५३/३०३२", "स्त्यः प्र० ६।१।२३/३०३३", "प्रस्त्योऽ० ८।२।५४/३०३४" इन सूत्रोंसे सामान्यतः होनेवाला जो क्त (त) १।१।२६/३०१२ उसके स्थानमें क्रमसे न, म, म, ऐसे आदेश और स्त्यके यकारको सम्प्रासरण होकर, 'लून'—

(एषामिति) ङसि, ङस् प्रत्यय आगे रहते इनको "एरनेकाचः०" इससे यण् हुआ और लून्य्, क्षाम्य्, प्रस्तीम्य् ऐसे रूप हुए, उनमेंके नकार, मकार, यह त्रिपादीमें स्थित हैं, इससे असिद्ध होनेके कारण त्य् दीखताहै, इस कारण "ख्यत्यात्परस्य $\frac{६।१।११२}{२५५}$" इससे प्रत्ययमेंके अ को उकार हुआ लून्युः, क्षाम्युः, प्रस्तीम्युः, इन तीनों शब्दोंके रूप सखी, सुखी, सुती इनके अनुसार होतेहैं।

शुष्कीयतेः क्विप् 'शुष्कीः' । शुष्क यह भी निष्ठान्त शब्द है, इसमें "शुषः कः $\frac{८।२।५१}{३०३०}$" इससे तकारके स्थानमें ककार होकर पूर्ववत् शुष्कीय धातु बनकर 'शुष्कीः' (सूखे हुएकी इच्छा करनेवाला) ऐसा क्विबन्त शब्द बना है। 'पक्की' इसी प्रकारसे "पचो वः $\frac{८।२।५२}{३०३१}$" इससे 'पक्व' निष्ठान्त होकर ऐसा क्विबन्त शब्द बना है, इनमें ईकारके पहले धात्ववयवसंबन्धी संयोग होनेसे "एरनेकाच०" इससे यण् नहीं, "अचि श्नुधातु० $\frac{६।४।७७}{२७१}$" इससे इयङ् इससे शुष्कियौ । शुष्कियः । ङसि, ङसमें शुष्कियः इत्यादि यहां ककार, वकारके असिद्ध होनेसे भी इयङ् होताहै, यण् नहीं, इसलिये तीय् दीखताहै त्य् नहीं दीखता, इससे "ख्यत्यात्परस्य" इसकी प्राप्ति नहीं अर्थात् उकार भी नहीं। इसी प्रकारसे 'पक्वियः' इत्यादि ।

शुष्की शब्दके रूप-

वि०	एकव०	द्वि०	बहु०
प्र०	शुष्कीः	शुष्कियौ	शुष्कियः
सं०	हे शुष्कीः	हे शुष्कियौ	हे शुष्कियः
द्वि०	शुष्कियम्	शुष्कियौ	शुष्कियः
तृ०	शुष्किया	शुष्कीभ्याम्	शुष्कीभिः
च०	शुष्किये	शुष्कीभ्याम्	शुष्कीभ्यः
पं०	शुष्कियः	शुष्कीभ्याम्	शुष्कीभ्यः
ष०	शुष्कियः	शुष्कियोः	शुष्कियाम्
स०	शुष्कियि	शुष्कियोः	शुष्कीषु,

इसी प्रकार पक्की शब्द जानना ।

इति ईदन्ताः ॥

शंभुर्हरिवत् । एवं विष्णुवायुभान्वादयः ॥

उकारान्त-(शम्भुः हरिवत्) शम्भु (शिव) शब्द हरिवत् होताहै ।

(सि० २४०) त्रिकार्य । इतनी ही बात विशेष है कि हरि शब्द इकारान्त है इसलिये 'ए'गुण हुआ है, यहां शम्भु उकारान्त है इसलिये 'ओ' गुण होताहै ।

शम्भु शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	शम्भुः	शम्भू	शम्भवः
सं०	हे शम्भो	हे शम्भू	हे शम्भवः
द्वि०	शम्भुम्	शम्भू	शम्भून्
तृ०	शम्भुना	शम्भुभ्याम्	शम्भुभिः
च०	शम्भवे	शम्भुभ्याम्	शम्भुभ्यः
पं०	शम्भोः	शम्भुभ्याम्	शम्भुभ्यः
ष०	शम्भोः	शम्भ्वोः	शम्भूनाम्
स०	शम्भौ	शम्भ्वोः	शम्भुषु.

इसी प्रकारसे विष्णु, वायु, भानु इत्यादि शब्दके रूप होतेहैं, ॥

क्रोष्टु (सियार) शब्द-

२७४ तृज्वत्क्रोष्टुः । ७ । १ । ९५ ॥

क्रोष्टुस्तृजन्तेन तुल्यं वर्तते असंबुद्धौ सर्वनामस्थाने परे । क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने क्रोष्टृशब्दः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः ॥

२७४-सम्बुद्धिको छोड कर सर्वनामस्थान आगे रहते क्रोष्टु शब्दके तृजन्त शब्दोंकी समान रूप होतेहैं अर्थात् क्रोष्टु शब्दके स्थानमें क्रोष्टृ शब्दका प्रयोग करना चाहिये ("सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ $\frac{६।४।८}{२५०}$" इस सूत्रसे सर्वनामस्थानकी अनुवृत्ति आतीहै) 'क्रुश-आह्वाने रोदने च' इस धातुसे तृच् (२८९५) प्रत्यय होकर क्रोष्टृ शब्द बनताहै, उसके जैसे रूप होतेहैं, वैसे ही सम्बोधनको छोड कर सर्वनामस्थानमें क्रोष्टु शब्दके रूप होतेहैं, ऐसा जानना । क्रोष्टु शब्द सूत्रमें प्रथमान्त है, * ॥

२७५ ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः । ७ । ३ । ११० ॥

ङौ सर्वनामस्थाने च परे ऋदन्ताङ्गस्य गुणः स्यात् । इति प्राप्ते ॥

२७५-ङि और सर्वनामस्थान परे रहते ऋदन्त (ह्रस्व ऋकारान्त) अंगको गुण होताहै। ("ह्रस्वस्य गुणः $\frac{७।३।१०८}{२४२}$" इससे 'गुण' की अनुवृत्ति आतीहै) । इस सूत्रसे क्रोष्टृ शब्दको गुण प्राप्त हुआ, परन्तु-

२७६ ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च । ७ । १ । ९४ ॥

ऋदन्तानामुशनसादीनां चाऽनङ् स्यादसंबुद्धौ सौ परे ॥

२७६-आगे सम्बुद्धिभिन्न सु प्रत्यय रहते ऋदन्तशब्द, उशनस् ४३६, पुरुदंसस् ४३६, अनेहस् ४३६, इन शब्दोंको 'अनङ्' (अन्) आदेश होताहै । ("अनङ् सौ $\frac{७।१।९३}{२४८}$" "सख्युरसम्बुद्धौ $\frac{७।१।९२}{२५३}$" इन दो सूत्रोंसे 'अनङ्' और' असम्बुद्धि' की अनुवृत्ति आतीहै) इस अपवादके कारण आगे सु होते गुण न होकर अनङ् हुआ, क्रोष्टृ+अन् मिल कर 'क्रोष्टन्' ऐसा रूप हुआ, तब-

-(काटाहुआ), 'क्षाम' (कृश) और 'प्रस्तीम' (ध्वनित) यह शब्द बनकर सुखी, सुती इनके अनुसार क्यच् (य) और उसके पहलेको ई होकर 'लूनीय,' 'क्षामीय,' 'प्रस्तीमीय,' ऐसे धातु हुए और फिर क्विप् होकर पूर्ववत् अल्लोप, यलोप होकर लूनी, क्षामी, प्रस्तीमी यह क्विबन्त शब्द हुए हैं ॥

* तृजन्त शब्द बहुतसे हैं, परन्तु उनमें अर्थसे 'क्रोष्टु' से 'क्रोष्टृ' ही मिलताहै, इस कारण इसका ही ग्रहण किया जायगा "$\frac{१।१।५०}{३९}$" की टिप्पणी देखो ॥

२७७ अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम् । ६ । ४ । ११ ॥

अबादीनामुपधाया दीर्घः स्यादसंबुद्धौ सर्वनामस्थाने परे । नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम् । तेन पितृभ्रातृप्रभृतीनां न । उद्गातृशब्दस्य तु भवत्येव समर्थसूत्रे उद्गातार इति भाष्यप्रयोगात् । क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । क्रोष्टारम् । क्रोष्टारौ । क्रोष्टॄन् ॥

२७७–आगे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान रहते अप् (जल) शब्द और अष्टाध्यायीमेंके "तृन् ३।२।१३५ / ३११५" "तृच् ३।१।१३३ / २८१५" प्रत्ययान्त शब्द और स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ, प्रशास्तृ शब्दोंकी उपधाको दीर्घ होताहै । ("ढ्रलोपे० ६।३।१११ / १७४" से दीर्घ, "नोपधायाः ६।४।७ / २७०" से उपधा और "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ६।४।८ / २५०" इससे सर्वनामस्थानकी अनुवृत्ति आतीहै) । स्वसृ, नप्तृ, इत्यादि आठ शब्द अव्युत्पन्न लिये तो सूत्रका अर्थ ठीक बनेगा परन्तु, उणादिकोंमें इनकी व्युत्पत्ति है 'स्वसृ' यह ऋन्प्रत्ययान्त (उणा० २।९५) का है इससे चाहे कुछ हानि नहीं पर तो भी नप्तृ इत्यादि सात शब्द 'तृन्नन्त' 'तृजन्त' ही हैं (उणा० २।९४) इस पक्षमें, फिर उनके कहनेका प्रयोजन क्या ? इसलिये कहतेहैं कि, (नप्त्रादिग्रहणमिति) नप्त्रादिकोंकी व्युत्पत्ति है, ऐसा पक्ष लियाजाय तो भी अन्य 'तृन्नन्त' 'तृजन्त' शब्दोंका संग्रह न कियाजाय इस कारण नियमित शब्द ही कहेहैं, (उणादिनिष्पन्नानां तृन्तृजन्तानां चेद्भवति तर्हि नप्त्रादीनामेव) इससे ऐसा जानना चाहिये कि, उणादिके तृन् तृच् प्रत्ययसे निष्पन्न तृन्नन्त, तृजन्त, शब्दोंको दीर्घ हो तो केवल नप्त्रादि इन सात शब्दोंकी ही उपधाको दीर्घ हो इससे पितृ, भ्रातृ जो उणादिकोंमें इतर तृन्नन्त तृजन्त (उणा० २।९४) शब्द हैं, उनकी उपधाको दीर्घ नहीं होता (सि० २८२) * ॥

(उद्गातृशब्दस्येति) परन्तु उद्गातृ (ऋत्विग्विशेष) यह शब्द भी उणादिकोंमेंसे तृन्–तृजन्त है तो भी "समर्थः पदविधिः २।१।१ / ६४७" इस सूत्रके भाष्यमें भाष्यकारने 'उद्गातारः' ऐसा प्रयोग किया है, इससे इसकी उपधाको दीर्घ होता ही है ऐसा जानना * ॥

अस्तु इस सूत्रसे उपधा दीर्घ होकर क्रोष्टान्+स् ऐसी स्थिति हुई–* ॥

"हल्ङ्या० ६।१।६८ / २५२" से सकारका लोप और "न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७ / २३६" इससे नलोप होकर क्रोष्टा । सम्बुद्धि होते 'क्रोष्टृ' आदेशकी प्राप्ति नहीं ७।१।९५ / २७४ इस कारण शम्भु शब्दके अनुसार हे क्रोष्टो । आगे अन्य सर्वनामस्थान रहते "ऋतो ङि० ७।३।११० / २७५" इससे गुण होकर क्रोष्टर् और "अप्तृन्०" इससे उपधादीर्घ । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । क्रोष्टरम् । क्रोष्टारौ । शस् प्रत्यय सर्वनामस्थान नहीं है, इससे क्रोष्टृ आदेशकी प्राप्ति नहीं इससे शम्भु शब्दकी समान क्रोष्टून् ऐसा रूप होताहै ॥

२७८ विभाषा तृतीयादिष्वचि । ७ । १ । ९७ ॥

अजादिषु तृतीयादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत् । क्रोष्ट्रा । क्रोष्ट्रे ॥

२७८–अच् आदिमें है जिसके, ऐसी तृतीया आदि विभक्ति परे रहते क्रोष्टु शब्दको विकल्प करके तृज्वद्भाव होताहै । तब क्रोष्टृ+टा ऐसी अवस्थामें इकारकी इत्संज्ञा होकर यणादेश होकर क्रोष्ट्रा । क्रोष्टृ+ङे=क्रोष्ट्रे । आगे ङसि, ङस्–

२७९ ऋत उत् । ६ । १ । १११ ॥

ऋदन्तान्ङसिङसोरति परे उकार एकादेशः स्यात् । रपरत्वम् ॥

२७९–ऋदन्तके आगे ङसि अथवा ङस्का सम्बन्धी अकार होते दोनोंके स्थानमें मिलकर उकार एकादेश होताहै, परन्तु ऋकारके स्थानमें होनेवाला अण् "उरण् रपरः ७०" रपर होताहै, इस कारण 'उर्' एकादेश होगा क्रोष्टृ+अस्=क्रोष्टुर्स् ऐसी स्थिति हुई–

२८० रात्सस्य । ८ । २ । २४ ॥

रेफात्संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य । रेफस्य विसर्गः । क्रोष्टुः । आमि परत्वात्तृज्वद्भावे प्राप्ते ॥ नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन ॥* क्रोष्टूनाम् । क्रोष्टरि । क्रोष्ट्रोः । पक्षे हलादौ च शंभुवत् ॥

॥ इत्युदन्ताः ॥

२८०–रेफके अनन्तर संयोगान्तमें रहनेवाले, किसी भी अन्यवर्णका लोप नहीं होता सकारमात्रका ही लोप होताहै, इस प्रकार सकारका लोप होकर "खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५ / ७६" इससे रेफके स्थानमें विसर्ग हुआ, क्रोष्टुः । आम् प्रत्यय आगे रहते ह्रस्वनद्यापो नुट् ७।१।५४ / २०८ इससे नुट् प्राप्त हुआ परन्तु आम् प्रत्यय अजादि है "विभाषा तृतीयादिष्वचि ७।१।९७ / २७८" इससे परत्व होनेके कारण क्रोष्टु शब्दको विकल्प करके तृज्वद्भावकी पहले

---

* उणादिकोंमें जो मुख्य करके तृन्, तृच्, प्रत्यय कहेहैं, तदन्त शंस्तृ, क्षत्तृ (उणा० २ । ९२) नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, होतृ, पोतृ, भ्रातृ, जामातृ, मातृ, पितृ, दुहितृ ('उणा०' २ । ९४) यह हैं, इससे "अप्तृन्०" इस सूत्रमें गिनाये हुए नप्त्रादि शब्द इनमेंसे निकाल कर शेष शंस्तृ, भ्रातृ, जामातृ, मातृ, पितृ, दुहितृ शब्द हैं, इनकी उपधाको सर्वनामस्थानमें दीर्घ नहीं होता ॥

* तृन्, तृच्, इन दोनोंमें (तृ) यही मुख्य प्रत्यय है "ञ्नित्यादिर्नित्यम् ६।१।१९७ / ३६८६" इससे 'न्' इस इत्के कारण शब्दका आदि उदात्त होताहै, 'च्' इस इत्से शब्द अन्तोदात्त ६।१।१६३ / ३७१० होताहै, यह भेद आगे स्वरप्रकरणमें समझ पडेंगे, दोनों इतोंके कारणसे दोनों स्वर पर्यायसे होंगे ॥

* "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ६।४।८ / २५०" इससे सखिशब्दके जैसे दीर्घ होताहै, वैसे यहां भी होना चाहिये था, परन्तु परत्वके कारण वह दीर्घ यहां प्रस्तुत सूत्रसे होताहै ॥

प्राप्ति हुई तथापि "नुमचि० (वा० ४३७४)"* नुम् ७।१।७३/३२०, अच् परे रहते ऋकारके रेफादेश ७।२।१००/२९९, और तृज्वद्भाव इनका नुट् ७।१।५४/२०८ से विरोध आवे तो 'विप्रतिषेधे पूर्वं कार्यम्' इससे पर कार्यका निषेध करके 'नुट्' ही कार्य करना । क्रोष्टु+आम्=क्रोष्टूनाम् । ङिप्रत्ययमें तृज्वद्भावसे 'क्रोष्टृ' और "ऋतो ङि० ७।३।११०/२७५" इससे गुण होकर क्रोष्टरि । क्रोष्टु+ओस्=क्रोष्ट्रोः । विकल्पपक्षमें और हलादि विभक्ति परे रहते शंभु शब्दके समान रूप होंगे ।

क्रोष्टु शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	क्रोष्टा	क्रोष्टारौ	क्रोष्टारः
सं०	हे क्रोष्टो	हे क्रोष्टारौ	हे क्रोष्टारः
द्वि०	क्रोष्टारम्	क्रोष्टारौ	क्रोष्टून्
तृ०	क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभिः
च०	क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभ्यः
पं०	क्रोष्टुः, क्रोष्टोः	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभ्यः
ष०	क्रोष्टुः, क्रोष्टोः	क्रोष्ट्रोः, क्रोष्ट्वोः	क्रोष्टूनाम्
स०	क्रोष्टरि क्रोष्टौ	क्रोष्ट्रोः, क्रोष्ट्वोः	क्रोष्टुषु.

इति उदन्ताः ॥

हूहूः । हूह्वौ । हूह्वः । हूहूम् । हूह्वौ । हूहूनित्यादि । अतिचमूशब्दे तु नदीकार्यं विशेषः । हे अतिचमु । अतिचम्वै । अतिचम्वाः २ । अतिचमूनाम् । अतिचम्वाम् । खलपूः ॥

ऊदन्त हूहू (गन्धर्वविशेष) शब्द-

हूहूः । हूहू+औ इस अवस्थामें पूर्वसवर्णदीर्घ १६४ का "दीर्घाज्जसि च २३" इससे निषेध होनेसे "इको यणचि ४७" से यण् हुआ । हूह्वौ । हूह्वः । इत्यादि रूप होतेहैं ।

हूहू शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	हूहूः	हूह्वौ	हूह्वः
सं०	हे हूहूः	हे हूह्वौ	हे हूह्वः
द्वि०	हूहूम्	हूह्वौ	हूहून्
तृ०	हूह्वा	हूहूभ्याम्	हूहूभिः
च०	हूह्वे	हूहूभ्याम्	हूहूभ्यः
पं०	हूह्वः	हूहूभ्याम्	हूहूभ्यः
ष०	हूह्वः	हूह्वोः	हूह्वाम्
स०	हूह्वि	हूह्वोः	हूहूषु.

(अतिचमूशब्दे तु०) चमू (सेना) यह शब्द नित्य स्त्रीलिंग ऊकारान्त है इस कारण १।४।३/२६६ नदीसंज्ञक है । 'चमूम् अतिक्रान्तः अतिचमूः' (सेनाको छोडकर गया हुआ सो अतिचमू) यह तदन्तशब्द भी "प्रथमलिंगग्रहणञ्च १।४।३/२६६" इससे नदीसंज्ञक है, इससे नदीकार्य विशेष होगा । हे अतिचमू+सु हे अतिचमु । अतिचमू+ङे=अतिचम्वै । अतिचमू+ङसि=अतिचम्वाः । अतिचमू+ङस्=अतिचम्वाः । अतिचमू+आम्=अतिचमूनाम् । अतिचमू+ङि=अतिचम्वाम् । शेष रूप हूहूशब्दके समान जानना ।

अतिचमू शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अतिचमूः	अतिचम्वौ	अतिचम्वः
सं०	हे अतिचमु	हे अतिचम्वौ	हे अतिचम्वः
द्वि०	अतिचमूम्	अतिचम्वौ	अतिचमून्
तृ०	अतिचम्वा	अतिचमूभ्याम्	अतिचमूभिः
च०	अतिचम्वै	अतिचमूभ्याम्	अतिचमूभ्यः
पं०	अतिचम्वाः	अतिचमूभ्याम्	अतिचमूभ्यः
ष०	अतिचम्वाः	अतिचम्वोः	अतिचमूनाम्
स०	अतिचम्वाम्	अतिचम्वोः	अतिचमूषु

खलपू-('खलं पुनाति इति, दुष्टको पवित्र करता है सो खलपू) क्विवन्त शब्द--

खलपू+सु=खलपूः । खलपू+औ=

२८१ ओः सुपि । ६ । ४ । ८३ ॥

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ सुपि । गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते । खलप्वौ । खलप्व इत्यादि । एवं सुल्वादयः । अनेकाचः किम् । लूः । लुवौ । लुवः । धात्ववयवेति किम् । उल्लूः । उल्ल्वौ । उल्ल्वः । असंयोगपूर्वस्य किम् । कटप्रुवौ । कटप्रुवः । गतीत्यादि किम् । परमलुवौ । सुपि किम् । लुलुवतुः । स्वभूः । न भूसुधियोः । स्वभुवौ । स्वभुवः ॥

२८१-अच् आदिमें है जिसके ऐसा सुप् परे रहते धातुका अवयव जो संयोग, वह पूर्वमें न हो, ऐसा जो उवर्ण तदन्त जो धातु, तदन्त जो अनेकाच् अङ्ग, उसको यण् हो । (यहां "इणो यण् ६।४।८१" इससे यण्की और "एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य २७२" इस संपूर्ण सूत्रकी अनुवृत्ति होती है, 'एः' इस अंशको छोडकरके कारण कि, सूत्रमें 'ओः' ऐसा स्पष्ट स्थानीका उच्चारण किया है) । "अचिश्नु० ६।४।७७/२७१" से होनेवाले उवङ्का यह अपवाद है, "गतिकारकेति (५०३४ वा०)" गति और कारकसे भिन्नपद पूर्ववर्ती होने-पर यण् न हो (परमलु शब्द देखो) । खलप्वौ । खलप्वः इत्यादि अनदीसंज्ञकप्रधीवत् ॥

खलपू शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	खलपूः	खलप्वौ	खलप्वः
सं०	हे खलपूः	हे खलप्वौ	हे खलप्वः
द्वि०	खलप्वम्	खलप्वौ	खलप्वः
तृ०	खलप्वा	खलपूभ्याम्	खलपूभिः
च०	खलप्वे	खलपूभ्याम्	खलपूभ्यः
पं०	खलप्वः	खलपूभ्याम्	खलपूभ्यः
ष०	खलप्वः	खलप्वोः	खलप्वाम्
स०	खलप्वि	खलप्वोः	खलपूषु,

इसी प्रकारसे सुलू (उत्तमप्रकारसे काटनेवाला) इत्यादि शब्दोंके रूप जानो ।

अनेकाच् क्यों कहा ? तो एकाच् शब्द लू (काटनेवाला) को यण् नहीं होकर "अचि श्नुधातु० २७१" से उवङ् होगा, लूः। लुवौ। लुवः। परन्तु ङिके स्थानमें आम् नहीं होगा।

लू शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	लूः	लुवौ	लुवः
सं०	हे लूः	हे लुवौ	हे लुवः
द्वि०	लुवम्	लुवौ	लुवः
तृ०	लुवा	लूभ्याम्	लूभिः
च०	लुवे	लूभ्याम्	लूभ्यः
पं०	लुवः	लूभ्याम्	लूभ्यः
ष०	लुवः	लुवोः	लुवाम्
स०	लुवि	लुवोः	लूषु.

(धात्ववयवेति किम्) धातुका अवयव संयोग न हो, ऐसा क्यों कहा ? तो उत् लू मिलकर उल्लू (ऊपर काटनेवाला) इसमें उकारके पीछे संयोग है तो भी धातुका अवयव न होनेके कारण यण् होताहै । उल्लूः । उल्ल्वौ । उल्ल्वः । खलपूशब्दके समान ।

(असंयोगेति) पीछे संयोग न हो ऐसा क्यों कहा ? तो (कटं प्रवते इति) बिछौनेकी ओर चलता है सो 'कटप्रू' यहां धातुका अवयव संयोग होनेके कारण यण् नहीं होता, कटप्रूः । कटप्रुवौ । कटप्रुवः । उवङ् लू शब्दके समान ।

(गतीति) गति, कारक पूर्व पद होते ऐसा क्यों कहा ? तो (परमश्चासौ लूश्च परमलूः) 'उत्कृष्ट काटनेवाला सो परमलू' इस कर्मधारयमें 'परम' इसको गति वा कारक न होनेसे यण् नहीं होकर उवङ् होगा, (लूशब्दवत्) परमलुवौ ।

(सुपि किम्) अजादि सुप् प्रत्यय होते ऐसा क्यों कहा? तो अतुस् ($\frac{३।४।८२}{२१७३}$) इस तिङ् प्रत्ययको आगे रहते 'लुलू' इस द्विरुक्त धातुको यण् न होकर उवङ् होताहै, लुलुवतुः (उन दोनोंने काटा) $\frac{७।३।८०}{२५५८}$ * ॥

स्वभू शब्द–(स्वयम् अर्थात् आपही होनेवाला)

स्वभूः । "न भूसुधियोः $\frac{६।४।८५}{२७३}$" इस निषेधके कारण यण् नहीं, उवङ् होगा स्वभुवौ । स्वभुवः । लूशब्दवत् । इसी प्रकार स्वयम्भू शब्दके रूप जानने ।

स्वयम्भू शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	स्वयंभूः	स्वयंभुवौ	स्वयंभुवः
सं०	हे स्वयंभूः	हे स्वयम्भुवौ	हे स्वयंभुवः
द्वि०	स्वयंभुवम्	स्वयंभुवौ	स्वयंभुवः
तृ०	स्वयंभुवा	स्वयंभूभ्याम्	स्वयंभूभिः
च०	स्वयंभुवे	स्वयंभूभ्याम्	स्वयंभूभ्यः
पं०	स्वयंभुवः	स्वयंभूभ्याम्	स्वयंभूभ्यः
ष०	स्वयंभुवः	स्वयंभुवोः	स्वयंभुवाम्
स०	स्वयंभुवि	स्वयंभुवोः	स्वयंभूषु.

वर्षाभू–(वर्षासु भवति) बरसातमें होनेवाला (मेडक) शब्द–

२८२ वर्षाभ्वश्च । ६ । ४ । ८४ ॥

अस्योवर्णस्य यण् स्यादचि सुपि । वर्षाभ्वौ । वर्षाभ्वः । दृम्भतीति दृम्भूः । अन्दूदृम्भूजम्बूकफेलूकर्कन्धूदिधिषूरित्युणादिसूत्रेण व्युत्पादितः । दृम्भ्वौ । दृम्भ्वः । दृम्भूम् । दृम्भ्वौ । दृम्भून् । शेषं हूहूवत् । दृन्निति नान्ते हिंसार्थेऽव्यये भुवः क्विप् । दृन्भूः ॥ दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः ॥ * ॥ दृन्भ्वम् । दृन्भ्व इत्यादि । खलपूवत् । करभ्वौ । करभ्वः । दीर्घपाठे तु कर एव कारः । स्वार्थिकः प्रज्ञाद्यण् । कारभ्वौ । कारभ्वः । पुनर्भूर्यौगिकः पुंसि । पुनर्भ्वावित्यादि । दृग्भूकाराभूशब्दौ स्वयंभूवत् ॥

॥ इत्यूदन्ताः ॥

२८२–अजादि सुप् परे रहते 'वर्षाभू' शब्दके उकारको यण् होताहै, उवङ् नहीं । इस सूत्रमें स्थित चकारको अनुक्तसमुच्चयार्थकत्व स्वीकार करके वार्तिकमें कहे 'दृन्' और 'कर' तथा 'पुनः' शब्दपूर्वक भी भू शब्दका ग्रहण होगा. वर्षाभू+औ, यहां "इको यणचि $\frac{६।१।७७}{४७}$" से प्राप्त यणको बाधकर "प्रथमयोः० $\frac{६।१।१०२}{१६४}$" से प्राप्त पूर्वसवर्णदीर्घका "दीर्घाज्जसि च $\frac{६।१।१०५}{२३९}$" से निषेध हुआ और पूर्व ४७ की प्राप्ति हुई उसको बाध कर "अचि श्नु० $\frac{६।४।७७}{२७१}$" से उवङ् प्राप्त हुआ, उसको बाधकर "ओः सुपि $\frac{६।४।८३}{२८१}$" से यण् प्राप्त हुआ, उसका "न भूसु० $\frac{६।४।८५}{२७३}$" से निषेध हुआ, तब उवङ्की प्राप्ति बनी रही उसको बाधकर प्रस्तुत सूत्रसे यण् हुआ । वर्षाभ्वौ । वर्षाभू+जस्=वर्षाभ्वः । शेष रूप खलपूकी समान जानना ।

(दृम्भतीति) गूंथताहै वह दृम्भू । यह शब्द "अन्दूदृम्भूजम्बूकफेलूकर्कन्धूदिधिषूः १ । ९३" इस उणादि सूत्रसे 'दृभी ग्रन्थे' इस धातुमें कृत् (ऊ) प्रत्यय लग कर निष्पन्न हुआ है, आगे ऊ रहनेके कारण इस शब्दमें धातुत्व नहीं इस कारण उवङ् न होकर ४७ से यण् हुआ दृम्भ्वौ। दृम्भ्वः। दृम्भून् । शेष रूप हूहूशब्दकी समान है ।

'दृन्' यह हिंसार्थमें नान्त अव्यय है, सो पूर्वमें रहते भू धातुसे क्विप् प्रत्यय होकर दृन्भूः (हिंसासे जन्मा हुआ) भू धातुसे ... यह शब्द व्युत्पन्न हुआ है । दृन्, कर, पुनः, एतत्पूर्वक 'भू' शब्दको यण् होताहै । भू शब्दको यद्यपि "न भूसुधियोः $\frac{६।४।८५}{२७३}$" इससे यणका निषेध है, तो भी "दृन्करपुनः०" (वा० ४११८) इसवार्तिकसे होगा दृन्भू+औ दृन्भ्वौ । दृन्भू+जस्=दृन्भ्वः इत्यादि । शेष रूप खलपूवत् जानना ।

* इस सूत्रमें "एरनेकाचः०" इससे 'सुपि' यह अर्थ अधिक है, इससे यह सूत्र तिङन्तमें प्रवृत्त नहीं होता, यह ध्यानमें रखना चाहिये ॥

इसी प्रकार करभू (हाथसे जन्मा हुआ)

करभू+सु=करभूः । करभ्वौ । करभ्वः । (दीर्घपाठे) कार इस प्रकारका दीर्घयुक्त वार्तिकपाठ है तब उसमें 'कार' इसका 'कर' यही अर्थ है, कर इससे "प्रज्ञादिभ्यश्च ५।४।३८/२१०८" इससे स्वार्थमें अण् (वृद्धिनिमित्त) होकर कार शब्द बना है इससे कारभ्वौ । कारभ्वः । इत्यादि करभूवत् रूप जानना ।

पुनर्भूः-यह शब्द यौगिक (व्युत्पत्तिके अनुसार अर्थवाला) (फिर होनेवाला) पुँल्लिङ्ग है । पुनर्भू+औ=पुनर्भ्वौ । स्त्रीलिंग 'पुनर्भू' रूढि है उसका निर्णय (३०६) सूत्रमें होगा।

दृग्भूः (दृष्टिसे होनेवाला), काराभूः (कारागृहमें होनेवाला) यह क्विबन्त शब्द स्वयंभूशब्दके समान होतेहैं, कारण कि, "न भूसुधियोः" यह निषेध सूत्र यहां लगताहै दूसरी कोई प्राप्ति नहीं ॥

॥ इति ऊदन्ताः ॥

धाता । हे धातः । धातारौ । धातारः ॥ ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् ॥ * ॥ धातॄणामित्यादि । एवं नप्त्रादयः । उद्गातारौ । पिता । व्युत्पत्तिपक्षे नप्त्रादिग्रहणस्य नियमार्थत्वान्न दीर्घः । पितरौ । पितरः । पितरम् । पितरौ । शेषं धातृवत् । एवं जामातृभ्रात्रादयः । ना । नरौ । नरः । हे नः ॥

ऋदन्त धातृ (ब्रह्मा) शब्द-

यह अष्टाध्यायीमेंका तृजन्त ३।१।१३३/२८९५ है, सुप्रत्यय परे रहते "ऋदुशन० ७।१।९४/२७८" इससे अनङ्, धात्+अन्+स् मिलकर धातन्+स् ऐसी स्थिति हुई, "अप्तृन्तृच्० ६।४।११/२७७" इससे उपधाको दीर्घ, धातान्+स् "हल्ङ्या० ६।१।६८/१९०" से सकारका लोप "न लोपः० २३६" से नकारका लोप, धाता । आगे 'औ' रहते "ऋतो ङिसर्व० ७।३।११०/२७५" इससे गुण हुआ । धातर्+औ "अप्तृन्तृच्०" इससे उपधाको दीर्घ धातार्+औ=धातारौ हुआ । सम्बुद्धिमें "ह्रस्वस्य गुणः ७।३।१०८/२४२" इससे धातर्+स् ऐसी स्थिति होते उपधाको दीर्घकी प्राप्ति नहीं, "हल्ङ्या०" इससे सकारका लोप होकर 'धातर्' हुआ फिर "खरवसानयोः० ८।३।१५/७६" से विसर्ग हे धातः । धातारौ । धातारः । धातृ+नाम् ऐसी अवस्थामें दीर्घ और पीछे "रषाभ्यां नो णः समानपदे ८।४।१/२३५" ऐसा सूत्र है, उसके अनुसार "ऋवर्णा०" यह वार्तिक है इससे ऋवर्णके आगे नकारको णत्व हुआ धातॄणाम्।धातृ+ङि यहां "ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ७।३।११०/२७५" इससे गुण होकर धातरि-इत्यादि।

धातृ शब्दके रूप-

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	धाता	धातारौ	धातारः
सं०	हे धातः	हे धातारौ	हे धातारः
द्वि०	धातारम्	धातारौ	धातॄन्
तृ०	धात्रा	धातृभ्याम्	धातृभिः
च०	धात्रे	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
पं०	धातुः	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
ष०	धातुः	धात्रोः	धातॄणाम्
स०	धातरि	धात्रोः	धातृषु.

इसी प्रकारसे नप्तृ इत्यादि सात शब्दोंके रूप जानना, तथा और भी तृन्-तृजन्तोंके रूप इसी प्रकार जानना, स्वसृ शब्दके रूप स्त्रीलिङ्ग प्रकरण (३०८) में आवेंगे । ऋकारान्त शब्दोंके 'धातः', इत्यादि जो सम्बुद्धिके रूप हैं, उनमेंका विसर्ग रेफसे बना है, रु से नहीं इसलिये केवल आगे हश् रहते रेफको उत्व नहीं होता धातर्+गच्छ इसकी संधि धातर्गच्छ इत्यादि होगी ।

उद्गातृ (ऋत्विग्विशेष) शब्द औणादिक है तो भी इसको भाष्यके. आधारसे उपधा दीर्घ होताहै, इससे उद्गातारौ इत्यादि धातृवत् ॥

पितृ (बाप) । यह पितृ आदि शब्द अव्युत्पन्न मान लियेजांय तो दीर्घ होनेको कोई शंका नहीं, कारण कि, "अप्तृ०" इसमें उनका पाठ नहीं है और यदि व्युत्पन्न मानलियेजांय तो भी उपधादीर्घके विषयमें वहां नप्त्रादिको नियमार्थ होनेसे नप्तृ आदि सातही शब्द गिनाये गयेहैं, इससे इनको उपधादीर्घ नहीं, पितृ+औ=पितरौ । पितृ+जस्=पितरः । पितृ+अम्=पितरम् । पितरौ । शेष रूप धातृवत् जानना ॥

पितृ शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	पिता	पितरौ	पितरः
सं०	हे पितः	हे पितरौ	हे पितरः
द्वि०	पितरम्	पितरौ	पितॄन्
तृ०	पित्रा	पितृभ्याम्	पितृभिः
च०	पित्रे	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
पं०	पितुः	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
ष०	पितुः	पित्रोः	पितॄणाम्
स०	पितरि	पित्रोः	पितृषु

इसी प्रकारसे जामातृ (जमाई), भ्रातृ (भाई) इत्यादि शब्दोंके रूप होतेहैं,. आदिशब्द कहनेसे शंस्तृ (स्तुति करनेवाला), मातृ (मा) और दुहितृ (कन्या) यह शब्द लिये जांयगे । मातृ, दुहितृ शब्द स्त्रीलिंगमें ध्यानमें आवेंगे (३०८ में)* ॥

नृ (पुरुष) शब्द-

ना । नरौ । नरः । हे नः ।

---

* शेष ऋदन्त शब्द देवृ (देवर), नृ (मनुष्य), सव्येष्टृ (सारथी) यह ऋ प्रत्ययान्त (उणा० २ । ९८ । ९९ । १००) और यातृ (जिठानी देवरानी), ननान्दृ,-ननन्दृ (ननंद) यह ऋन् प्रत्ययान्त हैं ("उणादि० २ । ९६ । ९७") तृन् अथवा तृच् प्रत्ययवाले नहीं, इससे इनमें भी उपधादीर्घ नहीं । देवृ, सव्येष्टृ इनके रूप पितृ शब्दके समान होंगे । यातृ, ननान्दृ, ननन्दृ, इनके रूप स्त्रीलिङ्ग प्रकरणमें ध्यानमें आवेंगे [सि० ३०८] ॥

२८३ नॄ च। ६। ४। ६॥

नॄ इत्येतस्य नामि वा दीर्घः स्यात्। नॄणाम्। नृणाम्॥

॥ इति ॠदन्ताः॥

२८३–आगे नाम् रहते नॄ शब्दको विकल्प करके दीर्घ होताहै। (" नामि ६।४।३/२०९ " " छन्दस्युभयथा ६।४।५/३४३५ " इन दो सूत्रोंसे नाम्, दीर्घ, और विकल्पकी अनुवृत्ति आतीहै) नॄणाम्, नृणाम्, शेष रूप पितृ शब्दकी समान जानना॥

इति ॠदन्ताः॥

कॄ तॄ अनयोरनुकरणे प्रकृतिवदनुकरणमिति वैकल्पिकातिदेशादित्वे रपरत्वम्। कीः। किरौ। किरः। तीः। तिरौ। तिरः इत्यादि गीर्वत्। इत्वाभावपक्षे तु ॠदुशन इति ॠतो ङीति च तपरकरणादनङ्गुणौ न। कॄः। क्रौ। क्रः। कॄम्। क्रौ। कॄन्। क्रा। क्रे इत्यादि॥

॥ इति ॠदन्ताः॥

(कॄ तॄ अनयोरिति) ॠदन्त शब्द नहीं है इस कारण 'कॄ विक्षेपे' 'तॄ प्लवनसंतरणयोः' जो दो ॠदन्त धातु हैं उनका ही अनुकरण (उच्चारण) कॄ, तॄ, लियाहै, प्रकृतिकी समान अनुकरण होताहै नहीं भी होताहै ऐसा वैकल्पिक अतिदेश है, इस कारण कॄ, तॄ, इन धातुओंको "ॠत इद्धातोः ७।१।१००/२३९० " इससे होनेवाला इत्व इनको भी हुआ, "उरण् रपरः १।१।५१/७० " से इस इकारको रपरत्व, इर् यह अन्तादेश होकर 'किर्' 'तिर्' ऐसे रूप बने, आगे सु प्रत्ययमें किर्+स्, तिर्+स्, इनमें "हल्ङ्या० " इससे अगले सकारका लोप होकर 'किर्' 'तिर्' ऐसी स्थिति हुई, फिर "र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ८।२।७६/४३३ " (रेफान्त और वान्त धातुओंके उपधास्थानमें रहनेवाले इक्को पदान्तमें दीर्घ होताहै) इससे कीः। किरौ। किरः। तीः। तिरौ। तिरः इत्यादि (गीर्वत्) शेष रूप गिर् शब्दके रूपके समान जानना (४४०)*॥

(इत्वाभावपक्षे तु०) जब इत्व नहीं करना है, तब "ॠदुशनस्० ७।१।८४/२७६ " इसमें और "ॠतो ङि० ७।३।११०/२७५ " इसमें जो ॠ है, वह ॠत् ऐसा तपर होनेसे दीर्घान्त शब्द होते उनको अनङ् और गुण यह कार्य नहीं होते, कॄ+सु=कॄः। कॄ+औ=क्रौ। कॄ+जस्=क्रः। कॄ+अम्=कॄम्। कॄ+औ= क्रौ। कॄ+शस्=कॄन्। कॄ+टा=क्रा। कॄ+ङे=क्रे इत्यादि॥

कॄ शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	कीः, कॄः	किरौ, क्रौ	किरः, क्रः
सं०	हे कीः, कॄः	हे किरौ, क्रौ	हे किरः, क्रः
द्वि०	किरम्, कॄम्	किरौ, क्रौ	किरः, कॄन्
तृ०	किरा, क्रा	कीर्भ्याम्, कॄभ्याम्	कीर्भिः, कॄभिः
च०	किरे, क्रे	कीर्भ्याम्, कॄभ्याम्	कीर्भ्यः, कॄभ्यः
पं०	किरः, क्रः	कीर्भ्याम्, कॄभ्याम्	कीर्भ्यः, कॄभ्यः
ष०	किरः, क्रः	किरोः, क्रोः	किराम्, क्राम्
स०	किरि, क्रि	किरोः, क्रोः	कीर्षु, कॄषु

इसी प्रकार 'तॄ' शब्दके रूप जानना।

कीर्षु। तीर्षु इनमें रेफके स्थानमें विसर्ग नहीं होता, कारण कि "रोः सुपि ८।३।१६/३३९ " रु सम्बन्धी र् होते ही सप्तमी बहुवचनमें "खरवसानयोः० ८।३।१५/७६ " यह सूत्र लगताहै, अन्यथा नहीं॥

इति ॠदन्ताः॥

गम्लृ शक्लृ अनयोरनुकरणेऽनङ्। गमा। शका। गुणविषये तु लपरत्वम्। गमलौ। गमलः। गमलम्। गमलौ। गमॄन्। गम्ला। गम्ले। ङसिङसोस्तु ॠत उदित्युत्वे लपरत्वे संयोगान्तस्य लोपः। गमुल्। शकुल्। इत्यादि।

॥ इति लृदन्ताः॥

लृदन्त शब्द–

'गम्लृ–गतौ', 'शक्लृ–शक्तौ' यह धातु हैं, इनका अनुकरण 'गम्लृ', 'शक्लृ' यही शब्द लियेहैं। 'लृ' 'ॠ' वर्णकी परस्पर सवर्णसंज्ञा है १२ वार्तिकसे। ॠदन्तपितृवत् कार्य होंगे, इस कारण अनङ् होकर गमा शका परन्तु जब गुण होगा तब "उरण् रपरः ७०" इस सूत्रमें र प्रत्याहार है, इससे र, ल, दोनोंका ग्रहण होनेसे यहां आन्तरतम्यसे लपरत्व अर्थात् ॠदन्तत्वके कारण जैसे 'र्' वैसे लृदन्तत्वके कारण 'ल्' गमलौ। गम्लृ+जस्=गमलः। गम्लृ+अम्=गमलम्। गम्लृ+औ=गमलौ। लृकारको दीर्घ न होनेसे उसके स्थानमें 'ॠ' गमॄन्। गम्लृ+टा=गम्ला। गम्लृ+ङे=गम्ले। ङसि, ङस् प्रत्ययोंमें "ॠत उत् ६।१।१११/२७९ " इससे उत्व होकर, उसको लपरत्व होनेपर गमुल्स् इसमें केवल संयोगान्तलोप होगा। आगे अन्त्य लकारको रेफके समान विसर्गकी प्राप्ति नहीं होगी, गम्लृ+ङसि=गमुल्। गम्लृ+ङस्=गमुल् इत्यादि।

गम्लृ शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	गमा	गमलौ	गमलः
सं०	हे गमल्	हे गमलौ	हे गमलः
द्वि०	गमलम्	गमलौ	गमॄन्
तृ०	गम्ला	गम्लृभ्याम्	गम्लृभिः
च०	गम्ले	गम्लृभ्याम्	गम्लृभ्यः
पं०	गमुल्	गम्लृभ्याम्	गम्लृभ्यः

* अतिदेशका अर्थ–'नियमित मर्यादाके बाहर किसी नियमका कार्य होना है'। कॄ, तॄ धातु होते जो इत्व होताहै उसका अनुकरणमें (प्रातिपदिककालमें) भी होना यह अतिदेश हुआ, परन्तु "क्षियो दीर्घात्" यहां इयङ् होनेवास्ते 'क्षि' अनुकरणको प्रकृतिवत् मानाहै और प्रातिपदिक संज्ञा होनेके लिये प्रकृतिवत् नहीं मानाहै, कारण कि, प्रकृतिवत् होनेसे धातु होगा और धातुको प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती, इस कारण इस सूत्रके निर्देशसे यह विकल्पसे होताहै, ऐसा कहनेसे इत्वको छोड़कर भी अन्य रूप होतेहैं॥

ष०	गमुल्	गम्लोः	गमॄणाम्
स०	गमलि	गम्लोः	गम्लृषु.

इसी प्रकार शक्लृ शब्दके रूप जानने ॥

इति लृदन्ताः ॥

सेः । सयौ । सयः । स्मृतेः । स्मृतयौ । स्मृतयः ।

॥ इत्येदन्ताः ॥

दीर्घ लृ होती ही नहीं, इससे तदन्तशब्द भी नहीं ।

एकारान्त से शब्द–

'इः कामः इना सह वर्तते इति सेः' । इ अर्थात् मदन, उसके सहित वर्तताहै सो 'से' । से+सु=सेः । से+औ=सयौ । से+जस्=सयः ।

से शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सेः	सयौ	सयः
सं०	हे से	हे सयौ	हे सयः
द्वि०	सयम्	सयौ	सयः
तृ०	सया	सेभ्याम्	सेभिः
च०	सये	सेभ्याम्	सेभ्यः
पं०	सयः	सेभ्याम्	सेभ्यः
ष०	सयः	सयोः	सयाम्
स०	सयि	सयोः	सेषु.

इसी प्रकार 'स्मृते' (स्मरण कियाहै मदनका जिसने सो) शब्दके रूप जानना, स्मृतेः । स्मृतयौ । स्मृतयः इत्यादि ॥

इति एदन्ताः ॥

ओदन्त गो (बैल) शब्द–

२८४ गोतो णित् । ७ । १ । ९० ॥

गोशब्दात्परं सर्वनामस्थानं णिद्वत् स्यात् । गौः । गावौ । गावः ॥

२८४–गोशब्दसे परे सर्वनामस्थानको णिद्वद्भाव हो । (इसमें " इतोऽत्सर्वनामस्थाने $\frac{७।१।८६}{३६६}$ " से सर्वनामस्थानेकी अनुवृत्ति होती है । और उस सूत्रमें यद्यपि ' सर्वनाम० ' यह सप्तम्यन्त है तथापि विभक्तिका अर्थवशसे विपरिणाम करके यहां प्रथमान्त ही लिया जाताहै.) । " अचो ञ्णिति $\frac{७।२।११५}{२५४}$ " इससे अजन्त अंगको वृद्धि हुई, गो+सु=गौः । गो+औ=गावौ । गो+जस्=गावः ॥

२८५ औतोऽम्शसोः । ६ । १ । ९३ ।

आ ओत इति च्छेदः । ओकारादम्शसोरचि परे आकार एकादेशः स्यात् । शसा साहचर्यात्सुबेवाम् गृह्यते । नेह । अचिनवम् । असुनवम् । गाम् । गावौ । गाः । गवा । गवे । गोः । इत्यादि ॥ ओतो णिदिति वाच्यम् ॥ * ॥ विहितविशेषणं च ॥ * ॥ तेन । सुद्यौः । सुद्यावौ । सुद्यावः । ओकारान्ताद्विहितं सर्वनामस्थानमिति व्याख्यानान्नेह । हे भानो । भानवः । उः शंभुः स्मृतो येन सः स्मृतोः । स्मृतावौ । स्मृतावः । स्मृताम् । स्मृतावौ । स्मृताः इत्यादि ।

॥ इत्योदन्ताः ॥

२८५–सूत्रमेंके ' ओतः ' इसमें आ, ओतः ऐसे दो पद हैं, ओकारसे परे अम् और शस् इनको अच् परे रहते आकार एकादेश हो । ' अम्शसोः ' इसमें जो अम् है वह शस्के संग कहा हुआहै इस कारण वह सुप्प्रत्याहारमेंका ही लिया जायगा, इस कारण अ + चि + नो + अम् । अ + सु + नो + अम् । ऐसे जो ' चि ' (२५५५), ' सु ' (२५२३) धातुओंके लङ् (अनद्यतनभूतकालके) उत्तमपुरुषके एकवचनमें रूप प्राप्त होते हैं उनमें अम् इस तिङ् प्रत्ययके पहले यद्यपि ओ है तो भी वहां आकार एकादेश न होते ' अचिनवम् ', ' असुनवम् ' ऐसे ही रूप सिद्ध होते हैं । गो + अम् = गाम् । गो + औ = गावौ । गो + शस्=गाः । गो+टा=गवा । गो+ङे=गवे । गो+ङसि=गोः । इत्यादि * ॥

गो शब्दके रूप–

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	गौः	गावौ	गावः
सं०	हे गौः	हे गावौ	हे गावः
द्वि०	गाम्	गावौ	गाः
तृ०	गवा	गोभ्याम्	गोभिः
च०	गवे	गोभ्याम्	गोभ्यः
पं०	गोः	गोभ्याम्	गोभ्यः
ष०	गोः	गवोः	गवम्
स०	गवि	गवोः	गोषु.

'ओतो णिदि० (वा०५०३५)' "गोतो णित् $\frac{७।१।९०}{२८४}$ " जो सूत्र है उसमें गो शब्दके परे सर्वनामस्थान णिद्वत् हो ऐसा कहाहै, परन्तु वहां 'ओतो णित्' ऐसा कहना चाहिये । और 'सर्वनामस्थान' इस शब्दको विहित यह विशेषण लगावें, ओकारान्तके आगे विहित (अर्थात् ओकारान्त शब्द पहले होते उसके आगे लाए हुये जो सर्वनामस्थान वह) सर्वनामस्थान णिद्वत् जानो । सामान्यसे ओकारान्त शब्दके आगेके सर्वनामस्थानको णिद्वद्भाव करनेसे सुद्यो (सुन्दर स्वर्ग) इसके रूप सुद्यौः । सुद्यु+औ=सुद्यावौ इत्यादि होंगे ।

ओकारान्तशब्द पहले रह कर उसके आगे जो सर्वनामस्थान लानाहै ऐसा व्याख्यान होनेसे भानो इस गुणयुक्त भानुशब्दके आगेके सम्बुद्धि सु अथवा जस्को णिद्वद्भाव नहीं, इस कारण हे भानु+सु=हे भानो, भानु+जस्=भानवः इनमें वृद्धि नहीं (सि० २५३ देखो) ॥

---

* यहां सुप् शस्का साहचर्य लियाहै, तद्धित शस्का नहीं कारण कि, ओकारसे परे तद्धित शस् मिलता नहीं। और कैयट तो तद्धित शस् भी है तो सुप् शस्के साहचर्यसे सुप् ही अम् लियाजाय ऐसा कैसे कह सकतेहैं यह शंका करके, अजादिका अधिकार होनेसे तद्धित शस् अजादि नहीं है क्योंकि उसके शकारकी इत् संज्ञा नहीं है ऐसा कहतेहैं ॥

स्मृतो शब्द–(उ अर्थात् शम्भुका स्मरण कियाहै जि-
सने सो)

इसका प्रथमामें स्मृतो+सु=स्मृतोः । स्मृतो+औ=स्मृता-
वौ । स्मृतो+जस्=स्मृतावः । स्मृतो+अम्=स्मृताम् । स्मृतो+
औ=स्मृतावौ । स्मृतो+शस्=स्मृताः इत्यादि गोवत् ॥

इति ओदन्ताः ॥

ऐकारान्त रै (सम्पत्ति) शब्द–

२८६ रायो हलि । ७ । २ । ८५ ॥

**रैशब्दस्याऽऽकारान्तादेशः स्याद्धलि विभक्तौ । अचि आयादेशः ॥ राः । रायौ । रायः । रा-
यम् । रायौ । रायः । राया । राभ्यामित्यादि ।**

॥ इत्यैदन्ताः ॥

२८६–हलादिविभक्ति आगे रहते 'रै' शब्दको आकार
अन्तादेश हो । (इस सूत्रमें "अष्टन आ विभक्तौ ७।२।८४ / २७१"
से आ और विभक्तिकी अनुवृत्ति होतीहै) रै+सु=राः । अजा-
दिप्रत्यय परे रहते संधिसे आय् आदेश हो, रै+औ=रायौ ।
रै+जस्=रायः । रै+अम्–रायम् । रै+औ=रायौ । रै+शस्=
रायः । रै+टा=राया । रै+भ्याम्=राभ्याम् इत्यादि ।

रै शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	राः	रायौ	रायः
सं०	हे राः	हे रायौ	हे रायः
द्वि०	रायम्	रायौ	रायः
तृ०	राया	राभ्याम्	राभिः
च०	राये	राभ्याम्	राभ्यः
पं०	रायः	राभ्याम्	राभ्यः
ष०	रायः	रायोः	रायाम्
स०	रायि	रायोः	रासु.

इति ऐदन्ताः ॥

**ग्लौः । ग्लावौ । ग्लावः । ग्लावम् । ग्लावौ ।
ग्लावः इत्यादि । औतोऽम्शसोरितीह न प्रव-
र्तते । ऐऔजिति सूत्रेण ओदौतोः सावर्ण्याभा-
वज्ञापनात् ॥**

इत्यजन्ताः पुँल्लिङ्गाः ॥

औकारान्त ग्लौ (चन्द्रमा) शब्द–

ग्लौ+सु=ग्लौः । ग्लौ+औ=ग्लावौ । ग्लौ+जस्=ग्लावः ।
ग्लौ+अम्=ग्लावम् । ग्लौ+औ=ग्लावौ । ग्लौ+शस्=ग्लावः इ-
त्यादि । "औतोऽम्शसोः ६।१।९३ / २८५" इस सूत्रकी यहां
प्रवृत्ति नहीं होती और आकारान्तत्व नहीं आता कारण कि,
वह सूत्र केवल ओकारान्त शब्दके निमित्त ही है, ओ, औ
यह सवर्ण नहीं यह समझानेके निमित्त "ऐऔच्" ऐसा
चौदह सूत्रोंमें पृथक् सूत्र कियाहै, ए, ओ, इनके अन्तर्गत
ऐ, औ, इनका ग्रहण नहीं माना, इससे ओकारान्तका कार्य
औकारान्तको प्राप्त नहीं होता ।

ग्लौ शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	ग्लौः	ग्लावौ	ग्लावः
सं०	हे ग्लौः	हे ग्लावौ	हे ग्लावः
द्वि०	ग्लावम्	ग्लावौ	ग्लावः
तृ०	ग्लावा	ग्लौभ्याम्	ग्लौभिः
च०	ग्लावे	ग्लौभ्याम्	ग्लौभ्यः
पं०	ग्लावः	ग्लौभ्याम्	ग्लौभ्यः
ष०	ग्लावः	ग्लावोः	ग्लावाम्
स०	ग्लावि	ग्लावोः	ग्लौषु.

इति औदन्ताः ॥

॥ इति अजन्तपुँलिंगप्रकरणम् ॥

अथाजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

रमा ॥

अकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दोंके अव्यवहित उत्तर विभक्ति नहीं
लगतीं, वह शब्द चाहे मूलके स्त्रीलिंग हों, चाहे न हों उनसे
स्त्रीप्रत्ययोंके (४५३–५३१) नियमानुसार स्त्रीलिङ्गसूचक ङी
(ई), आप् (आ) इत्यादि प्रत्यय पहले लगतेहैं, उसके
अनन्तर विभक्ति प्रत्यय लगतेहैं ("ङ्याप्प्रातिपदिकात्
४।१।१ / १८२" यह सूत्र देखिये)

आकारान्त रमा शब्द–

रमा (लक्ष्मी) यह आबन्त (आप्प्रत्ययान्त) है, इस
कारण "हल्ङ्या० ६।१।६८ / २५२" इससे सुलोप, रमा । रमा+औ–

२८७ औङ आपः । ७ । १ । १८ ॥

**आबन्तादङ्गात्परस्यौङः शी स्यात् । औङि-
त्यौकारविभक्तेः संज्ञा । रमे । रमाः ॥**

२८७–आबन्त शब्दसे परे औङ्के स्थानमें शी हो ।
("जसः शी ७।१।१७ / २१४" इस सूत्रसे शीकी अनुवृत्ति
आतीहै) । शीके शकारकी इत्संज्ञा हुई, प्राचीन आचा-
र्योंके मतमें औ विभक्तिकी 'औङ्' संज्ञा है । रमा+ई=रमे ।
रमा+जस् "दीर्घाज्जसि च ६।१।१०५ / २३९" इससे जैसे विश्वपा
शब्दमें (२३९) दिखायाहै उसी प्रकारसे पूर्वसवर्ण
दीर्घका निषेध, इससे केवल "अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१ / ८५"
इससे दीर्घ, रमाः ॥

२८८ संबुद्धौ च । ७ । ३ । १०६ ॥

**आप एकारः स्यात्संबुद्धौ । एङ्ह्रस्वादिति
संबुद्धिलोपः । हे रमे २ । हे रमाः । रमाम् ।
रमे । रमाः । स्त्रीत्वान्नत्वाभावः ॥**

२८८–सम्बोधन परे रहते आप्के स्थानमें एकार हो ।
("बहुवचने झल्येत् ७।३।१०३ / २०५" "आङि चापः ७।३।१०५ / २८९"
इन दो सूत्रोंसे एत् और आप्की अनुवृत्ति आतीहै) । "एङ्-
ह्रस्वात्सम्बुद्धेः ६।१।६९ / १९३" इससे सम्बुद्धिलोप, हे रमे ।
द्विवचनमें भी हे रमे । हे रमा=जस्=हे रमाः । रमा+
अम्=रमाम् । रमा+औ=रमे । रमा+शस्=रमाः । स्त्रीलिङ्ग
होनेके कारण "तस्माच्छसो नः पुंसि ६।१।१०३ / १९६" यह सूत्र
नहीं लगता इससे शस् प्रत्ययमें नकार नहीं हुआ ॥

२८९ आङि चापः । ७ । ३ । १०५ ॥

आङि ओसि च परे आबन्तस्याङ्गस्य एकारः स्यात् । रमया । रमाभ्याम् । रमाभिः ॥

२८९–आङ् (टा २४४) और ओस् प्रत्यय आगे रहते आबन्त अंगके आकारके स्थानमें एकार हो ("बहुवचने०" से एत्की अनुवृत्ति और सूत्रमेंके चकारसे ओस्का परामर्श हुआ) । रमा+टा=रमया । रमा+भ्याम्=रमाभ्याम् । रमाभिः * ॥

२९० याडापः । ७ । ३ । ११३ ॥

आपः परस्य ङिद्वचनस्य याडागमः स्यात् । वृद्धिरेचि । रमायै । सवर्णदीर्घः । रमायाः । रमयोः । रमाणाम् । रमायाम् । रमयोः । रमासु । एवं दुर्गादयः ॥

२९०–आबन्तके आगे ङित् (ङे, ङसि, ङस्, ङि) प्रत्ययोंको याट् (या) का आगम होताहै । ("घेर्ङिति ७।३।१११ / २४५" इस सूत्रसे ङित्की अनुवृत्ति आती है) । रमा+या+ङे ऐसी स्थिति होते "वृद्धिरेचि ७२" रमायै । रमा+या+अस्=रमायाः । सवर्ण दीर्घ हुआ । रमा+या+ङस्=रमायाः । रमा+ओस्=रमयोः । रमा+आम्=रमाणाम् । "ङेराम् नद्याम्नीभ्यः ७।३।११६ / २७०" रमा+ङि=रमायाम् । रमा+ओस्=रमयोः रमा+सुप्=रमासु * ॥

रमा शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	रमा	रमे	रमाः
सं०	हे रमे	हे रमे	हे रमाः
द्वि०	रमाम्	रमे	रमाः
तृ०	रमया	रमाभ्याम्	रमाभिः
च०	रमायै	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
पं०	रमायाः	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
ष०	रमायाः	रमयोः	रमाणाम्
स०	रमायाम्	रमयोः	रमासु.

इसी प्रकार दुर्गा आदि आबन्त शब्दोंके रूप जानने ।

सर्वनामसंज्ञक सर्वा (सब) शब्द–

सर्व+टाप् (आ) सर्वा ॥

२९१ सर्वनाम्नः स्याड् ढ्रस्वश्च । ७ । ३ । ११४ ॥

आबन्तात्सर्वनाम्नः परस्य ङितः स्याट् स्यादापश्च ह्रस्वः । याटोऽपवादः । सर्वस्यै । सर्वस्याः २ । एकादेशस्य पूर्वान्तत्वेन ग्रहणादामि सर्वनाम्न इति सुट् । सर्वासाम् । सर्वस्याम् । सर्वयोः । सर्वासु । एवं विश्वादय आबन्ताः ॥

२९१–आबन्त सर्वनामके परे स्थित ङित्को स्याट्का आगम हो और आप् प्रत्ययके 'आ' को ह्रस्व हो . याट्का यह अपवाद है । सर्व+स्या+ए=सर्वस्यै । सर्वा+ङसि=सर्वस्याः । सर्वा+ङस्=सर्वस्याः । "आमि सर्वनाम्नः सुट् ७।१।५२ / २१७" इससे सर्वनामके आगे आनेवाले आम् प्रत्ययको सुट्का आगम होताहै, परन्तु यहां सर्व+टाप् (आ) +आम् ऐसी स्थिति होनेके कारण टाप् प्रत्ययके आगे आम् आया, प्रत्यक्ष सर्वनामके आगे नहीं आया, तो यहां सुट्का आगम किस प्रकार होगा ? (उत्तर–) सर्व और टाप् (आ) इनकी संधि होते समय 'अ' और 'आ' इन दोनोंके स्थानमें मिलकर 'आ' एकादेश हुआ, टाप् (आ) पृथक् नहीं रहा, इस प्रकारसे सर्व और सर्वा यह एकही शब्द है कारण कि, इस एकादेशका "अन्तादिवच्च ७५" से पूर्वान्तवद्भाव माना जाताहै इस कारण 'सर्वा' यह भी सर्वनामसंज्ञक है, इससे उसके परे आम् प्रत्ययको सुट् हुआ, सर्वा+आम्=सर्वासाम् । सर्वा+ङि=सर्वस्याम् । सर्वा+ओस्–सर्वयोः । सर्वा+सुप्=सर्वासु ।

सर्वा शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सर्वा	सर्वे	सर्वाः
सं०	हे सर्वे	हे सर्वे	हे सर्वाः
द्वि०	सर्वाम्	सर्वे	सर्वाः
तृ०	सर्वया	सर्वाभ्याम्	सर्वाभिः
च०	सर्वस्यै	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः
पं०	सर्वस्याः	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः
ष०	सर्वस्याः	सर्वयोः	सर्वासाम्
स०	सर्वस्याम्	सर्वयोः	सर्वासु.

इसी प्रकारसे 'विश्वा' इत्यादि आबन्त शब्दोंके रूप जानना चाहिये * ॥

---

* रमा+भिस् है यहां आकारको "अन्तादिवच्च ७५" से पूर्वान्तवद्भाव होनेसे अदन्तत्व होगा तब "अतो भिस॰ २०३" से ऐस् हो ऐसा नहीं कह सकते कारण कि 'अत्' अल् है अल्विधिमें "अन्तादिवच्च" नहीं लगता ॥

* यहां "सुपि च" से सुप्का सम्बन्ध है, इस कारण ङित् सुप्को याट् हो ऐसा अर्थ करना चाहिये, नहीं तो 'मालेवाऽऽचरतः' (मालाके समान दोनों आचरण करतेहैं) मालासे क्विप् होकर तस् हुआ 'मालातः' ऐसा सिद्ध होताहै, यहांपर भी तस्का "सार्वधातुकमपित्" से ङित् संज्ञा है तो याट् हो जायगा, फिर सुप् कहनेसे नहीं होता 'तस्' तिङ् है सुप् नहीं ॥

१ यहां 'लिङ्गविशिष्ट' (परि॰) से सिद्ध था तब 'एकादेशस्य पूर्वान्तवत्त्वेन" इत्यादि ग्रन्थका लेखन असङ्गत है, ऐसी शङ्का नहीं करना, क्यों कि 'विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्' (विभक्तिके परे कार्य्य करना हो तो 'लिङ्गविशिष्ट परिभाषा उपस्थित नहीं होती) इससे लिङ्ग विशिष्ट परिभाषा यहां उपस्थित नहीं होती है ॥

* आबन्त सर्वनाम कहनेसे सर्वा, विश्वा, उभा, डतर, डतम प्रत्ययान्त (कतरा, यतरा, ततरा, कतमा, यतमा, ततमा) अन्या, अन्यतरा, इतरा, त्वा, त्वा, नेमा, समा, सिमा, पूर्वा, परा, अवरा, दक्षिणा, उत्तरा, अपरा, अधरा, स्वा, अन्तरा, एका, यह शब्द लियेजातेहैं, इनमेंके पूर्वादि नव शब्दके अर्थ गण २१७ सूत्रमें जैसे कहेहैं, वही यहां भी समझना, लिङ्गभेदमात्र विशेष है, हलन्त सर्वनाम हलन्त प्रकरणमें आवेंगे ॥

आबन्त सर्वनामोंको जस् प्रत्ययमें कोई कार्य (शी) नहीं, इससे यहां सर्वनाम और "प्रथमचरम० $\frac{१।१।३३}{२२६}$" में कहे हुए शब्द भी स्त्रीलिंग रमाशब्दवत् जानने, पुंलिंगमें जस् प्रत्ययमें जो सर्वनामके सम्बन्धसे अनेक विकल्प कहेहैं उनकी भी यहां प्रवृत्ति नहीं, सर्वा शब्दके समान ही उनके रूप होंगे। जो कुछ भेद होगा, हम केवल उन्हींको दिखावेंगे पुंलिङ्गके सदृश यहां भी उभाशब्दके केवल द्विवचन और 'उभयी' शब्दको द्विवचनाभाव जानो, जहां 'तयप्' को 'अयच्' हुआहै, इस कारण 'उभय' को "स्थानिवत्० ४९" से तयप् प्रत्ययान्त मानकर ४७० से ङीप् होगा और उसका रूप नदीशब्दवत् जानना।

पूर्वादि नौ शब्दोंके जो पूर्वास्याः २। पूर्वस्याम् यह ङसि, ङस् और ङि सम्बन्धी स्त्रीलिंगके रूप हैं उनमें स्याट् आगम है 'स्मात्' 'स्मिन्' नहीं इससे "पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा $\frac{७।१।१६}{२२१}$" यह विकल्प नहीं होता, एकही रूप सर्वाशब्दवत्। अब सर्वनामसंज्ञाका विकल्प कहतेहैं–

२९२ विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ । १ । १ । २८ ॥

अत्र सर्वनामता वा स्यात् । उत्तरपूर्वस्यै । उत्तरपूर्वायै । दिङ्नामान्यन्तराले इति प्रतिपदोक्तस्य दिक्समासस्य ग्रहणान्नेह । योत्तरा सा पूर्वा यस्या उन्मुग्धायास्तस्यै उत्तरपूर्वायै । बहुव्रीहिग्रहणं स्पष्टार्थम् । अन्तरस्यै शालायै । बाह्यायै इत्यर्थः । अपुरीत्युक्तेर्नेह । अन्तरायै नगर्यै ॥

२९२–दिग्वाचक शब्दके समासमें सर्वादि शब्दोंको सर्वनामता विकल्प करके होतीहै। उत्तरपूर्वा (उत्तर और पूर्वके बीचकी ऐशानी दिशा) यहां 'पूर्वा' सर्वनाम शब्द है, इसलिये 'उत्तरपूर्वा' इसको भी तदन्तत्वके कारण २१३से प्राप्त हुई सर्वनामताकी, समास होनेसे 'पूर्वा' इसको गौणत्व हुआ इस कारण "संज्ञोपसर्जनी० २२२" से अप्राप्ति होते प्रस्तुत सूत्रसे विकल्प है, परन्तु उसका "न बहुव्रीहौ $\frac{१।१।२९}{२२२}$" से निषेध होते प्रस्तुत सूत्रसे विकल्प करके सर्वनामत्व है, ऐसा नहीं कहसकते, कारण कि, यह जो २२२ निषेध है सो अलौकिक प्रक्रियावाक्यमें सर्वादिविषयका है और यह विकल्प समासविषयक है, इसलिये 'ङे' प्रत्ययमें उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै ।

("दिङ्नामान्यन्तराले $\frac{२।२।२६}{८४५}$" इति) अन्तराल (मध्यदिशा) का अर्थ होते ऐसा कहा हुआ है, इससे प्रतिपदोक्त (अर्थात् शीघ्र अर्थ ध्यानमें आनेवाला) दिक्शब्दोच्चारित दिक्समास हो तो यही विकल्प होताहै, नहीं तो निषेध है यही बात ठीक है।

(या उत्तरा–) जिस मुग्धा स्त्रीको उत्तर पूर्वका ज्ञान नहीं है, वह 'उत्तरपूर्वा' (मूढ कन्यका) उसके कारण ऐसा अर्थ करतेहैं दिक्० $\frac{२।२।२६}{८४५}$ शब्दोच्चारित नहीं है, परन्तु "अनेकमन्यपदार्थे $\frac{२।२।२४}{८३०}$" इससे समास होनेसे सर्वनामत्वाभावके कारण "उत्तरपूर्वायै" यह रूप हुआ, यहां प्रतिपदोक्त दिक्समासका ग्रहण है और यह सूत्र "शेषो बहुव्रीहिः" के अधिकारमेंका है तो सूत्रमें 'बहुव्रीहि' शब्दका प्रयोजन नहीं था, तथापि स्पष्टताके लिये उसका उपादान है।

अन्तरा (बाहरकी) यह शब्द सर्वनामसंज्ञक है,

अन्तरा+ङे=अन्तरस्यै (अर्थात् बाहरके घरके निमित्त)।

(अपुरीति) पुरवाचक शब्द विशेष्य न हो तो सर्वनामसंज्ञा हो ऐसा २१७ में होनेसे 'अन्तरायै नगर्यै' इसमें नगरी शब्द यह विशेष्य है, इससे 'अन्तरा' शब्दको सर्वनामत्व नहीं अर्थात् स्याट्का आगम और ह्रस्व $\frac{७।३।११४}{२९१}$ नहीं ॥

अब द्वितीया और तृतीया यह शब्द–

२९३ विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम् । ७ । ३ । ११५ ॥

आभ्यां ङितः स्याट् स्यादापश्च ह्रस्वः । इदं सूत्रं त्युक्तं शक्यम् । तीयस्य ङित्सूपसंख्यानात् । द्वितीयस्यै । द्वितीयायै । द्वितीयस्याः२। द्वितीयायाः २ । द्वितीयस्याम् । द्वितीयायाम् । शेषं रमावत् । एवं तृतीया । अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः । हे अम्ब । हे अक्क । हे अल्ल । असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां ह्रस्वो न । हे अम्बाडे । हे अम्बाले । हे अम्बिके । जरा । जरसौ । शीभावात्परत्वाज्जरस् । आमि नुटः परत्वाजरस् । जरसामित्यादि । पक्षे हलादौ च रमावत् । इह पूर्वविप्रतिषेधेन शीभावं कृत्वा संनिपातपरिभाषाया अनित्यतां चाश्रित्य जरसी इति केचिदाहुस्तन्निर्मूलम् । यद्यपि जरसादेशस्य स्थानिवद्भावेनाबन्ततामाश्रित्य औङ आपः । आङि चापः । याडापः । ह्रस्वनद्यापः । ङेराम् । इति पञ्चापि विधयः प्राप्ताः । एवं नस्निशोपृत्सु तथाप्यनल्विधावित्युक्तेर्न भवन्ति । आ आबिति प्रश्लिष्य आकाररूपस्यैवाऽऽपः सर्वत्र ग्रहणात् । एवं हल्ङ्याबादिसूत्रेपि आ आप् ङी ई इति प्रश्लेषादतिखट्वः निष्कौशाम्बिरित्यादिसिद्धेर्दीर्घग्रहणं प्रत्याख्येयम् । न चैवमप्यतिखट्वायेत्यत्र स्वाश्रयमाकारत्वं स्थानिवद्भावेनाप्त्वं चाश्रित्य याट् स्यादिति वाच्यम् । आबन्तं यदङ्गं ततः परस्य याड्विधानात् । उपसर्जनस्त्रीप्रत्यये तपरस्य याड्विधानात् । पद्दन् इति नासिकाया नस् । दादिनियमात् । नोभ्यामित्यादि । पक्षे सुटि च रमावत् । नसः । नसा । नोभ्यामित्यादि । पक्षे सुटि च रमावत् । निशाया निश् । निशः । निशा ॥

२९३-द्वितीया और तृतीया इन शब्दोंके परे ङित् प्रत्ययको विकल्प करके स्याट्का अगम होताहै और आबन्त अङ्ग ह्रस्वान्त होताहै । ङित्प्रत्ययमें तीयप्रत्ययान्त (द्वितीय, तृतीय) शब्द विकल्प करके सर्वनामसंज्ञक माने गये हैं ऐसा (२२६ में) वार्तिक है, इससे उस परसे विकल्प करके स्याट् ७।३।११४/२९१ कार्य होनेसे इस सूत्रका त्याग हो सकताहै । द्वितीया+ङे=द्वितीयस्यै, द्वितीयायै । द्वितीया+ङसि= द्वितीयस्याः, द्वितीयायाः । द्वितीया+ङि=द्वितीयस्याम्, द्वितीयायाम् । शेष रूप रमाशब्दवत् जानना ।

द्वितीया शब्दके रूप-

वि०	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	द्वितीया	द्वितीये	द्वितीयाः
सं०	हे द्वितीये	हे द्वितीये	हे द्वितीयाः
द्वि०	द्वितीयाम्	द्वितीये	द्वितीयाः
तृ०	द्वितीयया	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयाभिः
च०	द्वितीयस्यै,द्वितीयायै	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयाभ्यः
पं०	द्वितीयस्याः,द्वितीयायाः	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयाभ्यः
ष०	द्वितीयस्याः,द्वितीयायाः	द्वितीययोः	द्वितीयानाम्
स०	द्वितीयस्याम्,द्वितीयायाम्	द्वितीययोः	द्वितीयासु,

इसी प्रकार तृतीयाशब्दके रूप होंगे ।

अम्बा, अक्का, अल्ला, अम्बार्थ (माता अर्थवाले) शब्द- इनके सम्बोधनमें "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ७।३।१०७/२६७" इससे ह्रस्व होकर हे अम्ब, हे अक्क, हे अल्ल, ऐसे रूप होतेहैं । शेष रूप रमाशब्दवत् जानो । (असंयुक्तेति वा० ४५९२) भाष्यकारने दो अक्षरवाले अम्बार्थ शब्दोंको कहाहै औरको नहीं, इससे कहाजाताहै कि असंयुक्त जो ड, ल, क, उनसे युक्त अम्बार्थक शब्दोंको ह्रस्व न होगा हे अम्बाडा+सु=हे अम्बाडे । हे अम्बाला+सु=हे अम्बाले । हे अम्बिका+सु=हे अम्बिके । अर्थात् डा, ला, का, इनके आकारको ह्रस्व न हुआ ॥

जरा (वृद्धत्व) शब्द-

जरा । जरसौ । आबन्त जराशब्दके आगे औङ् आया, उसके स्थानमें "औङ आपः ७।१।१८/२८७" इससे होनेवाले शी (ई) से "जराया जरसन्यतरस्याम् ७।२।१०१/२२७" इससे अजादि विभक्तिकालमें होनेवाला जरस् आदेश पर है इस कारण जरस् आदेश हुआ । आम् प्रत्ययके समयमें "ह्रस्वनद्यापो नुट् ७।१।५४/२०८" इससे होनेवाले नुट्से जरस् आदेशको पर होनेसे वहां भी जरस् हुआ; जरा+आम्=जरसाम्-इत्यादि । अन्य पक्ष और हलादिप्रत्ययोंमें रमाशब्दके समान जानना ।

जरा शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	जरा	जरसौ, जरे	जरसः, जराः
सं०	हे जरे	हे जरसौ, हे जरे,	हे जरसः,हे जराः
द्वि०	जरसम्, जराम्	जरसौ, जरे	जरसः, जराः
तृ०	जरसा, जरया	जराभ्याम्	जराभिः
च०	जरसे, जरायै	जराभ्याम्	जराभ्यः
पं०	जरसः,जरायाः	जराभ्याम्	जराभ्यः
ष०	जरसः,जरायाः	जरसोः, जरयोः	जरसाम्, जराणाम्
स०	जरसि, जरायाम्	जरसोः जरयोः	जरासु.

(इहेति०) 'यहां पूर्वविप्रतिषेधसे औङ्के स्थानमें शीभाव करके और सन्निपातपरिभाषाको अनित्य मानकर जरस् आदेश करनेसे प्रथमा, द्वितीयाके द्विवचनमें 'जरसी' ऐसा रूप होताहै, ऐसा कोई कहतेहैं, परन्तु यह कहना निर्मूल है, क्योंकि, "विप्रतिषेध० १७५" में पर शब्दको इष्टवाची मानकर पूर्वविप्रतिषेध मानाहै सो नहीं हो सकता, कारण कि, पूर्वविप्रतिषेध माननेके लिये तत्तत् स्थलमें वार्तिक पढेहैं, यहांपर वार्तिक नहीं पढा, इससे यहां पूर्वविप्रतिषेध नहीं माना जायगा और सन्निपातपरिभाषाके अनित्यतामें यहां कोई युक्त प्रमाण नहींहै और भाष्यकारने भी सन्निपातपरिभाषाकी अप्रवृत्तिका जो जो उदाहरण दियाहै,उनमें इस उदाहरणको नहीं कहा इससे परिभाषा भी अनित्य नहीं मानी जायगी ।

यद्यपि जरस् आदेशको स्थानिवद्भावसे आबन्त मानकर "औङ आपः ७।१।१८/२८७" इससे शी (ई), "आङि चापः ७।३।१०५/२८९" इससे एकार, "याडापः ७।३।११३/२९०" इससे याट्, "ह्रस्वनद्यापः० ७।१।५४/२०८" इससे नुट्, और "ङेराम्० ७।३।११६/२७०" इससे आम्, इस प्रकारसे पांचों विधि प्राप्त हैं ऐसा दीखताहै, वैसे ही नासिका, निशा, पृतना (२९५) इनके स्थानमें जो नस्, निश्, पृत्, यह आदेश, उनमें भी इन पांचोंकी प्राप्ति दीखतीहै, तथापि जहां २ आप् शब्द आयाहै, वहां वहां आ आप् ऐसा प्रश्लेष कर 'आरूप आप्' ऐसाही सर्वत्र अर्थ करना, इससे वहां 'आ' इस विशेषणसे वह केवल 'आ' अर्थात् अल् है अल्विधिके कारण 'अनल्विधौ' ऐसा १।१।५६/४९ इसमें कहाहै, इस कारण स्थानिवद्भाव नहीं । ऐसेही "हल्ङ्या० ६।१।६८/२५२" इस सूत्रमें 'दीर्घात्' यह शब्द है, उसका प्रयोजन अतिखट्वः, निष्कौशाम्बिः इनमें 'सु' का लोप न हो यह दिखानेके निमित्त है परन्तु उस सूत्रमें भी 'आ आप्' और 'ङी ई' ऐसा प्रश्लेष करके आरूप आप् ईरूप ङी ऐसा अर्थ करनेसे कार्य होगया, 'अतिखट्वः, निष्कौशाम्बिः' इनमें वैसा 'आरूप आप्' और 'ईरूप ङी' नहीं है, इससे 'दीर्घात्' यह शब्द निकाल लियाजाय तो भी उससे यह रूप सिद्ध होजायंगे इससे 'दीर्घात्' इसका प्रत्याख्यान करने, अर्थात् उस शब्दको निकाल डालनेमें भी कुछ हानि नहीं ऐसा कहना चाहिये ।

जो कोई यह कहैं कि 'आ आप्' ऐसा प्रश्लेष करनेपर भी 'अतिखट्व' शब्दके आगे चतुर्थीका प्रत्यय ङे (य) आकर 'अतिखट्वाय' ऐसा जो रूप बनाहै उसमें 'अतिखट्वा' इस शब्दके आगे (य) ङे प्रत्यय है, यहां खट्वा इसमें मूलका आप् है और वह चाहे प्रथमतः ह्रस्व भी हुआ तो भी यकारके निमित्तसे दीर्घ होकर आरूप हुआहै और उसको स्थानिवद्भावसे आबन्तत्व भी है, इससे आरूप आबन्तत्व होनेके कारण अगले प्रत्ययको "याडापः ७।३।११३/२९०"

इससे याट्का आगम होनाचाहिये, तो ऐसा कहना उचित नहीं. (आबन्तमिति) क्योंकि, मूलका ही आबन्त अंग हो, तभी-उसके आगे प्रत्ययको याट्का आगम कहाहै'खट्वा' यह आबन्त शब्द है तो भी 'अतिखट्व' इतने शब्दको कुछ आप् प्रत्यय नहीं हुआहै इससे 'अतिखट्व'यह आबन्त अंग नहीं और चाहें वह विभक्तिके निमित्तसे आकारान्त हुआहै तो भी उसको आबन्त नहीं कहसकते अर्थात् जो आबन्त है वही कुछ यहां अंग नहीं है, उपसर्जन स्त्रीप्रत्यय होते 'तदादि' ग्रहणका नियम प्राप्त होताहै * ॥

परि०-("प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्") प्रत्ययसे तदन्तका ग्रहण होताहै, तदन्तका अर्थ-'वह अन्तमें है जिसके ऐसा वर्णसमुदाय' है, परन्तु उस वर्णसमुदायकी मर्यादा कहांसे कहांतक है? तो प्रत्यक्ष जिस शब्दके आगे उस प्रत्ययका विधान कियागया हो, उस शब्दको आदि जानकर आगे उस प्रत्ययके अन्ततक जो वर्णसमुदाय है उतनेहीको तदन्त कहना चाहिये और उतनेका ही ग्रहण करै, उसके पीछे समासादिकके कारण और भी अक्षर हों तो उनका ग्रहण न करना चाहिये, इसका नाम तदादिनियम है । परि०-'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न' अर्थात् उपसर्जनके परे हुआ न हो ऐसा स्त्रीप्रत्यय आगे होते तदादि नियम नहीं चलता (अर्थात् उस समय चाहे जितने बडे शब्दका तदन्त करके ग्रहण करसकतेहैं) ऐसा ऊपर कहे हुए 'प्रत्ययग्रहणे' इत्यादि परिभाषाका प्रतिषेध है इसमें 'अनुपसर्जन' ऐसा कहाहुआहै, इससे जहां उपसर्जनके आगे हुआ स्त्री प्रत्यय हो वहां यह प्रतिषेध नहीं, तदादिनियम ही चलताहै, यह बात सिद्ध है इससे 'उपसर्जनस्त्रीप्रत्यये तदादिनियमात्' ऐसा ऊपर ग्रन्थमें कहाहै ।

नासिका (नाक) शब्द-

"पद्दन्० ६।१।६३ / २२८" इस सूत्रसे नासिका शब्दको शसादि प्रत्ययोंमें विकल्प करके 'नस्' आदेश होताहै, इससे नासिका+शस्=नसः । नासिका+टा=नसा । नासिका + भ्याम्, ऐसी अवस्थामें नासिका शब्दके नस् आदेश होकर "हशि च ६।१।११४ / १६६" इससे उत्व होकर नोभ्याम् इत्यादि विकल्पके कारण अन्य पक्षमें और सुट् प्रत्ययमें भी रमा शब्दके समान रूप होतेहैं ।

नासिका शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	नासिका	नासिके	नासिकाः
सं०	हे नासिके	हे नासिके	हे नासिकाः
द्वि०	नासिकाम्	नासिके	नसः, नासिकाः
तृ०	नसा, नासिकया	नोभ्याम्, नासिकाभ्याम्	नोभिः, नासिकाभिः
च०	नसे, नासिकायै	नोभ्याम्, नासिकाभ्याम्	नोभ्यः, नासिकाभ्यः
पं०	नसः, नासिकायाः	नोभ्याम्, नासिकाभ्याम्	नोभ्यः, नासिकाभ्यः
ष०	नसः, नासिकायाः	नसोः, नासिकयोः	नसाम्, नासिकानाम्
स०	नसि, नासिकायाम्	नसोः, नासिकयोः	नःसु; नस्सु, नासिकासु.

निशा (रात) शब्द-

"पद्दन्०" सूत्रके अनुसार निशाको निश् आदेश, निशा + शस्=निशः । निशा + टा=निशा ॥

२९४ व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः । ८ । २ । ३६ ॥

व्रश्चादीनां सप्तानां छशान्तयोश्च षकारोऽन्तादेशः स्याज्झलि पदान्ते च । षस्य जश्त्वेन डकारः । निड्भ्याम् । निड्भिः । सुपि डः सीति पक्षे धुट् । चर्त्वम् । तस्यासिद्धत्वाच्चयो द्वितीया इति टतयोष्ठथौ न । न पदान्ताट्टोरिति ष्टुत्वं न । निट्त्सु । निट्सु ॥

२९४ आगे झल् होते और पदान्तमें व्रश्च, भ्रस्ज, सृज, मृज, यज, राज, भ्राज, इन सात धातुओंको, वैसेही छकारान्तोंको और शकारान्तोंको षकार अन्तादेश होताहै, इसलिये भ्याम् प्रत्यय परे होते पदान्तत्वके कारण शकारको षकार होकर 'निष् + भ्याम्' ऐसी स्थिति हुई, "झलां जशोऽन्ते ८४" इससे षकारको जश्त्व होकर डकार हुआ । निड्भ्याम् । निड्भिः । निड्के आगे सुप् होते "डः सि धुट् ८।३।२९ / १३१" इससे 'सु' को विकल्प करके धुट् (ध्) का आगम हुआ, तब निड्ध् सु ऐसी स्थिति हुई, आगे सकार है इस कारण "खरि च ८।४।५५ / १२१" इससे धकारको चर्त्व होकर निट्त्सु, निट्सु हुए, * "चयो द्वितीयाः०" इस (सि० १३० के) वार्तिकसे आगे सकार है, इसलिये टकार, तकारके स्थानमें अनुक्रमसे ठकार, थकार विकल्प करके होने चाहिये । परन्तु इस वार्तिकसे "खरि च" सूत्रसे कहाहुआ चर्त्व असिद्ध होनेके कारण नहीं दीखता, इस कारण ठ, थ नहीं होते, वैसे ही पदान्तमें रहनेवाले टवर्गके आगे 'नाम्' को छोडकर सकार, तवर्ग आवे तो सकार, तवर्गके स्थानमें षकार, टवर्ग नहीं होते ८।४।४२ / ११४ इससे यहां षकार, टकार नहीं हुए, निट्त्सु, निट्सु । (आगे शंका और समाधान)

२९५ षढोः कः सि । ८ । २ । ४१ ॥

षस्य ढस्य च कः स्यात्सकारे परे । इति तु न भवति । जश्त्वं प्रत्यसिद्धत्वात् । केचित्तु व्रश्चादिसूत्रे दादेर्धातोरिति सूत्राद्धातोरित्यनुवर्तयन्ति । तन्मते जश्त्वेन जकारे । निजभ्याम् । निज्भिः । जश्त्वं श्चुत्वं चर्त्वम् । निच्छु । चोः कुरिति कुत्वं

---

* 'खट्व' इसके आगे टाप् (आप्-आ) यह स्त्रीप्रत्यय होकर 'खट्वा' ऐसा आबन्त शब्द बनाहै और 'खट्वाम् अतिक्रान्तः अतिखट्वः' इस रीतिसे 'अतिखट्व' यह पुँल्लिङ्गशब्द बनताहै, इससे 'खट्वा' शब्दको गौणत्व प्राप्त होकर उसकी उपसर्जन (विशेषण) संज्ञा होतीहै, इस उपसर्जनके आगे हुआ आप् यह स्त्रीप्रत्यय उपसर्जन स्त्रीप्रत्यय है ॥

तु न भवति, जश्त्वस्यासिद्धत्वात् ॥ मांसपृतनासानूनां मांस्पृत्स्नवो वाच्याः शसादौ वा ॥ * ॥ पृतः । पृता । पृद्भ्याम् । पक्षे सुटि च रमावत् । गोपा विश्वपावत् । मतिः प्रायेण हरिवत् । स्त्रीत्वान्नत्वाभावः । मतीः । नात्वं न । मत्या ।

२९५-सकार परे रहते षकार और ढकारके स्थानमें क होताहै इस कारण यहां निष् + सु इसमें 'ष्' के स्थानमें ककार होना चाहिये था, परन्तु इस सूत्रके "झलाञ्जशोऽन्ते ८।२।३९/८४" इसकी दृष्टिसे असिद्ध होनेके कारण ककारकी प्राप्ति नहीं, जश्त्व ही होताहै अर्थात् पूर्वोक्त प्रकारसे निट्त्सु, निट्सु यही रूप ठीक हैं । परन्तु कोई "व्रश्चभ्रस्ज० ८।२।३६/२८८" इस सूत्रमें "दादेर्धातोर्घः ८।२।३२/३२५" इस सूत्रमेंके 'धातोः' शब्दकी अनुवृत्ति लातेहैं, अर्थात् छान्त, शान्त धातुओंको ही षकार होताहै और वे धातु न हों तो षकार नहीं होता, ऐसा कहतेहैं अर्थात् उनके मतसे यहां षत्व नहीं, इससे उनके मतके अनुसार पहले ही "झलाञ्जशोऽन्ते" सूत्र लगाकर जश् करनेपर, निज्भ्याम् । निज्भिः । 'सुप्' प्रत्ययमें जश्त्व, श्चुत्व, ८।४।४०/१११, चर्त्व, निश् +सु=निज्+सु= निज्+शु इस प्रकारसे स्थिति होकर अन्तमें निच्शु यह रूप सिद्ध हुआ । "चोः कुः ८।२।३०/३७८" अर्थात् झल् परे रहते अथवा पदान्तमें रहनेवाले चवर्गके स्थानमें कवर्ग होताहै, इस सूत्रकी दृष्टिसे जश्त्व ८।२।३९/८४ असिद्ध है, इस लिये 'श्' स्थानिक जो जकार अर्थात् उससे उत्पन्न हुआ जो चकार वह 'चोः कुः' इसको नहीं दीखता, इस कारण निच्शु इसमेंके चकारके स्थानमें ककार नहीं होता, यहां संधिके कारण "शश्छोऽटि ८।४।६३/१२०" से वैकल्पिक रूपोंकी प्राप्ति है ।

निशा शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	निशा	निशे	निशाः
सं०	हे निशे	हे निशे	हे निशाः
द्वि०	निशाम्	निशे	निशः, निशाः
तृ०	निशा, निशया ।	निज्भ्याम्; निड्भ्याम्, निशाभ्याम् ।	निज्भिः; निड्भिः, निशाभिः
च०	निशे, निशायै	निज्भ्याम्; निड्भ्याम्, निशाभ्याम् ।	निज्भ्यः; निड्भ्यः, निशाभ्यः
पं०	निशः, निशायाः	निज्भ्याम्; निड्भ्याम्, निशाभ्याम्	निज्भ्यः; निड्भ्यः निशाभ्यः
ष०	निशः, निशायाः	निशोः, निशयोः	निशाम्, निशानाम्
स०	निशि, निशायाम्	निशोः, निशयोः	निच्शु; निट्त्सु; निट्सु, निशासु.

पृतना (सेना) शब्द-

'पद्दन्०' इस सूत्रमें जो शब्द कहेहैं उनको छोड और भी "मांसपृतना० (वा० ३४९६)" अर्थात् मांस, पृतना, सानु इन शब्दोंके स्थानमें शसादि प्रत्यय परे रहते विकल्प करके मांस् (३१७), पृत्, स्नु (३२२) यह आदेश होतेहैं । पृतना+शस्=पृतः । पृतना+टा = पृता । पृतना+भ्याम्=पृद्भ्याम् इत्यादि । अन्यपक्ष और सुट्में रमाशब्दकी समान जानना ।

१-७-इति केचित् ॥

पृतना शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	पृतना	पृतने	पृतनाः
सं०	हे पृतने	हे पृतने	हे पृतनाः
द्वि०	पृतनाम्	पृतने	पृतः, पृतनाः
तृ०	पृता, पृतनया	पृद्भ्याम्, पृतनाभ्याम्	पृद्भिः, पृतनाभिः
च०	पृते, पृतनायै	पृद्भ्याम्, पृतनाभ्याम्	पृद्भ्यः, पृतनाभ्यः
पं०	पृतः, पृतनायाः	पृद्भ्याम्, पृतनाभ्याम्	पृद्भ्यः, पृतनाभ्यः
ष०	पृतः, पृतनायाः	पृतोः, पृतनयोः	पृताम्, पृतनानाम्
स०	पृति, पृतनायाम्	पृतोः, पृतनयोः	पृत्सु, पृतनासु.

गोपा (गायोंकी रक्षा करनेवाली) शब्द विश्वपा (२४०) शब्दवत् जानना ।

मति (बुद्धि) शब्द-

"शेषो घ्यसखि १।४।७/२४३" इससे 'घि' संज्ञा हुई, इससे मति शब्द बहुधा हरि शब्दके समान होताहै (२४१) परन्तु शस् प्रत्ययमें स्त्रीलिङ्ग होनेके कारण "तस्माच्छसो नः पुंसि ६।१।१०३/१९६" इससे प्राप्त जो नकार वह नहीं होगा, मति+शस्=मतीः । तृतीयाके एकवचनमें स्त्रीत्वके कारण ७।३।१२०/२४४ से टाके स्थानमें 'ना' नहीं होता, मति+टा=मत्या । ङित् प्रत्ययमें कितने ही शब्दोंकी नदी संज्ञा विकल्प करके होतीहै, उस विषयमें सूत्र कहते हैं-

२९६ ङिति ह्रस्वश्च । १ । ४ । ६ ॥

इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ ह्रस्वौ चेवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तो ङिति परे । आण् नद्याः । मत्यै । मतये । मत्याः । मतेः । नदीत्वपक्षे औदिति ङेरौत्वे प्राप्ते ॥

२९६-जिनके स्थानमें विभक्तिके समय इयङ् वा उव होताहै, ऐसे स्त्रीशब्दभिन्न जो नित्यस्त्रीलिङ्ग ईकारान्त वा ऊकारान्त शब्द हैं, वे और जो ह्रस्व इकारान्त वा ह्रस्व उकारान्त स्त्रीलिङ्गमें योजना किये गयेहैं वे शब्द, आगे ङित् प्रत्यय होते विकल्प करके नदीसंज्ञक होतेहैं । ("नेयङुवङ्० १।४।४/३०३", "वामि १।४।५/३०४" इन दोनों सूत्रोंसे 'इयङुवङ्स्थानौ' 'अस्त्री' और 'वा' इनकी अनुवृत्ति आती है) । इससे ङित् प्रत्ययोंमें मति शब्दकी विकल्प करके नदी संज्ञा होतीहै, और पक्षमें घि संज्ञा होतीहै, "आण्नद्याः ७।३।११२/२६८" इससे नदीसंज्ञकसे परे ङित् प्रत्ययको आट्का आगम होताहै, मति+ङे=मत्यै, मतये । मति+ङसि=मत्याः, मतेः । मति+ङस्=मत्याः, मतेः । नदीसंज्ञक पक्ष लेते समय "ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ७।३।११६/२७०" इससे "औत् ७।३।११८/२५६" यह सूत्र पर होनेके कारण यद्यपि ङिके स्थानमें औत् प्राप्त हुआ, तथापि-

२९७ इदुद्भ्याम् । ७ । ३ । ११७ ॥

नदीसंज्ञकाभ्यामिदुद्भ्यां परस्य ङेराम् स्यात्। पक्षे अच्च घेः । मत्याम् । मतौ । एवं श्रुतिस्मृत्यादयः ॥

२९७-ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त नदीसंज्ञकके आगे ङिके स्थानमें आम् होताहै, ऐसा अपवाद है, (इस सूत्रमें "आण्नद्याः ७।३।११२" से "नद्याः" और "ङेराम् नद्याम्नीभ्यः ७।३।११६" से 'ङेराम्' इसकी अनुवृत्ति होती है) इससे आम् हुआ, अन्यपक्षमें अर्थात् जहां नदी संज्ञा नहीं, वहां घि संज्ञाके कारण "अच्च घेः ७।३।११९/२४७" इससे हरि शब्दमें जैसे हुआहै वैसे ही ङिके स्थानमें 'औ' और शब्दको अकार अन्तादेश होताहै, मति+ङि=मत्याम्, मतौ ।

मति शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	मतिः	मती	मतयः
सं०	हे मते	हे मती	हे मतयः
द्वि०	मतिम्	मती	मतीः
तृ०	मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः
च०	मत्यै, मतये	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
पं०	मत्याः, मतेः	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
ष०	मत्याः, मतेः	मत्योः	मतीनाम्
स०	मत्याम्, मतौ	मत्योः	मतिषु.

इसी प्रकारसे श्रुति, स्मृति, बुद्धि इत्यादि शब्दोंके रूप जानने ॥

त्रि (तीन) शब्द-

२९८ त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ । ७ । २ । ९९ ॥

स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतावादेशौ स्तो विभक्तौ परतः ॥

२९८-स्त्रीलिङ्गमें स्थित त्रि और चतुर (चार) शब्दके स्थानमें विभक्ति परे रहते क्रमसे 'तिसृ' और 'चतसृ' आदेश होतेहैं । ("अष्टन आ विभक्तौ ७।२।८४/३७१" इस सूत्रसे विभक्तिकी अनुवृत्ति आती है) ॥

२९९ अचि र ऋतः । ७ । २ । १०० ॥

तिसृ चतसृ एतयोर्ऋकारस्य रेफादेशः स्यादचि । गुणदीर्घोत्त्वानामपवादः । तिस्रः २ । आमि नुमचिरेति नुट् ॥

२९९-अच् परे रहते 'तिसृ' और 'चतसृ' इनके ऋकारके स्थानमें रेफ आदेश होताहै। "ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ७।३।११०/२७५" इससे होनेवाला गुण, "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ६।१।१०२/१६४" इससे होनेवाला दीर्घ और "ऋत उत् ६।१।१११/२७९" इससे ङसि ङस्प्रत्ययकालमें होनेवाला जो उत्व, इन तीनोंका यह अपवाद है । तिसृ+जस्=तिस्रः । तिसृ+शस्=तिस्रः । तिसृ+भिस्=तिसृभिः । तिसृ+भ्यस्=तिसृभ्यः । आम् प्रत्ययमें "ह्रस्वनद्यापो नुट् ७।१।५४/२०८" इससे नुट्का आगम होताहै, यद्यपि "अचि र ऋतः ७।२।१००/२९९" से यहां ऋके स्थानमें रेफ आदेश होना चाहिये और "ह्रस्वनद्यापो नुट्" इसको अवसर न मिलना चाहिये, तथापि "नुमचिर०" इस पीछे २८० के वार्तिकसे अच् आगे रहते ऋकारको होनेवाला जो रेफादेश उसका परत्वके कारण नुट्से विरोध आवे तो "विप्रतिषेधे पूर्वं कार्यम्" इससे पर कार्यका निषेध करके पूर्व कार्य अर्थात् नुट् ही होताहै । इससे नुट्, तिसृ+नाम् ऐसी स्थिति हुई-॥

३०० न तिसृचतसृ । ६ । ४ । ४ ॥

एतयोर्नामि दीर्घो न स्यात् । तिसृणाम् । तिसृषु । स्त्रियामिति त्रिचतुरोर्विशेषणान्नेह । प्रियास्त्रयस्त्रीणि वा यस्याः सा प्रियत्रिः । मतिवत् । आमि तु प्रियत्रयाणामिति विशेषः । प्रियास्तिस्रो यस्य स इति विग्रहे तु प्रियतिसा । प्रियतिसौ । प्रियतिस्रः । प्रियतिस्रामित्यादि । प्रियास्तिस्रो यस्य तत्कुलं प्रियत्रि । स्वमोर्लुका लुप्तत्वेन प्रत्ययलक्षणाभावान्न तिस्रादेशः । न लुमतेति निषेधस्यानित्यत्वात्पक्षे प्रियतिसृ । रादेशात्पूर्वविप्रतिषेधेन नुम् । प्रियतिसृणी । प्रियतिसृणि । तृतीयादिषु, वक्ष्यमाणपुंवद्भावविकल्पात्पर्यायेण नुमरभावौ । प्रियतिस्रा । प्रियतिसृणा । इत्यादि ॥ द्वेरत्वे सत्याप् । द्वे २ । द्वाभ्याम् ३ । द्वयोः २ ॥ गौरी । गौर्यौ । गौर्यः । नदीकार्यम् । हे गौरि । गौर्यै इत्यादि । एवं वाणीनद्यादयः ॥ प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणादनङि णिद्वद्भावे च प्राप्ते । विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम् । सखी । सख्यौ । सख्य इत्यादि गौरीवत् । अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः । लक्ष्मीः । शेषं गौरीवत् । एवं तरीतन्त्र्यादयः॥ स्त्री । हे स्त्रि ॥

३००-नाम् परे रहते तिसृ, चतसृ इनको (नामि २०९ से) दीर्घ न हो । तिसृणाम् । तिसृ+सुप्=तिसृषु । एकवचन द्विवचन नहीं हैं ॥

---

१ यहां 'मध्येऽपवादाः पूर्वान्विधीन्बाधन्ते नोत्तरान्' (मध्यमें पठित अपवाद पूर्व विधियोंका बाध करतेहैं पर विधियोंका नहीं) इस न्यायका आश्रयण करके दीर्घ १६४, उत्व २७९, इन्हींका अपवाद कहना चाहिये, गुण २७५ का नहीं,कारण कि "ऋतो-ङि०" यह सूत्र "अचि र०"इससे परक है, तो भी इस शास्त्रमें दो पक्ष हैं-बाध्यसामान्यचिन्ता पक्ष और बाध्यविशेषचिन्ता पक्ष, यहांपर बाध्यसामान्यचिन्ता (हमारे विषयमें जो जो प्राप्त हैं सबका बाध करै) पक्षहीका ग्रहण होनेसे गुणका भी अपवाद है ॥

स्त्रीलिङ्ग त्रि शब्दके रूप–

प्र० व०	द्वि० व०	तृ० व०	च० व०	पं० व०
तिस्रः	तिस्रः	तिसृभिः	तिसृभ्यः	तिसृभ्यः
ष० व०	स० बहुवचन.			
तिसृणाम्	तिसृषु.			

प्रियत्रि शब्द–ऊपर "त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ७।२।९९ / २९८" इस सूत्रमें 'स्त्रियाम्' यह शब्द त्रि और चतुर् इन्हींका विशेष अर्थ लानेके लिये जोडा गयाहै इसीसे यहां अगले शब्दोंमें वैसा प्रकार न आनेसे आदेश नहीं होता, 'प्यारे हैं तीन पुरुष जिस स्त्रीको' ऐसा अर्थ हो तो भी 'प्रियत्रिः' ऐसा ही रूप होताहै, इसी प्रकारसे इतर रूप मतिशब्द २९७ के समान जानना, परन्तु आम् प्रत्ययमें "त्रेस्त्रयः ७।१।५३ / २६४" इससे 'त्रय' आदेश होताहै, इससे प्रियत्रयाणाम् ऐसा रूप होताहै यह विशेष है, परन्तु 'प्रियाः तिस्रः यस्य' (प्रिय हैं तीन स्त्री जिसको) ऐसा विग्रह कियाजाय तो पुँल्लिङ्गमें भी तिसृ आदेश होताहै, कारण कि यद्यपि पूरा शब्द पुँल्लिंग है तो भी इसमेंका त्रि शब्द 'प्रियाः' इस स्त्रीलिङ्गशब्दका विशेषण है, इससे ऋका-रान्त शब्दके अनुसार 'प्रियतिसा' ऐसा प्रथमाके एकवच-नमें रूप होताहै, आगे "अचि र ऋतः ७।२।१०० / २९९" इससे रेफादेश और वहां ही दिखायेके अनुसार गुण, दीर्घ और उत्वका अभाव जानना, प्रियतिस्रौ । प्रियतिस्रः । प्रियति-स्रम् इत्यादि * ॥

प्रियतिसृ शब्दके रूप–

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	प्रियतिसा	प्रियतिस्रौ	प्रियतिस्रः
सं०	हे प्रियतिसः	हे प्रियतिस्रौ	हे प्रियतिस्रः
द्वि०	प्रियतिस्रम्	प्रियतिस्रौ	प्रियतिस्रः
तृ०	प्रियतिस्रा	प्रियतिसृभ्याम्	प्रियतिसृभिः
च०	प्रियतिस्रे	प्रियतिसृभ्याम्	प्रियतिसृभ्यः
पं०	प्रियतिस्रः	प्रियतिसृभ्याम्	प्रियतिसृभ्यः
ष०	प्रियतिस्रः	प्रियतिस्रोः	प्रियतिसृणाम्
स०	प्रियतिस्रि	प्रियतिस्रोः	प्रियतिसृषु.

(प्रियाः०) 'प्यारी हैं तीन स्त्रियां जिस कुलको' ऐसा अर्थ हो तो नपुंसकमें 'प्रियत्रि' । कारण यह कि "स्वमोर्नपुंसकात् ७।१।२३ / ३१९" अर्थात् नपुंसक शब्दसे परे 'सु' और 'अम्' इनका लुक् होताहै, ऐसा आगे एक सूत्र है, इसमें लुक् शब्दसे लोप कहा गयाहै, इस कारण "न लुमताऽङ्गस्य १।१।६२ / २६३" इससे सुलोप और अम्लोप इनका प्रत्यय लक्षण नहीं होताहै, इस कारण आगे प्रत्यय न होनेसे उन दोनोंको विभक्तिकालमें तिसृ आदेश नहीं ७।२।९९ / २९८, जब "न लुमताङ्गस्य १।१।६३ / २६३" यह शास्त्र अनित्य है (सि० ३२० की टीप देखो) इस कारण वैसा पक्ष लिया जाय तो 'प्रियतिसृ' ऐसा भी रूप होगा, यदि कोई ऐसा कहे कि यह अनित्यत्व सम्बुद्धिविषयक है इस कारण सम्बु-द्धि ही में 'न लुमता०' निषेध अनित्य मानाजायगा अन्यत्र नहीं, तो ऐसा नहीं कह सकते कारण कि, जब कोई बाधक नहीं तब प्रमाणोंकी सामान्यतः सर्वत्र प्रवृत्ति होती है, इसलिये सम्बुद्धिभिन्न प्रथमामें और द्वितीयामें भी अनित्य माना गया है । सम्बुद्धिमें भी ऐसाही होगा । द्विवचनमें "नपुंसकाच्च ७।१।१९ / ३१०" इससे औ के स्थानमें शी (ई) आदेश होताहै तब प्रियतिसृ+ई ऐसी स्थिति हुई, "इकोचि विभक्तौ ७।१।७३ / ३२०" इससे आगे अजादि विभक्ति रहते इगन्त नपुंसक शब्दको नुम् (न्) का आगम होताहै, यद्यपि "अचि र ऋतः ७।२।१०० / २९९" यह पर सूत्र है तो भी यहां "विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२ / १३६" इसमें पर (इष्ट) अर्थात् पूर्व यह अर्थ लेतेहैं, इससे यहां रादेश न होते पूर्वविप्रति-षेधसे 'नुम्' यही कार्य होताहै, 'प्रियतिसृणी' । नपुंसकश-ब्दके आगेके जस्, शस् इनके स्थानमें "जश्शसोः शिः ७।१।२० / ३१२" इससे शि (इ) आदेश और पूर्ववत् नुम्का आगम होताहै, तब 'प्रियतिसृन्+इ' ऐसी स्थिति हुई, "शि सर्वनामस्थानम् १।१।४२ / ३१३" इससे शि (इ) इसको सर्वनामस्थान संज्ञा है । इससे "सर्वनामस्थाने चास-म्बुद्धौ ६।४।८ / २५०" इससे प्रियतिसृन्+इ इसमें नकारान्त शब्दकी उपधाको दीर्घ होकर प्रियतिसृणि । "तृतीयादिषु भाषित-पुंस्कं पुंवद्गालवस्य ७।१।७४ / ३२१" ऐसा आगे सूत्र है, नपुंसक-शब्द हो और वही विशेष अर्थमें पुँल्लिङ्गमें चलताहै (बरता जाताहै) तो उसको 'भाषितपुंस्क' कहतेहैं,तृतीयादिविभक्ति-कालमें भाषितपुंस्कशब्द नपुंसकलिंगमें भी विकल्प करके पुंवत् चलताहै, इस लिये नपुंसकवत् रूपोंमें नुम् और अन्यपक्षमें 'र' भाव ऐसे पर्यायसे दोदो रूप हुए, प्रियतिस्रा, प्रियतिसृणा इत्यादि ॥

नपुंसक प्रियत्रि शब्दके रूप–

वि०	एकवचन	द्वि०	बहु०
प्र०	प्रियत्रि, प्रियतिसृ	प्रियतिसृणी	प्रियतिसॄणि
सं०	हे प्रियत्रे, प्रियत्रि, प्रियतिसः	हे प्रियतिसृणी	हे प्रियतिसॄणि
द्वि०	प्रियत्रि, प्रियतिसृ	प्रियतिसृणी	प्रियतिसॄणि
तृ०	प्रियतिस्रा, प्रियतिसृणा	प्रियतिसृभ्याम्	प्रियतिसृभिः
च०	प्रियतिस्रे, प्रियतिसृणे	प्रियतिसृभ्याम्	प्रियतिसृभ्यः
पं०	प्रियतिस्रः, प्रियतिसृणः	प्रियतिसृभ्याम्	प्रियतिसृभ्यः
ष०	प्रियतिस्रः,प्रियतिसृणः	प्रियतिस्रोः,प्रियतिसृणोः	प्रियतिसॄणाम्
सं०	प्रियतिस्रि, प्रियतिसृणि	प्रियतिस्रोः,प्रियतिसृणोः	प्रियतिसृषु.

द्वि शब्द द्विवचनमें चलताहै, यह सर्वनाम है और त्यदादि गणमें है, इससे "त्यदादीनामः ७।२।१०२ / २६५" इससे अकारान्तत्व होकर 'द्व' ऐसी स्थिति हुई, उससे "अजाद्य-तष्टाप् ४।१।४ / ४५४" इससे स्त्रीलिङ्गमें टाप् प्रत्यय होकर 'द्वा'

* इस सूत्रमें 'स्त्रियाम्' यह पद श्रुत जो 'त्रिचतुरोः' यह पद है, उसीका विशेषण है और अधिकारसे प्राप्त अङ्गका विशेषण नहीं, कारण कि 'श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलवान्' (श्रुत और अनुमि-तका जहां सम्बन्ध हो वहां श्रुतसम्बन्ध बलवान् होताहै) इस परिभाषा का यहां आश्रयण है ॥

१ इसके रूपोंकी सिद्धि यहां की है, तथापि अजन्त नपुंसक प्रकरण (३०९–३२३) पढनेसे ठीक ध्यानमें आवेगा ॥

ऐसा शब्द हुआ, आगे रमा शब्दके समान कार्य, प्र० द्वि० द्वे। तृ० च० पं० द्वाभ्याम्। ष० स० द्वयोः। द्वि शब्दको सम्बोधन नहीं, सो ३४५ सूत्रपर कहैंगे * ॥

ईकारान्त गौरी शब्द—

"षिद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१/४९८" इससे गौर शब्दसे ङीप् (ई) यह स्त्रीप्रत्यय होकर गौरी ऐसा ङ्यन्तशब्द बना है, ङ्यन्तत्व होनेके कारण "हल्ङ्याब्भ्यो० ६।१।६८/२५२" इससे सुलोप, गौरी। आगे 'औ'— और 'जस्' होते "दीर्घाज्जसि च ६।१।१०५/२३९" इससे पूर्वसवर्णदीर्घका निषेध, सामान्यतः सन्धिके कारण यण् होकर गौर्यौ। गौर्यः। नित्यस्त्रीत्व होनेके कारण नदीसंज्ञा २६६, नदीकार्य २६७, हे गौरि। गौरी+ङे=गौर्यै इत्यादि ॥

गौरी शब्दके रूप—

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	गौरी	गौर्यौ	गौर्यः
सं०	हे गौरि	हे गार्यौ	हे गौर्यः
द्वि०	गौरीम्	गौर्यौ	गौरीः * ॥
तृ०	गौर्या	गौरीभ्याम्	गौरीभिः
च०	गौर्यै	गौरीभ्याम्	गौरीभ्यः
पं०	गौर्याः	गौरीभ्याम्	गौरीभ्यः
ष०	गौर्याः	गौर्योः	गौरीणाम्
स०	गौर्याम्	गौर्योः	गौरीषु.

इसी प्रकारसे वाणी, नदी, इत्यादि ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग-शब्दोंके रूप जानो।

सखी (सहेली) शब्द—

"सख्यशिश्वीति भाषायाम् ४।१।६२/५१७" इससे सखि शब्दके आगे ङीप् (ई) यह स्त्रीप्रत्यय हुआहै, इसलिये यह ङ्यन्त शब्द है, "प्रातिपदिकग्रहणे०" यह परिभाषा पीछे (१८२ में) आचुकी है, इससे सखि शब्दको जो अनङ् ७।१।९३/२८८ और णिद्वद्भाव ७।१।९२/२५३ कार्य हैं, वे इस 'सखी' शब्दको भी प्राप्त हुए, परन्तु "विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्" (परि०) अर्थात् विभक्तिनिमित्तक कार्य कर्तव्य हो तो प्रातिपदिकसे लिङ्गविशिष्टका ग्रहण नहीं होता, इस लिये अनङ् और णित्कार्य नहीं होते, सखी। सख्यौ। सख्यः इत्यादि गौरीवत्।

इसमें नदीकार्यके कारण ङसि, ङस् प्रत्ययके पूर्व आडागम होनेसे वे ङसि, ङस् अव्यवहित नहीं हैं इस कारण "ख्यत्यात्परस्य ६।१।११२/२५५" यह सूत्र नहीं लगता अर्थात् उत्व नहीं होता ॥

लक्ष्मी शब्द—

"लक्षेर्मुट् च (उणा० ३।१६०)" इससे लक्षि धातुसे 'ई' प्रत्यय और उसको मुट् (म्) का आगम और 'णि' को लोप होकर 'लक्ष्मी' ऐसा ईप्रत्ययान्त शब्द सिद्ध हुआहै, यह ङ्यन्त नहीं है इस लिये "हल्ङ्या०" सूत्र नहीं लगता अर्थात् सुका लोप नहीं होता, लक्ष्मीः। शेष रूप गौरीशब्दकी समान होंगे कारण यह कि यह नित्यस्त्रीलिंग है इससे इस शब्दको नदीत्व है * ॥

लक्ष्मी शब्दके रूप—

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	लक्ष्मीः	लक्ष्म्यौ	लक्ष्म्यः
सं०	हे लक्ष्मि	हे लक्ष्म्यौ	हे लक्ष्म्यः
द्वि०	लक्ष्मीम्	लक्ष्म्यौ	लक्ष्मीः
तृ०	लक्ष्म्या	लक्ष्मीभ्याम्	लक्ष्मीभिः
च०	लक्ष्म्यै	लक्ष्मीभ्याम्	लक्ष्मीभ्यः
पं०	लक्ष्म्याः	लक्ष्मीभ्याम्	लक्ष्मीभ्यः
ष०	लक्ष्म्याः	लक्ष्म्योः	लक्ष्मीणाम्
स०	लक्ष्म्याम्	लक्ष्म्योः	लक्ष्मीषु.

ऐसे ही तरी, तन्त्री इत्यादि शब्दोंके रूप जानो अर्थात् प्रथमामें सुलोप नहीं, "अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः (उणा० ३।१५८)" इससे अवी (रजस्वला), तरी (नौका), स्तरी (धूम), तन्त्री (वीणा आदिका सूत्र) यह ईप्रत्ययान्त शब्द बनेहैं, इस लिये ङ्यन्त नहीं हैं ॥

स्त्री शब्द—

'स्त्यायतेर्ड्रट्' (उणा० ४।१६५) इससे 'स्त्यै' धातुसे ड्रट् (र) प्रत्यय हुआ, उसमें ड् इत् है इस लिये 'टि' का लोप, तो 'ऐ' उड गया और "लोपो व्योर्वलि ६।१।६६/८७३" इससे यकारका लोप और आगे टित्वके कारण "टिड्ढाणञ्० ४।१।१५/४७०" इससे ङीप् (ई) यह स्त्रीप्रत्यय होकर 'स्त्री' शब्द बनाहै इसलिये ङ्यन्तत्वके कारण सुका लोप हुआ, 'स्त्री' नित्य स्त्रीलिङ्ग है इस लिये नदीत्व, हे स्त्रि। आगे—

३०१ स्त्रियाः। ६।४।७९॥

स्त्रीशब्दस्येयङ् स्यादजादौ प्रत्यये परे। स्त्रियौ। स्त्रियः॥

३०१—अजादिप्रत्यय परे रहते 'स्त्री' शब्दको इयङ् (इय्) आदेश होताहै। ("अचि श्नुधातु० ६।४।७७/२७१" इससे अच्की अनुवृत्ति आतीहै और उसका प्रत्ययके साथ

---

* द्वि शब्दको विभक्ति निमित्त मानकर त्यदाद्यत्व हुआ, तब 'द्व' ऐसा हुआ, अब इससे ४५४ टाप् न होना चाहिये कारण कि सन्निपातपरिभाषासे विरोध आताहै सो यहां नहीं कह सकते क्योंकि "न यासयोः ४६४" इस निर्देशसे सन्निपातपरि० अनित्य है, नहीं तो 'यद्' 'तद्' शब्दका 'या' 'सा' ये रूप हैं सो नहीं हो सकेंगे कारण कि विभक्ति निमित्त मानकर त्यदाद्यत्व होनेपर उस सन्निपातका विघातक टाप् यहां पर भी नहीं होगा ॥

* शसमें पुंस्त्वाभाव होनेके कारण "तस्माच्छसो नः पुंसि ६।१।१०३/१९६" यह सूत्र नहीं लगता इससे नकार नहीं हुआ ॥

१ लक्ष धातु चुरादिगणपठित है यदि चौरादिक णिच्प्रत्यय करके ई प्रत्यय और मुट् भयाहै तो णिलोप ठीक है यदि चौरादिक णिच्प्रत्यय पाक्षिक है तो णिलोप करनेका प्रयोजन नहीं यह शब्द सम्पत्ति शोभा विष्णुस्त्री इतने अर्थको कहताहै ॥

* कोई ऐसा भी कहतेहैं कि 'लक्ष्मी' शब्दसे (कृदिकाराद-क्तिनः) क्तिन्प्रत्ययभिन्न कृदिकारान्तसे ङीष् प्रत्यय होताहै, इस ४।१।४५/५०३ सूत्रपरके वार्तिकसे ङीष् (ई) प्रत्यय होनेसे यह ङ्यन्त भी है तो पक्षमें 'सु' का लोप होगा और द्विरूपकोषमें दोनों रूप मिलते भी हैं 'लक्ष्मीर्लक्ष्मी हरिप्रिया'' ॥

विशेषण होनेसे 'यस्मिन्विधिस्तदा०' इस परिभाषासे अजादि ऐसा अर्थ होताहै, इस लिये स्त्रियौ । स्त्रियः ॥

३०२ वाम्शसोः । ६ । ४ । ८० ॥

अमि शसि च स्त्रिया इयङ् वा स्यात् । स्त्रियम् । स्त्रीम् । स्त्रियौ । स्त्रियः । स्त्रीः । स्त्रिया । स्त्रियै । स्त्रियाः २ । स्त्रियोः । परत्वान्नुट् । स्त्रीणाम् । स्त्रियाम् । स्त्रियोः । स्त्रीषु । स्त्रियमतिक्रान्तः अतिस्त्रिः । अतिस्त्रियौ ।

गुणनाभावौत्वनुड्भिः परत्वात्पुंसि बाध्यते ।
क्लीबे नुमा च स्त्रीशब्दस्येयङित्यवधार्यताम् ॥

जसि च । अतिस्त्रयः । हे अतिस्त्रे । हे अतिस्त्रियौ । हे अतिस्त्रियः । वाम्शसोः । अतिस्त्रियम् । अतिस्त्रिम् । अतिस्त्रियौ । अतिस्त्रियः । अतिस्त्रीन् । अतिस्त्रिणा । घेर्ङिति । अतिस्त्रये । अतिस्त्रेः २ । अतिस्त्रियोः २ । अतिस्त्रीणाम् । अच्च घेः । अतिस्त्रौ ।

ओस्यौकारे च नित्यं स्यादम्शसोस्तु विभाषया ।
इयादेशोऽचि नान्यत्र स्त्रियाः पुंस्युपसर्जने ॥

क्लीबे तु नुम् । अतिस्त्रि । अतिस्त्रिणी । अतिस्त्रीणि । अतिस्त्रिणा । अतिस्त्रिणे । ङेप्रभृताबजादौ वक्ष्यमाणपुंवद्भावात्पक्षे प्राग्वद्रूपम् । अतिस्त्रये । अतिस्त्रिणः २ । अतिस्त्रेः २ । अतिस्त्रिणोः २ । अतिस्त्रियोरित्यादि । स्त्रियां तु प्रायेण पुंवत् । शसि । अतिस्त्रीः । अतिस्त्रिया । ङिति ह्रस्वश्चेति ह्रस्वान्तत्वप्रयुक्तो विकल्पः । अस्त्रीति तु इयङुवङ्स्थानावित्यस्यैव पर्युदासस्तत्संबद्धस्यैवानुवृत्तेर्दीर्घस्यायं निषेधो न तु ह्रस्वस्य । अतिस्त्रियै । अतिस्त्रये । अतिस्त्रियः । अतिस्त्रीणाम् । अतिस्त्रियाम् । अतिस्त्रौ ॥ श्रीः । श्रियौ । श्रियः ॥

३०२-आगे अम् वा शस् प्रत्यय परे होते 'स्त्री' शब्दको विकल्प करके इयङ् आदेश होताहै, अर्थात् अन्य पक्षमें "अमि पूर्वः" और "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" यह होतेहैं स्त्रियम्, स्त्रीम् । स्त्री+औ=स्त्रियौ । स्त्री+शस्=स्त्रियः, स्त्रीः ।

यहां "नेयङुवङ्स्थानावस्त्री $\frac{१।४।४}{३०३}$" यह सूत्र ध्यानमें रखना चाहिये, अर्थात् "यू स्त्र्याख्यौ नदी $\frac{१।४।३}{२६६}$" इससे स्त्री शब्दको नदीत्व आता तो है, पर जिनके स्थानमें इयङ् उवङ् आदेश होतेहैं वे शब्द नदीसंज्ञक नहीं हैं, क्योंकि "नेयङुवङ्०" यह अगला निषेध सूत्र है, उसमें भी 'अस्त्री' ऐसा पढा है इसलिये स्त्री शब्दको इयङ् होते भी निषेध न होकर नदी संज्ञा होतीहै यह सिद्ध हुआ ।

स्त्री+टा=स्त्रिया । स्त्री+ङे=स्त्रियै । ङसि और ङस्में स्त्रियाः+ओस्=स्त्रियोः । आम् प्रत्ययमें स्त्री शब्दको इयङ् $\frac{६।४।७९}{३०१}$ होना चाहिये परन्तु "ह्रस्वनद्यापो नुट् $\frac{७।१।५४}{२०८}$" यह परसूत्र है, इससे परत्व होनेके कारण नुट् होताहै, इयङ् नहीं होता, स्त्री+आम्=स्त्रीणाम् । ङि प्रत्ययमें इयङ् । स्त्रियाम् । स्त्रियोः । स्त्रीषु ।

स्त्री शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	स्त्री	स्त्रियौ	स्त्रियः
सं०	हे स्त्रि	हे स्त्रियौ	हे स्त्रियः
द्वि०	स्त्रियम्, स्त्रीम्	स्त्रियौ	स्त्रियः, स्त्रीः
तृ०	स्त्रिया	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभिः
च०	स्त्रियै	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः
पं०	स्त्रियाः	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः
ष०	स्त्रियाः	स्त्रियोः	स्त्रीणाम्
स०	स्त्रियाम्	स्त्रियोः	स्त्रीषु.

'अतिस्त्रि' यह पुँल्लिङ्ग ह्रस्वान्त शब्द है ("गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य $\frac{१।२।४८}{६५६}$" इससे उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्त शब्दको ह्रस्व होताहै) इस कारण ङित्में विकल्पसे घिसंज्ञा होगी, स्त्रीमतिक्रान्तः (स्त्रीको अतिक्रमण करगया सो) 'अतिस्त्रिः' एकदेशके विकारवाला वैसाही होताहै अन्य नहीं होता, इस कारण 'औ' में "स्त्रियाः $\frac{६।४।७९}{३०१}$" इससे इयङ्, अतिस्त्रि+औ=अतिस्त्रियौ ।

(गुणनाभावौ०) स्त्रीशब्द जब पुँल्लिङ्गमें होताहै तब "स्त्रियाः" इससे होनेवाले इयङादेशसे "जसि च $\frac{७।३।१०९}{२४१}$" इससे जस् प्रत्ययमें और "घेर्ङिति $\frac{७।३।१११}{२४५}$" इससे ङित् प्रत्ययमें होनेवाला गुण पर है, वैसेही "आङो नास्त्रियाम् $\frac{७।३।१२०}{२४४}$" इससे टा के स्थानमें होनेवाला 'ना' और "अच्च घेः $\frac{७।३।११९}{२४७}$" इससे सप्तमीके एकवचनमें होनेवाला औत्व, "ह्रस्वनद्यापो नुट् $\frac{७।१।५४}{२०८}$" इससे आम् प्रत्ययमें होनेवाला नुट् यह कार्य पर हैं, इस लिये इयङ्का बाध करके यही कार्य होतेहैं और इसी प्रकारसे नपुंसकमें "इकोचि विभक्तौ $\frac{७।१।७३}{३२०}$" इससे होनेवाला नुम् परत्वके कारण 'इयङ्' का बाध करताहै ऐसा निश्चय जानो, "जसि च" इससे गुण होकर अतिस्त्रयः । सम्बुद्धिसमयमें "ह्रस्वस्य गुणः" तो है ही तब हे अतिस्त्रे । आगे अतिस्त्रियौ । अतिस्त्रयः । अम् प्रत्ययमें "वाम्शसोः $\frac{६।४।८०}{३०२}$" इससे विकल्प हुआ तब अतिस्त्रि+अम्=अतिस्त्रियम्, अतिस्त्रिम् । अतिस्त्रियौ । अतिस्त्रियः, अतिस्त्रीन् । अतिस्त्रि+टा=इसके स्थानमें 'ना' अतिस्त्रिणा "घेर्ङिति" इससे गुण, अतिस्त्रि+ङे=अतिस्त्रये । अतिस्त्रि+ङस्=अतिस्त्रेः । इयङ्, अतिस्त्रियोः । अतिस्त्रियोः । नुट् । अतिस्त्रीणाम् । "अच्च घेः" इससे औत्व, अतिस्त्रौ ॥

(ओस्यौकारे च०) स्त्रीशब्द उपसर्जनत्वको प्राप्त होकर पुँल्लिङ्ग हुआ हो तो ओस् और 'औ' ये प्रत्यय आगे होते 'स्त्री' शब्दको "स्त्रियाः" इस सूत्रसे इयङ् आदेश नित्य होताहै और अम्, शस् यह प्रत्यय आगे रहते विकल्प करके इयङ् होताहै अन्यत्र इयङ् नहीं कारण कि, अन्य अजादि विभक्तियोंमें परत्वके कारण गुण, नाभाव इत्यादिसे इयङ्का बाध होजाताहै ।

पुँल्लिङ्ग अतिस्त्रि शब्दका रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु
प्र०	अतिस्त्रिः	अतिस्त्रियौ	अतिस्त्रयः
सं०	हे अतिस्त्रे	हे अतिस्त्रियौ	हे अतिस्त्रयः
द्वि०	अतिस्त्रियम्, अतिस्त्रिम्	अतिस्त्रियौ	अतिस्त्रियः, अतिस्त्रीन्
तृ०	अतिस्त्रिणा ।	अतिस्त्रिभ्याम्	अतिस्त्रिभिः
च०	अतिस्त्रये	अतिस्त्रिभ्याम्	अतिस्त्रिभ्यः
पं०	अतिस्त्रेः	अतिस्त्रिभ्याम्	अतिस्त्रिभ्यः
ष०	अतिस्त्रेः	अतिस्त्रियोः	अतिस्त्रीणाम्
स०	अतिस्त्रौ	अतिस्त्रियोः	अतिस्त्रिषु.

नपुंसक अतिस्त्रि शब्द–

(क्लीबे तु नुम्) कारिकामें कहे अनुसार नपुंसक लिंगमें " इकोचि विभक्तौ " इससे नुम् होताहै इयङ् नहीं 'स्वमोर्लुक्' अतिस्त्रि । अतिस्त्रि+औ=अतिस्त्रिणी । अतिस्त्रि+जस्= अतिस्त्रीणि।सम्बुद्धिकालमें सु का लोप,पक्षमें"न लुमता०"इसको अनित्यत्व है,इस कारण गुण,हे अतिस्त्रे,हे अतिस्त्रि।परत्वके कारण 'ना'अतिस्त्रिणा।ङेप्रभृति अजादि प्रत्यय परे रहते आगे ७।१।७४ / ३२१ में कहे हुए भाषितपुंस्कके अनुसार पुंवद्भावके कारण अन्यपक्षमें पूर्ववत् रूप होंगे अतिस्त्रि+ङे=अतिस्त्रये, अतिस्त्रिणे । अतिस्त्रि+ङसि–अतिस्त्रेः, अतिस्त्रिणः । अतिस्त्रि+ङस्– अतिस्त्रेः, अतिस्त्रिणः । अतिस्त्रि+ओस्–अतिस्त्रियोः, अतिस्त्रिणोः–इत्यादि । आम् प्रत्ययमें 'अतिस्त्रीणाम्' एक ही रूप होताहै कारण कि, पुंवद्भावमें तो नुट् होताही है, परन्तु नपुंसकलिङ्गमें भी परत्वके कारण 'इकोचि' इससे प्राप्त नुम्को बाधकर 'नुमचिर०' इस वार्तिकके अनुसार पूर्वविप्रतिषेधसे नुट् ही होताहै ।

नपुंसकलिंग अतिस्त्रि शब्दके रूप–

वि०	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	अतिस्त्रि	अतिस्त्रिणी	अतिस्त्रीणि
सं०	हे अतिस्त्रे,अतिस्त्रि	हे अतिस्त्रिणी	हे अतिस्त्रीणि
द्वि०	अतिस्त्रि	अतिस्त्रिणी	अतिस्त्रीणि
तृ०	अतिस्त्रिणा	अतिस्त्रिभ्याम्	अतिस्त्रिभिः
च०	अतिस्त्रये,अतिस्त्रिणे	अतिस्त्रिभ्याम्	अतिस्त्रिभ्यः
पं०	अतिस्त्रेः,अतिस्त्रिणः	अतिस्त्रिभ्याम्	अतिस्त्रिभ्यः
ष०	अतिस्त्रेः,अतिस्त्रिणः	अतिस्त्रियोः, अतिस्त्रिणोः	अतिस्त्रीणाम्
स०	अतिस्त्रौ,अतिस्त्रिणि	अतिस्त्रियोः, अतिस्त्रिणोः	अतिस्त्रिषु.

स्त्रीलिङ्ग अतिस्त्रिशब्द प्रायः पुँल्लिङ्गके समान है, भेद इतना ही है कि, शस्में नकार नहीं होता, इस कारण पाक्षिक रूप 'अतिस्त्रीः' । इसी प्रकार टा में ' ना ' न होनेसे अतिस्त्रिया । यह इकारान्त स्त्रीलिङ्गशब्द है, इस कारण " ङिति ह्रस्वश्च १।४।६ / २९६ " इससे उसकी ङित्प्रत्ययमें विकल्प करके नदीसंज्ञा होतीहै, (अस्त्री०) यदि यह कहो कि " ङिति ह्र० " इसमें ' अस्त्री ' आताहै तो यहां पर भी निषेध होगा, सो नहीं कहसकते क्योंकि "नेयङुवङ्स्थानावस्त्री १।४।६ / ३०३ " इसमें ' अस्त्री ' (स्त्रीशब्दभिन्न) यह तो ' इयङुवङ्स्थानौ ' अर्थात् दीर्घ ईकारान्त, ऊकारान्त इनहीं का निषेध है, काहे कि आगे " ङिति ह्रस्वश्च १।४।६ / २९६ " इसमें भी ' इयङुवङ्स्थानौ (ई ऊ) अस्त्री ' ऐसी ही अनुवृत्ति है इससे ' अस्त्री ' यह निषेध केवल दीर्घ ही के लिये है, ह्रस्वके निमित्त नहीं, इससे केवल " ङिति ह्रस्वश्च " इससे इतर ह्रस्व इकारान्त शब्दोंके अनुसार इसकी ङित्प्रत्ययमात्रमें विकल्प करके नदीसंज्ञा होतीहै, अतिस्त्रि+ङे=अतिस्त्रियै, अतिस्त्रये । अतिस्त्रि+ङसि=अतिस्त्रियाः, अतिस्त्रेः । अतिस्त्रि+ङस्=अतिस्त्रियाः, अतिस्त्रेः । अतिस्त्रि+आम्= अतिस्त्रीणाम् । अतिस्त्रि+ङि=अतिस्त्रियाम्, अतिस्त्रौ ।

स्त्रीलिंग अतिस्त्रि शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अतिस्त्रिः	अतिस्त्रियौ	अतिस्त्रयः
सं०	हे अतिस्त्रे	हे अतिस्त्रियौ	हे अतिस्त्रयः
द्वि०	अतिस्त्रियम्, अतिस्त्रिम्	अतिस्त्रियौ	अतिस्त्रियः, अतिस्त्रीः
तृ०	अतिस्त्रिया	अतिस्त्रिभ्याम्	अतिस्त्रिभिः
च०	अतिस्त्रियै, अतिस्त्रये	अतिस्त्रिभ्याम्	अतिस्त्रिभ्यः
पं०	अतिस्त्रियाः, अतिस्त्रेः	अतिस्त्रिभ्याम्	अतिस्त्रिभ्यः
ष०	अतिस्त्रियाः, अतिस्त्रेः	अतिस्त्रियोः	अतिस्त्रीणाम्
स०	अतिस्त्रियाम्, अतिस्त्रौ	अतिस्त्रियोः	अतिस्त्रिषु.

श्री (सम्पत्ति) शब्द–

'श्रिञ् (श्रि) सेवायाम्' इससे "अन्येभ्योऽपि दृश्यते ३।२।१७९ / ३१५८ " इस सूत्रसे 'क्विप्' प्रत्यय होकर "क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसंप्रसारणं च"* इस वार्तिकसे दीर्घ,श्रीः । क्विबन्तत्वके कारण'श्री'को धातुत्व है इस कारण "अचि श्नुधातुभ्रुवां० ६।४।७७ / २७१ " इससे अजादि प्रत्ययमें इयङ्, श्रियौ । श्रियः ॥

३०३ नेयङुवङ्स्थानावस्त्री ।१।४।४ ॥

इयङुवङोः स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तो न तु स्त्री । हे श्रीः । श्रियै । श्रिये । श्रियाः । श्रियः ॥

३०३–जिन ईकारान्त, ऊकारान्त शब्दोंकी इयङ् उवङ्में स्थिति प्राप्त होतीहै, वे शब्द नदीसंज्ञक नहीं होते तथापि स्त्रीमात्र शब्दको इयङ् आदेश होते भी यह निषेध नहीं है उसकी नदी संज्ञा है । इससे श्री शब्दको नदी संज्ञा नहीं, हे श्रीः । "ङिति ह्रस्वश्च १।४।६ / २९६ " इससे ङित्प्रत्ययमें 'इयङ्स्थान' भी 'श्री' शब्दको विकल्पसे नदीत्व, श्री+ङे=श्रियै, श्रिये । श्री+ङस्=श्रियाः, श्रियः । आम् प्रत्ययमें–

३०४ वामि । १ । ४ । ५ ॥

इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा ।

---

१ जैसे "यूस्त्र्या० १ । ४ । ३३"से प्राप्त नदी संज्ञाका प्रस्तुत सूत्रसे निषेध होताहै वैसे "ङिति ह्रस्वश्च १ । ४ । ६" इससे प्राप्त नदीसंज्ञाका भी निषेध होना चाहिये ऐसा कोई कहै तो सो नहीं हो सकता क्यों तो 'मध्येऽपवादाः०' (प०) से पूर्वविधिः जो "यूस्त्र्या० १।४।३" इसीका प्रस्तुत सूत्र निषेधकरता है. "ङिति ह्रस्वश्च १ । ४ । ६" इसका नही करता है ॥

२ सि० ३०२ की टिप्पणी देखो ॥

नदीसंज्ञौ स्तो न तु स्त्री । श्रीणाम् । श्रियाम् । श्रियाम् । श्रियि । प्रधीशब्दस्य तु वृत्तिकारादीनां मते लक्ष्मीवद्रूपम् । पदान्तरं विनापि स्त्रियां वर्तमानत्वं नित्यस्त्रीत्वमिति स्वीकारात् । लिङ्गान्तरानभिधायकत्वं तदिति कैयटमते तु पुंवद्रूपम् । प्रकृष्टा धीरिति विग्रहे तु लक्ष्मीवत् । अमि शसि च प्रध्यं प्रध्य इति विशेषः । सुष्ठु धीर्यस्याः, सुष्ठु ध्यायति वेति विग्रहे तु वृत्तिमते सुधीः श्रीवत् । मतान्तरे पुंवत् । सुष्ठु धीरिति विग्रहे तु श्रीवदेव ॥ ग्रामणीः पुंवत् । ग्रामनयनस्योत्सर्गतः पुंधर्मतया पदान्तरं विना स्त्रियामप्रवृत्तेः । एवं खलपवनादेरपि पुंधर्मत्वमौत्सर्गिकं बोध्यम् ॥ धेनुर्मतिवत् ॥

३०४–जिनको इयङ्, उवङ्की प्राप्ति है ऐसे स्त्रीलिङ्ग दीर्घ ईकारान्त, ऊकारान्त शब्दकी आम् परे रहते विकल्प करके नदी संज्ञा हो, स्त्री शब्दकी विकल्प करके न हो, यह नित्य नदीसंज्ञक है। आम् प्रत्ययमें जब श्री शब्द नदीसंज्ञक होताहै, तब "ह्रस्वनद्यापो नुट् $\frac{७।१।५४}{२०८}$" इससे नुट् होकर श्रीणाम् । जब नदीसंज्ञक नहीं, तब श्रियाम् । श्री + ङि= श्रियि । पक्षमें ङित्त्वके कारण विकल्पसे नदीसंज्ञा होकर "ङेराम्नद्याम्नीभ्यः $\frac{७।३।११६}{२७०}$" से ङिके स्थानमें आम्, श्रियाम् ।

श्रीशब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	श्रीः	श्रियौ	श्रियः
सं०	हे श्रीः	हे श्रियौ	हे श्रियः
द्वि०	श्रियम्	श्रियौ	श्रियः
तृ०	श्रिया	श्रीभ्याम्	श्रीभिः
च०	श्रियै, श्रिये	श्रीभ्याम्	श्रीभ्यः
पं०	श्रियाः,श्रियः	श्रीभ्याम्	श्रीभ्यः
ष०	श्रियाः, श्रियः	श्रियोः	श्रीणाम्,श्रियाम्
स०	श्रियाम्, श्रियि	श्रियोः	श्रीषु.

प्रधी शब्द–

'प्रकृष्टं ध्यायति' अतिशय करके ध्यान करतीहै यह शब्द (२७२ सि०) क्विबन्त ही है।

(प्रधीशब्दस्येति) वृत्तिकारादिकोंके मतमें स्त्रीलिंग 'प्रधी' शब्दके रूप 'लक्ष्मी' शब्दकी समान होतेहैं। कारण कि विशेषणके विना भी जिसके स्त्रीलिंगमें प्रयोग करते बनताहै वही शब्द अन्यत्र पुंल्लिंग भी हो तो उसको यहां नित्यस्त्रीत्व है, ऐसा कह सकतेहैं, यह उनका मत है, इससे उनके मतके अनुसार स्त्रीलिंग 'प्रधी' शब्दकी नदी संज्ञा हुई, इससे उनके रूप 'लक्ष्मी' शब्दके समान होंगे, धातुत्वके कारण केवल अम्, शस् प्रत्ययमें भेद है नदीसंज्ञक प्रधी शब्दके रूप पीछे (२७२ में) दिये हुए हैं।

(लिंगान्तरा०) जो दूसरे लिंगका अभिधान करनेवाला न हो, वह नित्यस्त्रीत्व है ऐसे कैयटके मतमें दूसरे लिंगके भी अभिधान करनेसे 'प्रधी' शब्दको नदीत्व नहीं अर्थात् 'प्रकृष्टं ध्यायति या' इस विग्रहमें अनदी 'प्रधी' शब्दके पुँल्लिंग शब्द की समान रूप होंगे।

(प्रकृष्टा धीरिति) पहले 'ध्यै चिन्तायाम्' इस धातुसे परे "अन्येभ्योऽपि दृश्यते $\frac{३।२।१७८}{३१५८}$" इससे क्विप् और "ध्यायतेः सम्प्रसारणञ्च (३१५८ वा०)" * इस वार्तिकसे सम्प्रसारण होकर 'धी' यह क्विबन्त शब्द बना है, फिर प्रकृष्टा (बहुतसूक्ष्म) धीः (बुद्धि) ऐसा विग्रह होते 'प्रधी' ऐसा जो शब्द होताहै, उसको निर्विवादके कारण नित्यस्त्रीत्व होनेसे दोनों मतोंके अनुसार नदीत्व है इस कारण उसके रूप लक्ष्मी शब्दके समान होंगे, तथापि अजादि प्रत्ययोंमें समान्यतः संधिके कारण जो यण् होताहै, उसके स्थानमें वहां धातुत्व होनेके कारण "एरनेकाचः० $\frac{६।४।८२}{२७२}$" इस सूत्रसे यण् होताहै, इससे अम्, शस् प्रत्ययकालमें भी पूर्वरूप अथवा पूर्व सवर्ण दीर्घ न होनेसे यण् होकर प्रध्यम् । प्रध्यः । ऐसे लक्ष्मीशब्दके रूपसे पृथक् रूप होतेहैं * ॥

शंका–पीछे सि० २७२ में 'दुर्धियो वृश्चिकभिया' इन प्रयोगोंमें यण् नहीं इयङ् सिद्ध किया है, ऐसा यहां क्यों नहीं, यहां यण् क्यों ? समाधान–दोनों स्थानोंमें यण् होना ही योग्य है इससे 'सुधी' शब्दमें जो इयङ् होताहै वह दिखानेके लिये "न भूसुधियोः $\frac{६।४।८५}{२७३}$" ऐसा एक स्वतन्त्र सूत्र बनाकर उस यणका निषेध स्पष्ट कर दियाहै तथापि 'दुर्धियो, वृश्चिकभिया' ऐसा प्रामाणिक प्रयोग है और युक्तिसे भी उसे सिद्ध करके दिखा सकतेहैं इस लिये वह ग्रहण कियागया इतनी ही बात है और वैसे ही इयङ्युक्त प्रयोग और भी कहीं आवे तो उसकी भी सिद्धि वैसे ही कर लेनी चाहिये ऐसा है तो भी विना किसी विवादके सूत्रसे सिद्ध होनेवाले रूपोंको ऐसी बातोंसे बाध आताहै ऐसा कदापि न समझो वैसे ही 'प्रकृष्टा धीः' इत्यादिविग्रहमें 'प्र' को गतित्व है ॥

केवल 'धी' शब्द ऊपर दिखाये समान क्विबन्त है यह एक ही शब्द होनेके कारण "एरनेकाच०" यह सूत्र नहीं लगता, "आचि श्नुधातु०" इससे इयङ् होताहै इस कारण "नेयङुवङ्स्थानावस्त्री $\frac{१।४।४}{३०३}$" इससे नदीसंज्ञाका निषेध प्राप्त हुआ तथापि "ङिति ह्रस्वश्च $\frac{१।४।६}{२९६}$" इससे ङित्प्रत्ययमें और "वामि $\frac{१।४।५}{३०४}$" इससे आम् प्रत्ययमें विकल्प करके नदी संज्ञा अर्थात् सर्वथा 'श्री' शब्दकेसे रूप होंगे।

---

१ यद्यपि यह विकल्प पूर्वसूत्र (३०३) स्थित निषेधका होनेसे निषेध विकल्प करके हो, ऐसा ही अर्थ करना उचित था तथापि निषेधका विकल्प होनेसे विधि (नदीसंज्ञा) का ही विकल्प सम्पन्न होताहै, इस कारण वृत्तिमें "वा नदीसंज्ञौ" ऐसा कहाहै ॥

* 'प्रकृष्टा धीः यस्याः' ऐसा विग्रह होते वृत्तिकारादिकोंके मतसे तो नदी संज्ञा हुई है, कैयटके मतसे "प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च" इससे नदीत्व आताहै तो दोनों मतोंके अनुसार लक्ष्मीशब्दके से रूप हुए, 'प्रकृष्टा धीः यस्य' ऐसा पुँल्लिङ्ग शब्द लियाजाय तो भी उभय मतसे 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' इस वार्तिकसे नदी संज्ञा है, इस कारण यहां भी लक्ष्मीवत् है अर्थात् वृत्तिकारके मतसे होनेवाले ऊपर कहे हुए २७२में दाहिनी ओर दिये हुए रूप वे और यह एकहीहैं ॥

धी शब्दके रूप–

विभ०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	धीः	धियौ	धियः
सं०	हे धीः	हे धियौ	हे धियः
द्वि०	धियम्	धियौ	धियः
तृ०	धिया	धीभ्याम्	धीभिः
च०	धियै, धिये	धीभ्याम्	धीभ्यः
पं०	धियाः, धियः	धीभ्याम्	धीभ्यः
ष०	धियाः, धियः	धियोः	धीनाम्, धियाम्
स०	धियाम्, धियि	धियोः	धीषु.

'सुष्ठु धीः यस्याः' 'सुष्ठु ध्यायति' वा (उत्तम बुद्धि है जिस स्त्रीकी वा उत्तम प्रकारसे जो ध्यान करतीहै) ऐसा विग्रह हो तो 'सुधी' शब्दको वृत्तिकारादिके मतसे (पीछे प्रधीशब्दमें दिखायेके समान) नित्यस्त्रीत्व है, परन्तु "न भूसुधियोः $\frac{६।४।८५}{२७३}$" इससे यण्का निषेध है, इसलिये "अचि श्नुधातु०" इससे इयङ्, तो ङित् और आम् प्रत्ययमात्रमें विकल्पसे नदीसंज्ञा अर्थात् सब रूप श्री शब्दकी समान हैं।

अन्य लिङ्गमें भी यह शब्द चलताहै इसलिये उसको कैयटके मतसे नित्यस्त्रीत्व नहीं अर्थात् ङित् और आम् प्रत्ययोंमें जो नदीसंज्ञा होतीहै वह भी कैयटके मतसे नहीं, इससे पुंल्लिङ्ग सुधीशब्दके समान ही इसके रूप होंगे (सि० २७३ देखो)।

शंका–'प्रकृष्टा धीः यस्याः' ऐसा विग्रह होते (बहुव्रीहिसमासमें) "प्रथमलिंगग्रहणञ्च" * इस वार्तिकसे कैयटने भी प्रधी शब्दका नदीत्व स्वीकार किया है, वैसे यहां 'सुष्ठु धीः यस्याः' ऐसा विग्रह करनेपर धी शब्द नित्यस्त्रीलिंग है, इस कारण "प्रथमलिंग०" इस वार्तिकसे सुधी शब्दमें क्यों नहीं किया ? समाधान–यहां यद्यपि "प्रथमलिंगग्रहणञ्च" इससे नदीत्व प्राप्त है, तो भी यहां "न भूसुधियोः" इस सूत्रसे इयङ् होताहै, इसलिये "नेयङुवङ्०" इससे उस नदीत्वको बाध आताहै, इससे उभय मतसे इसको नदीत्वका निषेध है, केवल इयङ्के निमित्त ही "ङिति ह्रस्वश्च" और "वामि" इतनेके लिये ही वृत्तिकारके मतसे नदीसंज्ञा है, इस लिये यह रूप श्रीवत् हुए। कैयटके मतसे वह भी नहीं, यद्यपि "प्रथमलिंगग्रहणञ्च" इससे नदीत्वकी प्राप्ति है तथापि उस शब्दका नित्यस्त्रीत्व ग्रहण किया ऐसा नहीं कह सकते (पूर्वं स्याख्यस्य उपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यम् २६६) इतना ही उस वार्तिकका अर्थ है, उसको नित्यस्त्रीत्व है ऐसा कुछ कहा नहीं है अर्थात् नित्यस्त्रीत्वके अभावके कारण विकल्प भी नहीं।

('सुष्ठु धीः' इति विग्रहे तु श्रीवत् एव') उत्तम जो बुद्धि वह 'सुधी' ऐसा कियाजाय तो निर्विवाद नित्यस्त्रीत्व होनेके कारण दोनों मतोंमें 'श्री' शब्दके समान ही रूप जानो।

'ग्रामणीः पुंवत् ग्रामनयनस्यो०' ('ग्रामं नयति' अर्थात् गांव चलातीहै सो) यह शब्द पुंल्लिंग 'ग्रामणी' शब्दके समान अर्थात् 'उन्नी' शब्दके समान (सि० २७२) चलताहै, कारण कि, यह गांव चलानेका काम स्वभावतः पुरुषधर्म है, इसलिये अन्य शब्द अर्थात् विशेष्य लगाये विना स्त्रीलिंगमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होती, इस लिये उसको नित्यस्त्रीत्व न होनेसे दोनों मतसे पुंवत् जानना।

(एवं खलेति) इसी प्रकारसे खल अर्थात् दुष्ट, उसको शुद्ध करना यह भी स्वाभाविक पुरुषधर्म समझना चाहिये इस लिये आगे ऊकारान्त (सि० ३०६) में आनेवाला 'खलपू' शब्द पुंल्लिंगवत् जानना। उकारान्त धेनु (तुरतकी ब्याई हुई गाय) शब्द मतिशब्दकी समान, इसके कार्य २९५–२९७ तक देखो।

धेनु शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	धेनुः	धेनू	धेनवः
सं०	हे धेनो	हे धेनू	हे धेनवः
द्वि०	धेनुम्	धेनू	धेनूः
तृ०	धेन्वा	धेनुभ्याम्	धेनुभिः
च०	धेन्वै, धेनवे	धेनुभ्याम्	धेनुभ्यः
पं०	धेन्वाः, धेनोः	धेनुभ्याम्	धेनुभ्यः
ष०	धेन्वाः, धेनोः	धेन्वोः	धेनूनाम्
स०	धेन्वाम्, धेनौ	धेन्वोः	धेनुषु.

स्त्रीलिंग क्रोष्टु (सियारी) शब्द–

३०५ स्त्रियां च । ७ । १ । ९६ ॥

स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद्रूपं लभते ॥

३०५–स्त्रीलिंगमें भी 'क्रोष्टु' शब्दको तृजन्त (अर्थात् 'क्रोष्टृ') आदेश होताहै। ("तृज्वत्क्रोष्टुः $\frac{७।१।९५}{२७४}$" इस सम्पूर्ण सूत्रकी अनुवृत्ति आतीहै)

३०६ ऋन्नेभ्यो ङीप् । ४ । १ । ५ ॥

ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप् स्यात् । क्रोष्ट्री । क्रोष्ट्र्यौ । क्रोष्ट्र्यः ॥ वधूर्गौरीवत् ॥ भ्रूः श्रीवत् । हे सुभ्रूः । कथं तर्हि हापितः क्वासि हे सुभ्रु इति भट्टिः । प्रमाद एवायमिति बहवः । खलपूः पुंवत् । पुनर्भूः । दृन्करेति यणा उवङो बाधनान्नेयङुवङिति निषेधो न । हे पुनर्भु । पुनर्भ्वम् । पुनर्भ्वौ । पुनर्भ्वः ॥

३०६–ऋदन्त और नान्तशब्दके आगे स्त्रीलिंगवाचक ङीप् प्रत्यय होताहै। ('ऋत्' और 'न' इनको प्रातिपदिकका विशेषण होनेसे $\frac{१।१।७२}{२६}$ इससे तदन्तविधि होकर ऋदन्त और नान्त ऐसा अर्थ लब्ध है) क्रोष्टृ ई मिलकर क्रोष्ट्री। आगे भी सर्वत्र क्रोष्ट्र्यौ। क्रोष्ट्र्यः। नदीसंज्ञा, हे क्रोष्ट्रि आगे भी सर्वत्र गौरीशब्दके समान (सि० ३००)॥

(वधूः गौरीवत्) वधू (स्त्री) शब्द नदीत्व होनेके कारण गौरीशब्दके समान होताहै, परन्तु ङ्यन्त न होनेसे 'सु' लोप नहीं केवल इतना ही भेद है॥

वधू शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	वधूः	वध्वौ	वध्वः
सं०	हे वधु	हे वध्वौ	हे वध्वः
द्वि०	वधूम्	वध्वौ	वधूः
तृ०	वध्वा	वधूभ्याम्	वधूभिः
च०	वध्वै	वधूभ्याम्	वधूभ्यः
पं०	वध्वाः	वधूभ्याम्	वधूभ्यः
ष०	वध्वाः	वध्वोः	वधूनाम्
स०	वध्वाम्	वध्वोः	वधूषु.

(भ्रूः श्रीवत्) भ्रू (भौं) शब्द श्रीवत् "अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६।४।७७ / २७१" इससे उवङ् और ङित्प्रत्ययमें और आङ् प्रत्ययमात्रमें विकल्पसे नदीसंज्ञा अन्यत्र नहीं, इस लिये श्रीवत् कार्य (सि० ३०३-३०४) ॥

भ्रू शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	भ्रूः	भ्रुवौ	भ्रुवः
सं०	हे भ्रूः	हे भ्रुवौ	हे भ्रुवः
द्वि०	भ्रुवम्	भ्रुवौ	भ्रुवः
तृ०	भ्रुवा	भ्रूभ्याम्	भ्रूभिः
च०	भ्रुवै, भ्रुवे	भ्रूभ्याम्	भ्रूभ्यः
पं०	भ्रुवाः, भ्रुवः	भ्रूभ्याम्	भ्रूभ्यः
ष०	भ्रुवाः, भ्रुवः	भ्रुवोः	भ्रूणाम्, भ्रुवाम्
स०	भ्रुवाम्, भ्रुवि	भ्रुवोः	भ्रूषु.

सुभ्रूः (सुन्दर भौं हैं जिस स्त्रीकी) यह भी वैसे ही है सुभ्रुः (कथं तर्हीति०) तो फिर भट्टिकाव्यमें सर्ग ६ श्लो० ११ 'हा पितः हे सुभ्रु कहां हो' इस रामचन्द्रके विलापमें 'सुभ्रु' ऐसा नदीशब्दके समान सम्बुद्धिमें ह्रस्वप्रयोग क्यों किया, बहुतोंका मत है कि यह चूक है (परन्तु मेरे मतमें रामकी व्याकुलता दिखानेको कविने जान बूझकर ऐसा प्रयोग कियाहै, क्योंकि 'हा पितः क्वासि हे सुभ्रूर्बह्वेवं विललाप सः' ऐसा पाठ बदलकर दीर्घशब्द कहाजाय तो भी कोई बाध नहीं आता, इससे कविने जान बूझ कर ऐसा कहाहै, ज्वा० प्र०)*॥

'खलपू' शब्द पीछे ३०४ में कथन कियेके समान पुँल्लिङ्गवत् २८१ होगा । पुनर्भूः (फिर ब्याही हुई स्त्री) यह केवल रूढि अर्थ है, पुल्लिंग ' पुनर्भू ' की समान यौगिक नहीं है ।

(दृन्करेति०) " न भूसुधियोः ६।४।८५ / २७३ " इससे यण्का निषेध कर उवङ् प्राप्त हुआ था, परन्तु फिर "दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः" (इस २८२ के) वार्तिकके अनुसार पुनर्भू शब्दको " ओः सुपि ६।४।८३ / २८१ " इसमें कहा हुआ यण् होताहै, इससे उवङ्का बाध हुआ, इस कारण

* 'विमानने सुभ्रु पितुर्गृहे कुतः' इत्यादि कालिदासके प्रयोगकी भी अनुपपत्तिवारणके वास्ते समाधान-'नञ्घटितमनित्यम्' (नञ्घटित अनित्य होताहै) इस प्राचीनके मतका अनुसरण करके "नेयङु०" इसको अनित्य माननेसे भी नदीसंज्ञा होकर ह्रस्व होसकताहै ।

"नेयङुवङ्०" यह जो नदी संज्ञाका निषेध है वह यहां प्राप्त नहीं होता, हे पुनर्भू + सु=हे पुनर्भु । पुनर्भू + अम्= पुनर्भ्वम् । पुनर्भू + औ=पुनर्भ्वौ । पुनर्भू + जस्= पुनर्भ्वः ॥

२०७ एकाजुत्तरपदे णः । ८।४।१२ ॥

एकाऽजुत्तरपदं यस्य तस्मिन्समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य नित्यं णत्वं स्यात् । आरम्भसामर्थ्यान्नित्यत्वे सिद्धे पुनर्णग्रहणं स्पष्टार्थम् । यणं बाधित्वा परत्वान्नुट् । पुनर्भूणाम् । वर्षाभूः । भेकजातौ नित्यस्त्रीत्वाभावात् हे वर्षाभूः । कैयटमते । मतान्तरे तु हे वर्षाभु । पुनर्नवायां तु हे वर्षाभु । भेक्यां पुनर्नवायां स्त्री वर्षाभूर्दर्दुरे पुमानिति यादवः । वर्षाभ्वौ । वर्षाभ्वः ॥ स्वयंभूः पुंवत् ॥

२०७-समासका उत्तरपद जो एकाच् है, उसके पूर्व पदमें रेफ षकार अथवा ऋकार हो तो उस निमित्तसे आगे प्रातिपदिकान्त, किंवा नुम्के, अथवा विभक्तिमें रहनेवाले नकारके स्थानमें नित्य णकार होताहै । पिछली अनुवृत्तिसे होनेवाला णत्व विकल्प, "एकाजुत्तरपदे०" ऐसा नया सूत्र बनानेके कारण जाता रहकर णत्वकी नित्यता होतसन्ते फिर सूत्रमें णकारका ग्रहण स्पष्टताके निमित्त है । आम्में " ओः सुपि ६।४।८३ / २८१ " इससे " ह्रस्वनद्यापो नुट् ७।१।५४ / २०८ " यह पर है, इस कारण यण्का बाध करके 'नुट्' ही हुआ, पुनर्भू+आम्=पुनर्भूणाम् । अर्थात् सब प्रकारसे आगे लिखे वर्षाभू (पुनर्नवावाचक) शब्दके समान रूप जानने ।

वर्षाभू (मेडकी) शब्द-

वर्षासु भवति (बरसातमें होतीहै वह) वर्षाभूः । भेक (मेडक) जातिको सर्वदा स्त्रीत्व ही होताहै, ऐसी बात नहीं है, इस कारण नदीत्व न प्राप्त होनेसे 'हे वर्षाभूः' कैयटके मतसे ऐसा रूप है, पर औरोंके मत अर्थात् वृत्तिकारादिके मतसे नदीत्व है, इस कारण हे वर्षाभु । वर्षाभू शब्दका 'पुनर्नवानामक वनस्पति' ऐसा अर्थ हो तो नित्य स्त्रीत्व है, इसलिये उभयमतसे हे वर्षाभु ।

(भेक्यामिति) 'वर्षाभू' शब्दका अर्थ जब भेकी अर्थात् मेडकी, अथवा पुनर्नवानामक वनस्पति हो तो वह शब्द स्त्रीलिङ्ग और दर्दुर (मेडक) ऐसा हो तो पुँल्लिङ्ग' ऐसा यादवने अपने कोशमें लिखाहै । "वर्षाभ्वश्च ६।४।८४ / २८२ " इससे यण्, वर्षाभू+औ=वर्षाभ्वौ । वर्षाभू+जस्=वर्षाभ्वः ।

कैयटके मतसे वर्षाभू (मेडकी) शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	वर्षाभूः	वर्षाभ्वौ	वर्षाभ्वः
सं०	हे वर्षाभूः	हे वर्षाभ्वौ	हे वर्षाभ्वः
द्वि०	वर्षाभ्वम्	वर्षाभ्वौ	वर्षाभ्वः
तृ०	वर्षाभ्वा	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभिः
च०	वर्षाभ्वे	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभ्यः

पं०	वर्षाभ्वः	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभ्यः
ष०	वर्षाभ्वः	वर्षाभ्वोः	वर्षाभ्वाम्
स०	वर्षाभ्वि	वर्षाभ्वोः	वर्षाभूषु.

वृत्तिकारके मतसे वर्षाभू (मेंडकी) शब्द और उभयमतसे वर्षाभू (पुनर्नवा) शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	वर्षाभूः	वर्षाभ्वौ	वर्षाभ्वः
सं०	हे वर्षाभु	हे वर्षाभ्वौ	हे वर्षाभ्वः
द्वि०	वर्षाभ्वम्	वर्षाभ्वौ	वर्षाभ्वः
तृ०	वर्षाभ्वा	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभिः
च०	वर्षाभ्वे	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभ्यः
पं०	वर्षाभ्वाः	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभ्यः
ष०	वर्षाभ्वाः	वर्षाभ्वोः	वर्षाभूणाम्
स०	वर्षाभ्वाम्	वर्षाभ्वोः	वर्षाभूषु.

स्वयम्भू (अपने आप होनेवाली) शब्द–

इसको नित्यस्त्रीत्वका अभाव है, इससे नदीसंज्ञा नहीं है, इस कारण कैयटके मतसे पुंवत् रूप होंगे (२८१)*॥

भू (पृथ्वी) शब्दको नित्यस्त्रीत्व है, इस कारण दोनों मतोंमें भ्रू शब्दके समान है ।

ऋकारान्त स्वसृ (बहन) शब्द–

३०८ न षट्स्वस्रादिभ्यः । ४ । १ । १० ॥

षट्संज्ञकेभ्यः स्वस्रादिभ्यश्च ङीप्टापौ न स्तः ॥ स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा । याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ॥ अप्तृन्निति दीर्घः । स्वसा । स्वसारौ । स्वसारः । माता पितृवत् । शसि मातॄः । द्यौर्गोवत् । राः पुंवत् । नौर्ग्लौवत् ॥

इत्यजन्ताः स्त्रीलिंगाः ॥

३०८–षट्संज्ञक शब्द १।१।२४/३६९ और स्वस्रादि शब्दसे ङीप्, टाप् यह स्त्रीप्रत्यय नहीं होते*॥

स्वस्रादि कहतेहैं–[1]स्वसृ, तिसृ, चतसृ, ननान्दृ, दुहितृ, यातृ, मातृ, यह सात स्वस्रादि शब्द हैं ।

"अप्तृन्तृच्० ६।४।११/२७७" इससे सम्बुद्धिवर्ज सर्वनामस्थानमें उपधादीर्घ होगा । धातृ शब्दके रूप (२८२ में) दिखाये हुएके समान इसके रूप होतेहैं, स्वसृ+सु=स्वसा । स्वसृ+औ=स्वसारौ । स्वसृ+जस्=स्वसारः । पुंस्त्वके अभावसे शस् प्रत्ययमें नकार नहीं, ६।१।१०३/१९६ से दीर्घ, स्वसॄः । इतना ही भेद है ।

मातृ शब्द पितृ शब्दकी समान है, 'पितृमातृप्रभृतीनां न' ऐसा कहा हुआ होनेसे 'मातृ' शब्दमें उपधादीर्घ नहीं अर्थात् २८२ में कहे पितृवत् जानना, स्त्रीत्व होनेके कारण, शस्में 'मातॄः' बस यही भेद है ।

दुहितृ, ननान्दृ, यातृ, यह शब्द भी मातृशब्दवत् जानने ।

द्यौः (स्वर्ग) 'द्यो' यह ओकारान्त शब्द गो (२८४-२८५) शब्दकी समान । रै (सम्पत्ति) यह ऐकारान्त शब्द पुंलिङ्ग रै शब्द (२८६) के समान है ।

नौ (नाव) यह औकारान्त शब्द ग्लौ (२८६) शब्दकी समान है ॥

इति अजन्तस्त्रीलिंगप्रकरणम् ॥

अथाजन्ता नपुंसकलिंगाः ।

अकारान्त ज्ञान शब्द–

३०९ अतोम् । ७ । १ । २४ ॥

अतोऽङ्गात् क्लीबात्स्वमोरम् स्यात् । अमि पूर्वः । ज्ञानम् । एङ्ह्रस्वादिति हल्मात्रलोपः । हे ज्ञान ॥

३०९–अकारान्त नपुंसकलिंग शब्दोंके परे स्थित सु और अम्के स्थानमें अम् हो * ॥

("स्वमोर्नपुंसकात् ७।१।२३/३१९" इस संपूर्ण सूत्रकी अनुवृत्ति आतीहै) । "अमि पूर्वः ६।१।१०७/१९४" अक्के आगे अम्सम्बन्धी अच् होते दोनोंके स्थानमें मिलकर पूर्वरूप, ज्ञानम् । "एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः ६।१।६९/१९३" इससे सम्बुद्धिकालमें मकारका लोप, ज्ञान + अम् यह मूल वर्ण हैं इनमें ज्ञान यह अंग और अम् यह प्रत्यय है, तथापि "अन्तादिवच्च ६।१।८५/७५" इससे 'ज्ञानम्' इसमें भी 'ज्ञान' इतने भागको

---

* वृत्तिकारके मतसे नित्यस्त्रीत्व है, तथापि "न भूसुधियोः ६।४।८५/२७३" इससे यण्का निषेध, और "अचि श्नुधातु० ६।४।७७/२७१" इससे उवङ् होते हैं इस कारण श्री, भ्रू इत्यादि शब्दोंके समान ङित् और आम् प्रत्ययके निमित्त ही केवल विकल्पसे नदी संज्ञा होती है ॥

* यहां 'स्त्रीत्व वाच्य रहते जो प्राप्त हो सो न हो' ऐसा अर्थ करनेसे व्यवहित जो टाप् ४।१।४/४५४ उसका भी निषेध होताहै, नहीं तो 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' (विधान अथवा निषेध अव्यवहित अर्थात् व्यवधानरहितको होते हैं) इसका आश्रयण करके यह निषेध, अव्यवहित जो ङीप् ४।१।५/३०६ उसीका होगा, टाप्का नहीं होगा ॥

[1] स्वस्रादिमें तिसृ, चतसृ, इनका पाठ न करना चाहिये, यदि यह कहो कि, ङीप् होजायगा, सो ठीक नहीं, कारण कि, "न तिसृच० ३००" सूत्र व्यर्थ होजायगा अर्थात् ङीप् करनेसे दीर्घ ही मिलैगा, तो सूत्रारम्भसामर्थ्यसे ङीप् नहीं होगा ऐसा कैयटका मत है ॥

* इस सूत्रमें मकार छेद करके सु के स्थानमें म् होकर और अम् प्रत्ययमें "आदेः परस्य १ । १ । ५४" से अ के स्थानमें मकार होकर "संयोगान्तस्य लोपः ८ । २ । २३" से अन्त्य मकारका लोप होकर 'ज्ञानम्' यह रूप सिद्ध ही था फिर अम् ऐसा छेद करनेका प्रयोजन यह है कि, द्वितीयैकवचनमें 'ज्ञानम्' यहां "संयोगान्तस्य० ८ । २ । २३" से लोप नहीं होसकता है, क्यों ? तो "संयो० ८ । २ । २३" में भाष्यकारने झल्की अनुवृत्ति करके संयोगान्त झल्का लोप हो ऐसा अर्थ किया है तब यहां म् तो झल् नहीं है तो लोप नहीं होनेसे द्वितीयैकवचनमें ज्ञानम् यह सिद्ध नहीं होगा ॥

अंगत्व प्राप्त होकर आगे केवल मकार रहगया, उसका "एङ्ह्रस्वात्०" से लोप, हे ज्ञान *॥

३१० नपुंसकाच्च । ७ । १ । १९ ॥

क्लीबात्परस्यौङः शी स्यात् । भसंज्ञायाम् ।

३१०–नपुंसकलिंग शब्दोंके परे स्थित औङ् प्रत्ययके स्थानमें शी आदेश होताहै । ("जसः शी ७।१।१७/२१४," "औङ आपः ७।१।१८/२८७" इन सूत्रोंसे 'शी' और 'औङ्' इनकी अनुवृत्ति होतीहै)। नपुंसकप्रकरणमें जस्के स्थानमें होनेवाला 'शि' (इ) आदेश आगे (सि० ३१३) कहा हुआहै, केवल उसकी सर्वनामस्थानसंज्ञा है, "सुडनपुंसकस्य २२९" ऐसा कहाहै, इस कारण दूसरोंको नहीं, तो उससे "यचि भम्२२१" इसके अनुसार आगे शी (ई) होते अङ्गको भ संज्ञा हुई तब–

३११ यस्येति च । ६ । ४ । १४८ ॥

भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः स्यादीकारे तद्धिते च परे । इत्यकारलोपे प्राप्ते ॥ औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः ॥ * ॥ ज्ञाने ॥

३११–दीर्घ ईकार और तद्धित परे रहते भसंज्ञक इवर्ण उवर्ण का लोप हो । (चग्रहणसे तद्धितका अनुकर्ष है) इससे ज्ञान + ई इसमेंके अवर्णका लोप प्राप्त हुआ, परन्तु "औङ श्यां प्रतिषेधो वाच्यः * (वा० ४१८९)" औङ्के स्थानमें होनेवाली शी (ई) आगे रहते भसंज्ञकके इवर्ण, अवर्णके लोपका निषेध जानना चाहिये । ज्ञान+ई=ज्ञाने *॥

३१२ जश्शसोः शिः । ७ । १ । २० ॥

क्लीबादनयोः शिः स्यात् ॥

३१२–नपुंसक लिंगशब्दोंके आगे स्थित जस् और शस् के स्थानमें शि (इ) हो * ॥

३१३ शि सर्वनामस्थानम् ।१।१।४२॥

शि इत्येतदुक्तसंज्ञं स्यात् ॥

३१३– उस 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा हो ॥

३१४ नपुंसकस्य झलचः ।७।१।७२॥

झलन्तस्याऽजन्तस्य च क्लीबस्य नुमागमः स्यात्सर्वनामस्थाने परे। उपधादीर्घः। ज्ञानानि। पुनस्तद्वत्।शेषं रामवत् ।एवं धनवनफलादयः॥

३१४–नपुंसकलिंग झलन्त और अजन्त शब्दोंको सर्वनामस्थान परे रहते नुम्का आगम हो("इदितो नुम् धातोः ७।१।५८," "उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७।१।७०/३६१" इन सूत्रोंसे नुम् और सर्वनामस्थान इनकी अनुवृत्ति होतीहै और अंगका अधिकार होताहै, झल् अच्को नपुंसक अंगका विशेषण होनेसे "येन वि० २६" से तदन्त विधि होतीहै) ज्ञानम्+इ ऐसी स्थिति होते "सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ ६।४।८/२५०" सम्बुद्धिवर्ज सर्वनामस्थान परे रहते नान्त शब्दकी उपधाकी दीर्घ होताहै, इससे ज्ञानात्+इ मिलकर ज्ञानानि । फिर भी उसी प्रकार द्वितीया के स्थानमें अम्, शी, शि, यही आदेश होनेसे वैसे ही रूप होतेहैं । अगले सब प्रत्यय और कार्य पुँल्लिङ्ग शब्दके समान होतेहैं, । इसलिये शेष रूप राम शब्दकी समान होंगे ।

ज्ञान शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि
सं०	हे ज्ञान	हे ज्ञाने	हे ज्ञानानि
द्वि०	ज्ञानम्	ज्ञाने	हे ज्ञानानि
तृ०	ज्ञानेन	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानैः
च०	ज्ञानाय	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्यः
पं०	ज्ञानात्	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्यः
ष०	ज्ञानस्य	ज्ञानयोः	ज्ञानानाम्
स०	ज्ञाने	ज्ञानयोः	ज्ञानेषु.

इसी प्रकार धन, वन, फल आदिशब्दोंके रूप जानने चाहिये ॥

डतरप्रत्ययान्त कतर (कौनसा) शब्द–

३१५ अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः । ७ । १ । २५ ॥

एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्डादेशः स्यात् ॥

३१५–डतर–डतम–प्रत्ययान्त, अन्य, अन्यतर, इतर, यह जो डतरादि शब्द नपुंसक हों तो उनसे परे स्थित सु और अम् विभक्तिके स्थानमें अद्ड (अद्) आदेश होताहै । कतर अद् ऐसी स्थिति हुई, परन्तु–

३१६ टेः । ६ । ४ । १४३ ॥

डिति परे भस्य टेर्लोपः स्यात् । वावसाने । कतरत् । कतरद् । कतरे । कतराणि । भस्येति किम् । पञ्चमः । टेर्लुप्तत्वात्प्रथमयोरिति पूर्वसवर्णदीर्घ एङ्ह्रस्वादिति संबुद्धिलोपश्च न भवति। हे कतरत् । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । कतमत् । अन्यत् । अन्यतरत् । इतरत् । अन्यतमशब्दस्य तु अन्यतममित्येव ॥ एकतरात्प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥ * ॥ एकतरम् । सोरमादेशे कृते संनिपातपरिभाषया न जरस् । अजरम् । अजरसी । अजरे । परत्वाज्जरसि कृते झलन्तत्वान्नुम् ॥

३१६–डकार है इत्संज्ञक जिसका ऐसा प्रत्यय परे रहते भसंज्ञककी 'टि'का लोप होताहै, "ति विंशतेर्डिति ६।४।१४२"

---

* अम्को फिर अम् विधान करनेका फल यह है कि अम्का लुक् न हो ॥

* यहां "विभाषा ङिश्योः ६ । ४ । १३६" इससे 'शी' इस एक देशकी अनुवृत्ति होगी और "न संयोगाद्व० ६।४।१३७" से न की अनुवृत्ति होगी तब सूत्रका अर्थ–ईकार तथा तद्धित परे रहते इकार अकारका लोप होगा शीकी परतासे नहीं होगा ऐसा होगा तो द्विवचनमें लोप नहीं होगा इस कारण "औङः श्यां०" वार्तिक नहीं करना ॥

* यहां जसके साहचर्य्यसे शस् भी सुप् ही लिया गया, इससे 'कुण्डशो ददाति' यहां नहीं भया, कुण्ड शब्दसे तद्धित शस् प्रत्यय होकर कुण्डशः यह बना है ॥

से डित्की अनुवृत्ति और "भस्य" इसका अधिकार
होताहै) । "वाऽवसाने ८।४।५६/२०६" इससे विकल्प करके
चर्, कतरत्, कतरद् । कतरे । कतराणि ।

(भस्येति) भसंज्ञककी टिका लोप हो ऐसा क्यों कहा? तो
'पंचमः' इसमें 'पंचन्' शब्दके आगे "तस्य पूरणे डट् ५।२।४८/१८४९"
इससे पूरणार्थ डट्(अ) प्रत्यय हुआ, उस डट्को "नान्तादसं-
ख्यादेर्मट् ५।२।४९/१८५०" इससे मट् (म) का आगम हुआहै तब
पंचन्+म ऐसी स्थिति हुई, 'म' इस प्रत्ययको यादि वा
अजादि न होनेसे "यचि भम् १।४।१८/२३१" यह सूत्र नहीं
लगता तो 'पंचन्' को भ संज्ञा न हुई, इसलिये प्रत्यय डित्
है तो भी 'पंचन्' की टि अर्थात् अन्का लोप न होते "न
लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७/२३६" इससे केवल नका-
रका लोप होकर 'पंचमः' (पाँचवाँ) ऐसा शब्द सिद्ध
होताहै ।

(टेर्लुप्तत्वादिति) 'अद्ड्' में डित् क्यों किया? तो
सम्बुद्धिमें 'टि' का लोप होनेसे अदन्तत्व मिट गया तब
कतर्+अद् ऐसी स्थिति हुई, इसलिये "प्रथमयोः पूर्वस-
वर्णः ६।१।१०२/१६४" और "एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः ६।१।६९/१९३"
इन दोनों सूत्रोंके कार्य नहीं हुए । हे कतरत् । फिर द्विती-
यामें पूर्ववत् कतरत् (द्) कतरे । कतराणि । कतरशब्दके
तृतीयादिमें रूप पुंवत् । कतरेण । कतराभ्याम् इत्यादि सर्व-
शब्दके समान ।

इसी प्रकार डतमप्रत्ययान्त 'कतम' शब्दके रूप कत-
मत् । कतमे । कतमानि इत्यादि । ऐसे ही यतर, यतम,
ततर, ततम, एकतम इनके भी रूप यतरत् । यतमत् ।
ततरत् । ततमत् इत्यादि जानने चाहिये ।

डतरादिशब्दोंमेंके बचे हुए इतर, अन्य, अन्यतर इनके
भी रूप इसी प्रकारसे होंगे, इतरत् । इतरे । इतराणि ।
अन्यत् । अन्ये । अन्यानि । अन्यतरत् । अन्यतरे । अन्य-
तराणि । परन्तु 'अन्यतम' शब्दका रूप 'अन्यतमम्' ऐसाही
रहेगा, कारण कि, यह 'डतम' प्रत्ययान्त न रहनेसे
(२१३ से) इसको सर्वनामत्व नहीं है और 'अद्ड्'
आदेश भी नहीं अर्थात् इतर रूप भी ज्ञान शब्दके
समान होंगे ।

(एकतरादिति) डतरादिमें आनेवाला जो एकतर शब्द
५।३।९४/२०४९ उसको सर्वनामत्व है तो भी उसमें 'अद्ड्'
आदेशका निषेध है, इस कारण एकतरम् तृतीयादिरूप
सर्वशब्दके समान हैं ।

अजर-(जिसको जरा नहीं)

अकारान्त 'अजर' शब्दके आगे 'सु' प्रत्ययके स्था-
नमें "अतोऽम् ७।१।२४/३०९" इससे अम् आदेश होकर अज-
र+अम्-ऐसी जो स्थिति हुई, उसमें 'अजर' यह अका-
रान्त शब्द उपजीव्य है और उसके निमित्तसे आयाहुआ
सुस्थानका अम् यह उपजीवी है, इस कारण अम् इसके
निमित्तसे फिर "जराया जरसन्यतरस्याम् ७।२।१०१/२२७" यह
सूत्र लगाकर 'जरस्' आदेश कियाजाय तो उपजीव्य-
विरोध अर्थात् अकारान्तत्वका नाश होनेसे सन्निपातपरिभाषा
२०४ का विषय आताहै, इस कारण जरस् आदेश नहीं,
अजरम् । आगे विकल्पसे जरसादेश, अजरसौ, अजरे ।
फिर बहुवचनमें अजर+शि-इसमें दो कार्य प्राप्त हुए, परन्तु
जरस् आदेशका सूत्र ७।२।१०१/२२७ पर होनेसे उसका कार्य
पहले होकर फिर "नपुंसकस्य झलचः ७।१।७२/३१४" इससे सर्व-
नामस्थान परे रहते होनेवाले नुम् (न) का आगम हुआ,
"मिदचोऽन्त्यात्परः १।१।४७/३७" इससे अजरन्-स्+इ-ऐसी
स्थिति हुई परन्तु-

३१७ सान्तमहतः संयोगस्य।६।४।१०॥

**सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योप-
धाया दीर्घः स्यादसंबुद्धौ सर्वनामस्थाने परे ।
अजरांसि । अजराणि । अमि लुकोपवादमम्भावं
बाधित्वा परत्वाज्जरस् । ततः सन्निपातपरिभा-
षया न लुक् । अजरसम् । अजरम् । अजरसौ।
अजरे । अजरांसि । अजराणि । शेषं पुंवत् ।
पद्दन्न इति हृदयोदकास्यानां हृत उदन् आसन् ।
हृन्दि । हृदा । हृद्भ्यामित्यादि । उदानि । उद्ना।
उदभ्यामित्यादि ॥ आसानि । आस्ना । आस-
भ्यामित्यादि ॥ मांसि । मांसा । मान्भ्यामि-
त्यादि । वस्तुतस्तु प्रभृतिग्रहणं प्रकारार्थमित्यु-
क्तम् । अत एव भाष्ये मांस्पचन्या उखाया इ-
त्युदाहृतम् । अयस्मयादित्वेन भत्वात्संयोगान्त-
लोपो न । पद्दन्न इत्यत्र हि छन्दसीत्यनुवर्तितं
वृत्तौ तथाप्यपो भीत्यत्र मासश्छन्दसीति वार्ति-
के छन्दोग्रहणसामर्थ्याल्लोकेपि क्वचिदिति कैय-
टोक्तरीत्या प्रयोगमनुसृत्य पदादयः प्रयोक्तव्या
इति बोध्यम् ।**

३१७-सान्त संयोग और महत् शब्दका जो
नकार, उसकी उपधाको दीर्घ हो सम्बोधनभिन्न
सर्वनामस्थान परे रहते । ("नोपधायाः ६।४।७/३७०" "सर्व-
नामस्थाने चासम्बुद्धौ ६।४।८/२५०" इन सूत्रोंकी अनुवृत्ति आतीहै
और सान्त यह लुप्तषष्ठ्यन्त पृथक् पद है तिससे संयोगके
साथ समानाधिकरण होताहै) तब पूर्वोक्तस्थितिके पश्चात्
"नश्चापदान्तस्य झलि ८।३।२४/१२३" इससे अजरांसि । पक्षमें
अजराणि । फिर "स्वमोर्नपुंसकात् ७।१।२३/३१९" अर्थात्
नपुंसक शब्दके आगे 'सु' और 'अम्' का लुक् होताहै ऐसा
सामान्य सूत्र है, परन्तु अजर यह शब्द अकारान्त है, इस
कारण "अतोऽम् ७।१।२४/३०९" यह अपवाद प्राप्त होकर उसका
बाध हुआ, परन्तु "अतोऽम्" इसके कारणसे अम्के
स्थानमें फिर अम्की जो प्राप्ति उसको "जराया जरस०
७।२।१०१/२२७" यह सूत्र पर होनेके कारण इसका कार्य अर्थात्
जरस् आदेश प्रथम हुआ, अजरस्+अम् ऐसी स्थिति हुई,
तब अम् इस अजादि प्रत्यय रूपसे आया हुआ जो जर-
सादेश उसीके निमित्तसे फिर उलट कर उपजीव्य अम्के
स्थानमें "स्वमोर्नपुंसकात्" इस सामान्य सूत्रके बलसे लुक्
होना शक्य नहीं है कारण कि सन्निपातपरिभाषासे विरोध

आताहै। इससे अजरसम्। पक्षमें अजरम्। अजरसी, अजरे। अजरांसि, अजराणि। शेष पुँल्लिङ्ग निर्जर २२७ की समान जानना।

नपुंसक अजर शब्दके रूप-

बिभ०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अजरम्	अजरसी, अजरे	अजरांसि, अजराणि
सं०	हे अजर	हे अजरसी, हे अजरे	हे अजरांसि, हे अजराणि
द्वि०	अजरसम्, अजरम्	अजरसी, अजरे	अजरांसि, अजराणि

शेष रूप पुँल्लिङ्गकी समान ॥

हृदय, उदक और आस्य शब्द-

"पद्दन्० $\frac{६।१।६३}{२२८}$" इस सूत्रसे आगे शसादि विभक्ति रहते हृदय, उदक, आस्य, इनके स्थानमें क्रमसे हृद्, उदन्, आसन्, यह आदेश विकल्प करके होतेहैं, इस कारण "नपुंसकस्य झलचः $\frac{७।१।७२}{३१४}$" इससे हृदय+शस्-हृन्दि। यहां कुर्वन्ति (१२४) शब्दमें दिखाये हुएके समान णत्व प्राप्त हुआ, उसके असिद्ध होनेसे अनुस्वार, परसवर्ण, उसके असिद्ध होनेसे णत्व नहीं। हृदय+टा=हृदा। हृदय+भ्याम्= हृद्भ्याम् इत्यादि।

हृदय शब्दके रूप-

विभ०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	हृदयम्	हृदये	हृदयानि
सं०	हे हृदय	हे हृदये	हे हृदयानि
द्वि०	हृदयम्	हृदये	हृन्दि, हृदयानि
तृ०	हृदा, हृदयेन	हृद्भ्याम्, हृदयाभ्याम्	हृद्भिः, हृदयैः
च०	हृदे, हृदयाय	हृद्भ्याम्, हृदयाभ्याम्	हृद्भ्यः, हृदयेभ्यः
पं०	हृदः, हृदयात्	हृद्भ्याम्, हृदयाभ्याम्	हृद्भ्यः, हृदयेभ्यः
ष०	हृदः, हृदयस्य	हृदोः, हृदययोः	हृदाम्, हृदयानाम्
स०	हृदि, हृदये	हृदोः, हृदययोः	हृत्सु, हृदयेषु.

'हृदयानि' इत्यादिमें दकारसे व्यवधान होनेके कारण णत्व नहीं हुआ।

इसी प्रकारसे उदक शब्दमें 'शि' प्रत्यय आगे रहते 'उदन्' आदेश होनेके पीछे "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ $\frac{६।४।८}{२५०}$" इससे उपाधादीर्घ, उदानि। आगे "अल्लोपोनः $\frac{६।४।१३४}{२३४}$" इससे अल्लोप, उद्ना। आगे "न लोपः $\frac{८।२।७}{२३६}$" इससे हलादि विभक्तिमें उदभ्याम् इत्यादि। आगे ङि प्रत्यय होते "विभाषा ङिश्योः $\frac{६।४।१३६}{२३७}$" इससे विकल्पसे अल्लोप, उद्नि, उदनि ॥

उदक शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	उदकम्	उदके	उदकानि
सं०	हे उदक	हे उदके	हे उदकानि
द्वि०	उदकम्	उदके	उदानि, उदकानि
तृ०	उद्ना, उदकेन	उदभ्याम्, उदकाभ्याम्	उदभिः, उदकैः
च०	उद्ने, उदकाय	उदभ्याम्, उदकाभ्याम्	उदभ्यः, उदकेभ्यः
पं०	उद्नः, उदकात्	उदभ्याम्, उदकाभ्याम्	उदभ्यः, उदकेभ्यः
ष०	उद्नः, उदकस्य	उद्नोः, उदकयोः	उद्नाम्, उदकानाम्
स०	उद्नि, उदनि, उदके	उद्नोः, उदकयोः	उदसु, उदकेषु.

इसी प्रकार आस्य (मुख) शब्दके रूप आसन् आदेश, आस्य+शस्-आसानि। आस्य+टा-आस्ना। आस्य+भ्याम्- आसभ्याम् इत्यादि ॥

आस्य शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	आस्यम्	आस्ये	आस्यानि
सं०	हे आस्य	हे आस्ये	हे आस्यानि
द्वि०	आस्यम्	आस्ये	आसानि, आस्यानि
तृ०	आस्ना, आस्येन	आसभ्याम्, आस्याभ्याम्	आसभिः, आस्यैः
च०	आस्ने, आस्याय	आसभ्याम्, आस्याभ्याम्	आसभ्यः, आस्येभ्यः
पं०	आस्नः, आस्यात्	आसभ्याम्, आस्याभ्याम्	आसभ्यः, आस्येभ्यः
ष०	आस्नः, आस्यस्य	आस्नोः, आस्ययोः	आस्नाम्, आस्यानाम्
सं०	आस्नि, आसनि, आस्ये	आस्नोः, आस्ययोः	आससु, आस्येषु.

मांस शब्द-

"मांसपृतनासानूनां मांसस्पृत्स्नवो वाच्याः०*($\frac{८।२।४१}{२८५}$)" इससे आगे शसादि प्रत्यय रहते मांस् आदेश होताहै, मांस+शस्-मांसि। मांस+टा-मांसा। मांस+भ्याम्-मान्भ्याम् इत्यादि। मांसि। मांसा इनमें का जो अनुस्वार है वह "नकारजावनुस्वारपञ्चमौ०" (२५३६) इस प्रसिद्ध वाक्यके अनुसार नकारज है इस कारण मांस्+भ्याम् ऐसी स्थिति होते पदान्तत्वके कारण "संयोगान्तस्य लोपः $\frac{८।२।२३}{५४}$" इससे सलोप होकर "निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः" (प०) (निमित्तका विनाश होनेसे निमित्तीका भी विनाश होताहै) इससे अनुस्वारके स्थानमें न् आनेसे मान् + भ्याम् ऐसी स्थिति हुई, यह सूत्र त्रिपादीका है और पर है इससे उसके अनुसार जो सकारका लोप हुआ वह असिद्ध है। इसलिये "न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य $\frac{८।२।७}{२३६}$" इससे नलोप नहीं, नकारको फिर कोई कार्य नहीं, इससे मान्भ्याम् इत्यादि।

मांस शब्दके रूप-

विभ०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	मांसम्	मांसे	मांसानि
सं०	हे मांस	हे मांसे	हे मांसानि
द्वि०	मांसम्	मांसे	मांसि मांसानि
तृ०	मांसा, मांसेन	मान्भ्याम्, मांसाभ्याम्	मान्भिः, मांसैः

च०	मांसे, मांसाय	मान्भ्याम्, मांसाभ्याम्	मान्भ्यः, मांसेभ्यः
पं०	मांसः, मांसात्	मान्भ्याम्, मांसाभ्याम्	मान्भ्यः, मांसेभ्यः
ष०	मांसः, मांसस्य	मांसोः, मांसयोः	मांसाम्, मांसानाम्
स०	मांसि, मांसे	मांसोः, मांसयोः	मान्त्सु, मान्सु मांसेषु.

(वस्तुत इति) चाहे शसादिप्रत्ययोंमें ही यह वैकल्पिक रूप दियेहुए हैं, तो भी पीछे (२३७ में) कहा ही है कि "पद्दन्०" इस सूत्रमें 'प्रभृति' यह शब्द सादृश्यार्थक है इसीसे भाष्यमें " मांस्पचन्या उखायाः" (मांस पकानेके बरतनका) ऐसा उदाहरण दियाहै अर्थात् ' मांसस्य पचनी ' ऐसा विग्रह होते मांस और पचनी इनकी संधि होनेके समय आगे शसादि प्रत्यय नहीं है, तो भी मांस् आदेश होकर 'मांस्पचनी' ऐसा शब्द बनाया हुआ दिखायाहै। (अयस्मयादि०) 'मांस्पचनी' यह शब्द अयस्मयादिगणमें आताहै इससे "अयस्मयादीनि च्छन्दसि $\frac{१।४।२०}{३३९०}$" इससे 'मांस्' इसको भी भ संज्ञा होनेके कारण पदत्व नहीं है, इससे संयोगान्तलोप नहीं।

परन्तु " पद्दन्०" इस सूत्रमें वृत्तिकार 'छन्दसि' इसकी अनुवृत्ति पूर्वसे लायेहैं तो लौकिक भाषणमें इसका प्रयोग कैसे होगा, तो भी "अपो भि $\frac{७।४।४८}{४४२}$" इस सूत्रकी व्यवस्थामें "मासश्छन्दसि" (३५९४ वा०) अर्थात् भकार आगे रहते मास् शब्दको वैदिक प्रयोगमें तकार होताहै ऐसा वार्त्तिक है, तो फिर वैदिक प्रयोगमें तकार ऐसा कहनेसे अर्थात् वेदहीमें आदेश होगा तो वहीं 'मास्' यह हलन्त होनेसे तकारकी प्राप्ति है) इससे अन्यत्र अर्थात् लौकिकमें भी 'मास्' इसका कहींकहीं प्रयोग होताहै, ऐसा कैयटने कहाहै वैसा प्रयोग देखकर पदादि शब्दोंकी योजना करनी यह जानना।

श्रीप शब्द--

'श्री' और 'पा' धातु इनसे 'श्रियं पाति' (लक्ष्मीकी रक्षा करताहै) इस व्युत्पत्तिसे 'श्रीपा' यह क्विबन्त प्रातिपदिक है।

३१८ ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य। १।२।४७॥

क्लीबे प्रातिपदिकस्याऽजन्तस्य ह्रस्वः स्यात्। श्रीपं ज्ञानवत्। श्रीपाय। अत्र सन्निपातपरिभाषया आतो धातोरित्याकारलोपो न॥

३१८--नपुंसकलिंगमें अजन्त प्रातिपदिकको ह्रस्व होताहै (यहां ह्रस्व पदसे " अचश्च ३५ " परिभाषासूत्रके बलसे अच्की उपस्थिति भई और उसका प्रातिपदिकका विशेषण होनेसे अजन्त ऐसा अर्थ हुआ) ' श्रीपा ' ऐसा रूप होकर ' सु ' प्रत्ययमें ' श्रीपम् ' ऐसा रूप हुआ। इसके सब रूप ज्ञानशब्दके समान होंगे, बहुवचनमें ' श्रीपाणि ' इसमें " एकाजुत्तरपदे णः $\frac{८।४।१२}{३०७}$ " इससे णकार हुआ श्रीप+ङे=' श्रीपाय ' इसमें यकारके कारण ' श्रीपा ' को भत्व है और ' पा ' यह आकारान्त है और उसको धातुत्व भी है तो फिर " आतो धातोः $\frac{६।४।१२}{२४०}$ " इससे उसके आकारका लोप क्यों न हुआ? तो सन्निपातपरिभाषा आतीहै अर्थात् अवर्णके निमित्तसे ङेके स्थानमें यकार हुआ फिर उसीके निमित्तसे उस अवर्णका नाश होना योग्य नहीं। यदि कोई यह कहै कि " कष्टाय० " इस निर्देशसे " सुपि च " से दीर्घके वास्ते तो सन्निपातपरिभाषा अनित्य माननी होगी इस कारण लोपके वास्ते भी अनित्य मान लीजाय तो ऐसा नहीं कहसकते, कारण कि, दीर्घविधिमें निर्देश प्रमाण होगा लोपमें नहीं॥

इकारान्त वारि (जल) शब्द--वारि+सु--

३१९ स्वमोर्नपुंसकात्। ७। १। २३॥

क्लीबादङ्गात्स्वमोर्लुक् स्यात्। वारि॥

३१९--नपुंसकलिंग शब्दोंके परे स्थित ' सु ' और 'अम्' विभक्तिका लोप हो। वारि॥

३२० इकोचि विभक्तौ। ७। १।७३॥

इगन्तस्य क्लीबस्य नुमागमः स्यादचि विभक्तौ। वारिणी। वारीणि। न लुमतेति निषेधस्यानित्यत्वात्पक्षे संबुद्धिनिमित्तो गुणः। हे वारे। हे वारि। आङो ना। वारिणा। घेर्ङितीति गुणे प्राप्ते॥ वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन॥*॥ वारिणे। वारिणः। वारिणोः। नुमचिरेति नुट्। नामीति दीर्घः। वारीणाम्। वारिणि। वारिणोः। हलादौ हरिवत्॥

३२०--अजादि विभक्ति परे रहते इगन्त नपुंसकलिंग शब्दोंको नुम्का आगम हो। वारिन्+ई=वारिणी। वारिन्+जस्=वारीणि। " न लुमताङ्गस्य $\frac{१।१।६३}{२६३}$ " अर्थात् लुमान् शब्दसे जो लोप कहागया हो तो वहां तन्निमित्तक अंगकार्य नहीं होता, ऐसा जो सूत्र है, उसका अनित्यत्व सिद्ध होताहै, इससे तन्निमित्त अंगकार्य विकल्पसे होताहै, इससे सम्बुद्धि ' सु ' इसके स्थानमें " स्वमोर्नपुंसकात् " इससे लुक् शब्दसे लुक् होते " ह्रस्वस्य गुणः $\frac{७।३।१०८}{२४२}$ इससे सम्बुद्धिनिमित्तका गुण विकल्पसे होताहै, हे वारे, हे वारि *॥

---

* " इकोऽचि विभक्तौ " इस प्रस्तुत सूत्रमें ' अचि ' शब्दका क्या प्रयोजन है? ' इको विभक्तौ ' ऐसा सूत्र होता तो भी कार्य होजाता, देखो केवल ' विभक्तौ ' ऐसा कहनेसे भी आगे ' सु ' यह हलादि विभक्ति होते नुमागम होकर वारिन् + स् ऐसी स्थिति होनेपर सुलुक् होकर 'वारिन्' यह पद रहा, उसमेंके नकारका दण्डिन् (४४३) इत्यादि शब्दोंसेंके अनुसार "न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य" इससे लोप होकर 'वारि' ऐसा रूप होजायगा, उसी प्रकारसे वारिन्+भ्याम् ऐसी स्थिति रहते वारिभ्याम् इत्यादि रूप होजायंगे, उसी प्रकारसे आगे सम्बुद्धि सु होते भी 'वारिन्+स्' इसमेंका सकार नकार मिटकर 'वारि' ऐसा रूप बन जायगा, तो फिर सूत्रमें 'अच्' ग्रहण किस अर्थसे लायेहो? यदि कोई कहे कि यहां "न ङिसम्बुद्ध्योः $\frac{८।२।८}{३५२}$" इस निषेधसे आगे सम्बुद्धि होते नकारलोपका निषेध है, इसलिये यह बाधा दूर करनेके निमित्त 'अच्' ग्रहण कियाहै तो लुक्से सु लुप्त हुआहै इससे "न लुम-

(आङो ना) ' इकोऽचि० ' इस सूत्रका बाध करके परत्व होनेके कारण "आङो ना० ७।३।१२०/२४४" इसके अनुसार 'ना' वारिणा। 'घि' संज्ञाके कारण "घेर्ङिति ७।३।१११/२४५" इससे गुण प्राप्त हुआ, परन्तु (*वृद्ध्यौत्त्व०) वृद्धि, औत्त्व, तृज्वद्भाव, गुण इनके परत्व होनेके कारण जो नुम्‌को बाध आताहो तो पूर्व विप्रतिषेध करके 'नुम्' ही कार्य करना चाहिये, (* वा० ४३७३) इस कारण गुण न होते नुम् हुआ, वारि+ङे-वारिणे। वारि+ङस्-वारिणः । वारि + ओस्-वारिणोः * ॥

(नुमचिरेति नुट्) 'आम्' प्रत्ययमें परत्वसे "इकोचि०" इससे नुम् प्राप्त हुआ तो सही परन्तु "नुमचिरतृज्वद्भावे० ८।२।२४/२८०" इस वार्तिकसे नुट् वारि + नाम् ऐसी स्थिति होते " नामि ६।१।४७/३७" इससे दीर्घ हुआ, और "अट्कुप्वाङ्० ८।४।२ " से णत्व हुआ वारीणाम् * ॥

आगे वारि+ङि=वारिणि । वारि+ओस्=वारिणोः । हलादि प्रत्ययमें हरिवत् रूप होंगे ।

वारि शब्दके रूप--

विभ०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	वारि	वारिणी	वारीणि
सं०	हे वारे, हे वारि	हे वारिणी	हे वारीणि
द्वि०	वारि	वारिणी	वारीणि
तृ०	वारिणा	वारिभ्याम्	वारिभिः
च०	वारिणे	वारिभ्याम्	वारिभ्यः
पं०	वारिणः	वारिभ्याम्	वारिभ्यः
ष०	वारिणः	वारिणोः	वारीणाम्
स०	वारिणि	वारिणोः	वारिषु.

अनादि शब्द--

३२१ तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य । ७ । १ । ७४ ॥

प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कमिगन्तं क्लीबं पुंवद्वा स्याट्टादावचि । अनादये । अनादिने । इत्यादि । शेषं वारिवत् ॥ पीलुर्वृक्षस्तत्फलं पीलु, तस्मै पीलुने। अत्र न पुंवत् । प्रवृत्तिनिमित्तभेदात्॥

३२१-जो शब्द पुँल्लिगमें भी आताहै ऐसे नपुंसक शब्दको भाषितपुंस्क कहतेहैं, शब्दका प्रयोग करनेके निमित्त कहनेसे उसकी शक्ति समझनी चाहिये वह यह कि जो उसका एक ही अर्थ हो तो 'टा' आदि अजादि प्रत्यय परे रहते भाषितपुंस्क जो इगन्त नपुंसक अंग उसके रूप विकल्प करके पुंवत् होतेहैं । ("इकोऽचि विभ०" से 'अच्' की अनुवृत्ति आतीहै) । अनादि+ङे-अनादये, अनादिने । शेष रूप वारि शब्दके समान ।

नपुंसक 'अनादि' शब्दके रूप-

विभ०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अनादि	अनादिनी	अनादीनि
सं०	हे अनादे, हे अनादि	हे अनादिनी	हे अनादीनि
द्वि०	अनादि	अनादिनी	अनादीनि
तृ०	अनादिना	अनादिभ्याम्	अनादिभिः
च०	अनादये, अनादिने	अनादिभ्याम्	अनादिभ्यः
पं०	अनादेः, अनादिनः	अनादिभ्याम्	अनादिभ्यः
ष०	अनादेः, अनादिनः	अनाद्योः, अनादिनोः	अनादीनाम्
स०	अनादौ, अनादिनि	अनाद्योः, अनादिनोः	अनादिषु.

पीलु (सिंही) शब्द-

'पीलु' इस शब्दके वृक्ष और फल यह दो अर्थ हैं, उनमेंसे वृक्ष अर्थमें पुँल्लिग और फल अर्थमें नपुंसक लिंग है, इसको पुंवद्भाव नहीं होता, कारण कि, इस शब्दके, प्रवृत्तिनिमित्त पृथक्पृथक् हैं एक वृक्ष और दूसरा फल, 'पीलु' फल इस नपुंसक शब्दकी चतुर्थीमें 'पीलुने' वारि शब्दके समान होताहै । शेष रूप भी वारि शब्दके समान जानना ।

-ताङ्गस्य" यह निषेध प्राप्त होकर उस लुप्त सुका प्रत्ययलक्षण ही जातारहताहै, जब प्रत्ययलक्षण ही नहीं अर्थात् आगे सु नहीं तो "न ङिसम्बुद्ध्योः" इसकी प्राप्ति ही नहीं, तो यह समाधान ठीक नहीं हुआ, सारांश यह कि 'अच्' ग्रहण व्यर्थ सा दीखताहै, इससे सूत्रकारका आशय ऐसा दीखताहै कि "न लुमताङ्गस्य" यह निषेध नित्य नहीं, इसको कभी २ बाध आताहै और जब इसको बाध आया तब "न ङिसम्बुद्ध्योः" इसकी प्राप्ति होकर नकार रहजायगा, उसकी निवृत्तिके निमित्त सूत्रमें 'अचि' यह पद डालदियाहै, इससे "न लुमताङ्गस्य" इस निषेधका अनित्यत्व अर्थात् विकल्प सिद्ध है, इस कारण जब "न लुमतांगस्य" इसका नित्यत्व स्वीकार करैं तब सम्बुद्धिमें वारिके परे 'सु' न होनेसे "ह्रस्वस्य गुणः ७।३।१०८/२४२ यह सूत्र प्राप्त नहीं, इससे गुण न होते 'हे वारि' ऐसा ही रूप रहा, जब अनित्यत्व स्वीकार करैं, तब प्रत्ययलक्षण करके आगे 'सु' होनेसे गुण होकर 'हे वारे' ऐसा रूप हुआ । इस अनित्यत्वसे पीछे भी 'प्रियत्रि' और प्रियतिसृ ऐसे दो रूप 'प्रियत्रि' शब्दमें दिये हैं (३००) ॥

* "सख्युरसम्बुद्धौ ७।१।९२/२५३" इससे नपुंसक 'अतिसखि' शब्दको णिद्वद्भाव करके वृद्धि प्राप्त रहते उसका बाध होकर नुम् होकर 'अतिसखीनि' ऐसा रूप हुआ, इस 'वारि' शब्दमें ही "अच्च घेः ७।३।११९/२४७" इससे औत्त्व प्राप्त रहते 'नुम्' से उसका बाध होकर 'वारि+ङि-वारिणि ऐसा रूप हुआ, 'प्रियक्रोष्टु' इसमें तृज्वद्भावका बाध होकर 'नुम्' प्रियक्रोष्टु+इ-प्रियक्रोष्टूनि, "घेर्ङिति" इससे गुण प्राप्त होते भी ऊपर प्रस्तुत सूत्रमें दिखाए हुएके अनुसार 'वारि' शब्दमें नुमसे उसका बाध होकर वारि+ङे-वारिणे हुआ ॥

* यद्यपि नुम् और नुट् इन दोनोंमें 'न्' यही मुख्य अंश रहनेसे कुछ भेद नहीं दीखता तथापि "मिदचोन्त्यात्परः १।१।४७/३७" इससे नुम् (न्) यह वारिमेंके अन्त्य अच्के आगे आकर उसीका अन्तावयव होताहै, इस कारण 'वारिन्, यह अंग और उसके आगे आम् यह प्रत्यय ऐसा होनेके कारणसे "नामि" यह सूत्र नहीं लगता, इस कारण नुम्‌का प्रथमहीसे बाध करके "ह्रस्वनद्यापो नुट् ७।१।५४/२०८" इससे 'आम्' प्रत्ययको ही नुट् (न्) करनेसे टित्वके कारण १।१।४६/३६ से उस प्रत्ययका ही वह आद्य अवयव होकर 'नाम्' ऐसा रूप बननेपर "नामि" इस सूत्रको अवकाश मिलकर दीर्घत्व प्राप्त हुआ ॥

दधि (दही) शब्द—

३२२ अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः। ७। १। ७५॥

एषामनङ् स्याट्टादावचि स चोदात्तः। अल्लोपोनः। दध्ना। दध्ने। दध्नः। दध्नोः २। दध्नि। दधनि। शेषं वारिवत्। एवमस्थिसक्थ्यक्षि। तदन्तस्याप्यनङ्। अतिदध्ना॥ सुधि। सुधिनी। सुधीनि। हे सुधे। हे सुधि। सुधिया। सुधिना॥ प्रध्या। प्रधिना॥ मधु। मधुनी। मधूनि। हे मधो। हे मधु। एवमम्वादयः॥ सानुशब्दस्य स्नुर्वा। स्नूनि। सानूनि॥ प्रियक्रोष्टु। प्रियक्रोष्टुनी। तृज्वद्भावात्पूर्वविप्रतिषेधेन नुम्। प्रियक्रोष्टूनि। टादौ पुंवत्पक्षे प्रियक्रोष्ट्रा। प्रियक्रोष्टुना। प्रियक्रोष्ट्रे। प्रियक्रोष्टवे। अन्यत्र तृज्वद्भावात्पूर्वविप्रतिषेधेन नुमेव। प्रियक्रोष्टुना। प्रियक्रोष्टुने। नुमचिरेति नुट्। प्रियक्रोष्टूनाम्॥ सुलु। सुलुनी। सुलूनि। पुनस्तद्वत्। सुल्वा। सुलुना॥ धातृ। धातृणी। धातॄणि। हे धातः। हे धातृ। धात्रा। धातृणा। एवं ज्ञातृकर्त्रादयः॥

३२२—टादिकोंमेंके अजादि प्रत्यय परे रहते, अस्थि, दधि, सक्थि, अक्षि, इनको 'अनङ्' (अन्) आदेश होताहै और वह उदात्त होताहै। ("इकोऽचि० ३२०" "तृतीयादिषु० ३२१" इन सूत्रोंसे अच् और तृतीयादि इनकी अनुवृत्ति होतीहै)। दध्+अन्+टा (आ) इस परसे दधन्+आ ऐसी स्थिति हुई, तब "अल्लोपोनः $\frac{६।४।१३४}{२३४}$" इससे नकारके पूर्वके अकारका लोप हुआ, तब दध्ना। दधि+ङे=दध्ने। दधि+ङसि=दध्नः। दधि+ङस्=दध्नः। दध्नोः। दध्नोः। दध्नाम्। दधि+ङि=यहां "विभाषा ङिश्योः $\frac{६।४।१३६}{२३७}$" इससे ङि परे रहते अन् इसमें विकल्पसे अल्लोप होगा, तब दध्नि, दधनि। शेष रूप वारि शब्दके समान जानना।

दधि शब्दके रूप—

विभ०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	दधि	दधिनी	दधीनि
सं०	हे दधे, हे दधि	हे दधिनी	हे दधीनि
द्वि०	दधि	दधिनी	दधीनि
तृ०	दध्ना	दधिभ्याम्	दधिभिः
च०	दध्ने	दधिभ्याम्	दधिभ्यः
पं०	दध्नः	दधिभ्याम्	दधिभ्यः
ष०	दध्नः	दध्नोः	दध्नाम्
स०	दध्नि, दधनि	दध्नोः	दधिषु.

इसी प्रकार अस्थि (हड्डी), सक्थि (जांघ), अक्षि (आंख), इन शब्दोंके रूप जानो।

(तदन्तस्यापि अनङ्) 'अस्थिदधि०' इस प्रस्तुत सूत्रको अंगाधिकारमें कहेजानेके कारण तदन्तको भी 'अनङ्' होताहै, 'अतिदधि' शब्द लियाजाय तो अतिदध्ना इत्यादि दधि शब्दके समान रूप होंगे, यह शब्द अन्य लिंगमें हो तो भी 'अनङ्' होताहै॥

सुधी शब्द—

"ह्रस्वो नपुंसके०" इससे ह्रस्व, सुधि+सु=सुधि। सुधि+औ=सुधिनी। सुधि+जस्=सुधीनि। सुधि+सु=हे सुधे, हे सुधि। पुंवद्भावमें दीर्घत्वके कारण "न भूसुधियोः" इससे यणनिषेध, "अचि श्नु० $\frac{६।४।७७}{२७१}$" इसकी प्रवृत्ति होकर 'इयङ्', 'ना' भाव नहीं। सुधी+टा=सुधिया, सुधिना। सुधि+आम्=सुधियाम्, सुधीनाम्।

नपुंसक सुधी शब्दके रूप—

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सुधि	सुधिनी	सुधीनि
सं०	हे सुधे, हे सुधि	हे सुधिनी	हे सुधीनि
द्वि०	सुधि	सुधिनी	सुधीनि
तृ०	सुधिया, सुधिना	सुधिभ्याम्	सुधिभिः
च०	सुधिये, सुधिने	सुधिभ्याम्	सुधिभ्यः
पं०	सुधियः, सुधिनः	सुधिभ्याम्	सुधिभ्यः
ष०	सुधियः, सुधिनः	सुधियोः, सुधिनोः	सुधियाम्, सुधीनाम्
स०	सुधियि, सुधिनि	सुधिनोः, सुधियोः	सुधिषु. *

इसी प्रकार 'प्रधी' शब्दके पुंवद्भावमें दीर्घान्तत्व होनेके कारण "एरनेकाचः० $\frac{६।४।८२}{२७२}$" इससे यण हुआ, प्रधि+टा—प्रध्या, प्रधिना॥

नपुंसक प्रधी शब्दके रूप—

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	प्रधि	प्रधिनी	प्रधीनि
सं०	हे प्रधे, हे प्रधि	हे प्रधिनी	हे प्रधीनि
द्वि०	प्रधि	प्रधिनी	प्रधीनि
तृ०	प्रध्या, प्रधिना	प्रधिभ्याम्	प्रधिभिः
च०	प्रध्ये, प्रधिने	प्रधिभ्याम्	प्रधिभ्यः
पं०	प्रध्यः, प्रधिनः	प्रधिभ्याम्	प्रधिभ्यः
ष०	प्रध्यः, प्रधिनः	प्रध्योः, प्रधिनोः	प्रध्याम्, प्रधीनाम्
स०	प्रध्यि, प्रधिनि	प्रध्योः, प्रधिनोः	प्रधिषु.

मधु (शहत) शब्द—वारिवत् जानना।

मधु+सु=मधु। मधु+औ=मधुनी। मधु+जस्=मधूनि। हे मधु+सु=हे मधो, हे मधु *॥

* पुंवद्भावमें दीर्घत्वके कारण वृत्तिकारके मतसे नदीत्व प्राप्त होगा ऐसा न मानना, कारण कि, यहां केवल पुंवत्‌रूपका ही अतिदेश है, नदीत्वके कहनेसे स्त्रीत्वका अंग आताहै इस कारण उसका ग्रहण यहां नहीं होसकता॥

* यहां "तृतीयादिषु०" इससे पुंवत् नहीं होता, कारण कि 'मधुर्वं मद्ये पुष्परसे' (मधु शब्द मद्य और पुष्परसमें नपुंसक है) "मधुर्वसन्ते चैत्रे च' (बसन्त और चैत्र अर्थमें मधुशब्द पुंल्लिङ्ग है) इससे पुंल्लिङ्ग और नपुंसकमें प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न २ होगया एक नहीं रहा॥

मधु शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	मधु	मधुनी	मधूनि
सं०	हे मधो, हे मधु	हे मधुनी	हे मधूनि
द्वि०	मधु	मधुनी	मधूनि
तृ०	मधुना	मधुभ्याम्	मधुभिः
च०	मधुने	मधुभ्याम्	मधुभ्यः
पं०	मधुनः	मधुभ्याम्	मधुभ्यः
ष०	मधुनः	मधुनोः	मधूनाम्
स०	मधुनि	मधुनोः	मधुषु.

इसी प्रकारसे अम्बु (जल) आदिशब्दोंके रूप जानो ।

" मांसपृतनासानूनां मांस्पृत्स्नवो वाच्याः *(सि० २०५)" से शसादिविभक्ति परे रहते सानु (पर्वतकी चोटी) इस शब्दको विकल्पसे स्नु आदेश होताहै, सानु+जस्=स्नूनि, सानूनि ।

सानु शब्दके रूप-

विभ०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सानु	सानुनी	सानूनि
सं०	हे सानो, हे सानु	हे सानुनी	हे सानूनि
द्वि०	सानु	सानुनी	स्नूनि, सानूनि
तृ०	स्नुना, सानुना	स्नुभ्याम्, सानुभ्याम्	स्नुभिः, सानुभिः
च०	स्नुने, सानुने	स्नुभ्याम्, सानुभ्याम्	स्नुभ्यः, सानुभ्यः
पं०	स्नुनः, सानुनः	स्नुभ्याम्, सानुभ्याम्	स्नुभ्यः, सानुभ्यः
ष०	स्नुनः, सानुनः	स्नुनोः, सानुनोः	स्नूनाम्, सानूनाम्
स०	स्नुनि, सानुनि	स्नुनोः, सानुनोः	स्नुषु, सानुषु.

प्रियक्रोष्टु शब्द--

प्रियक्रोष्टु । प्रियक्रोष्टुनी । "तृज्वत्क्रोष्टुः $\frac{७।१।९५}{२७४}$" इससे सर्वनामस्थानमें क्रोष्टृ आदेश प्राप्त हुआ, परन्तु "तज्व-द्भावात् पूर्वविप्रतिषेधेन नुम्, ३२०" इसमें दिये "वृद्ध्यौ-त्वतृज्वद्भाव० " इस वार्तिकसे पूर्वविप्रतिषेधसे नुम्, प्रियक्रोष्टु+इ=प्रियक्रोष्टूनि "विभाषा तृतीयादिष्वचि $\frac{७।१।९७}{२७८}$" इससे विकल्प करके तृज्वद्भाव, प्रियक्रोष्ट्रा, 'ना' भाव प्रियक्रोष्टुना, नपुंसकमें भी प्रियक्रोष्टुना मिलकर तृतीयाके दो रूप होंगे । चतुर्थीमें प्रियक्रोष्ट्रे, प्रियक्रोष्टवे । (अन्यत्रेति) अन्यत्र अर्थात् नपुंसकमें भी विकल्पसे तृज्वद्भावप्राप्ति है तो सही परन्तु "वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भाव०"(३२०) इस वार्तिकसे पूर्वविप्रतिषेध करके " इकोचि० " इससे नुम् यह एकही कार्य होगा, प्रियक्रोष्टुने । आम्प्रत्ययमें परत्वसे नुम्की प्राप्ति तो है "नुम-चिर० २८०" इस वार्तिकसे नुट्, प्रियक्रोष्टूनाम् यह एकही रूप होगा ।

नपुंसक प्रियक्रोष्टु शब्दके रूप-

विभ०	एक०	द्वि०	ब०
प्र०	प्रियक्रोष्टु	प्रियक्रोष्टुनी	प्रियक्रोष्टूनि
सं०	हे प्रियक्रोष्टो, हे प्रियक्रोष्टु	हे प्रियक्रोष्टुनी	हे प्रियक्रोष्टूनि
द्वि०	प्रियक्रोष्टु	प्रियक्रोष्टुनी	प्रियक्रोष्टूनि
तृ०	प्रियक्रोष्ट्रा, प्रियक्रोष्टुना	प्रियक्रोष्टुभ्याम्	प्रियक्रोष्टुभिः
च०	प्रियक्रोष्ट्रे, प्रियक्रोष्टवे, प्रियक्रोष्टुने	प्रियक्रोष्टुभ्याम्	प्रियक्रोष्टुभ्यः
पं०	प्रियक्रोष्टुः, प्रियक्रोष्टोः, प्रियक्रोष्टुनः	प्रियक्रोष्टुभ्याम्	प्रियक्रोष्टुभ्यः
ष०	प्रियक्रोष्टुः, प्रियक्रोष्टोः, प्रियक्रोष्टुनः	प्रियक्रोष्ट्रोः, प्रियक्रोष्ट्वोः, प्रियक्रोष्टुनोः	प्रियक्रोष्टूनाम्
स०	प्रियक्रोष्टरि, प्रियक्रोष्टौ, प्रियक्रोष्टुनि	प्रियक्रोष्ट्रोः, प्रियक्रोष्ट्वोः, प्रियक्रोष्टुनोः	प्रियक्रोष्टुषु.

सुलू शब्द-

ह्रस्व, सुलु। सुलुनी । सुलूनि । फिर द्वितीयामें इसी प्रकार। पुंवद्भाव पक्षमें सुलू + टा=सुल्वा, विकल्पमें सुलु + टा= सुलुना । इत्यादि रूप नपुंसक प्रधीकी समान *॥

धातृ शब्द-

धातृ + सु=धातृ । धातृ + औ=धातृणी । धातृ + जस्= धातृणि । सम्बुद्धिमें " न लुमताङ्गस्य" इस सूत्रके अनित्यत्वके कारण विकल्पकरके पूर्ववत् गुण, हे धातः, हे धातृ 'धारण करना' 'पोषण करना' यह अर्थ पुन्नपुंसकमें एकही है, इससे तृतीयादिमें भाषितपुंस्कत्वके कारण विकल्पसे पुंवद्भाव, धातृ + टा=धात्रा, धातृणा ।

नपुंसक धातृ शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	धातृ	धातृणी	धातॄणि
सं०	हे धातः, हे धातृ	हे धातृणी	हे धातॄणि
द्वि०	धातृ	धातृणी	धातॄणि
तृ०	धात्रा, धातृणा	धातृभ्याम्	धातृभिः
च०	धात्रे, धातृणे	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
पं०	धातुः, धातृणः	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
ष०	धातुः, धातृणः	धात्रोः, धातृणोः	धातॄणाम्
स०	धातरि, धातृणि	धात्रोः, धातृणोः	धातृषु.

इसी प्रकारसे ज्ञातृ, कर्तृ, इत्यादि शब्दोंके रूप जानो ।

प्रद्यो शब्द-

'प्रकृष्टा द्यौः यस्मिन् तत्' (विस्तीर्ण है आकाश जिसमें सो) " ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य $\frac{१।२।४७}{३१८}$" इससे ह्रस्व, परन्तु-

३२३ एच इग्घ्रस्वादेशे । १ । १ । ४८॥

आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु एच इगेव स्यात् । प्रद्यु। प्रद्युनी। । प्रद्यूनि । प्रद्युनेत्यादि । इह न पुंवत् । यदिगन्तं प्रद्यु इति तस्य भाषितपुंस्कत्वाभावात्। एवमग्रेपि । प्ररि । प्ररिणी । प्ररीणि । प्ररिणा । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वाद्रायो हलीत्यात्वम् । प्रराभ्याम् । प्रराभिः । नुमचिरेति नुट्यात्वे प्र-

* यहां 'सुन्दर काटना' यह अर्थ पुंनपुंसकमें एक ही है, इस कारण 'सुलू' यह भाषितपुंस्क है ॥

राणामिति माधवः । वस्तुतस्तु संनिपातपरिभाषया नुटयात्वं न । नामीति दीर्घस्त्वारम्भसामर्थ्यात्परिभाषां बाधत इत्युक्तम् । प्ररीणाम् । सुनु । सुनुनी । सुनूनि । सुनुना । सुनुने । इत्यादि ॥

॥ इत्यजन्ता नपुंसकलिंगाः ॥

३२३-जब'हृस्व आदेश होताहै'ऐसा कहा हो तो वहां एच् के स्थानमें इक् यही हृस्व आदेश होतेहैं, इस कारण ओकारके स्थानमें उकार, प्रद्यु + सु=प्रद्यु । प्रद्यु + औ=प्रद्युनी । प्रद्यु + जस्=प्रद्यूनि । प्रद्यु + ङे=प्रद्युने, यहां पुंवद्भाव नहीं कारण कि नपुंसकमें 'प्रद्यु' शब्द इगन्त है, परन्तु पुँल्लिंगमें 'प्रद्यो' इसमें इगन्तत्व नहीं, इस कारण यहां भाषितपुंस्कत्व नहीं, अर्थात् 'मधु' शब्दकी समान रूप होंगे *॥

इसी प्रकार अगले शब्दोंमें जानना चाहिये, 'प्रकृष्टो राः यस्य तत्' ऐसा विग्रह होते 'प्ररै' इसमें हृस्व करके 'प्ररि' रूप होकर प्ररि+सु=प्ररि । प्ररि + औ=प्ररिणी । प्ररि+जस्= प्ररीणि । प्ररि + टा=प्ररिणा ।

(एकदेशेति)अंशतः विकार पायाहुआ शब्द पृथक् नहीं होता इस कारण "रायो हलि ७।२।८५/२८६" इस सूत्रसे आगे हलादि विभक्ति होते आत्व हुआ, प्रराभ्याम् । प्रराभिः ।

(नुमचि०) वारिशब्दमें कहे अनुसार नुमूका बाध करके नुट्, परन्तु नुट्के कारण'नाम्'ऐसा प्रत्ययका रूप बनकर उसके हलादित्वके कारण प्ररिशब्दको आत्व करके 'प्रराणाम्' ऐसा रूप कहना चाहिये, ऐसा माधवका मत है ।

(वस्तुत इति) वास्तविक बात यह है कि, नुट् होनेके अनन्तर सन्निपातपरिभाषाके कारण आत्व नहीं, (नामीति) नाम् आगे रहते जो अन्यत्र दीर्घ होताहै वहां सन्निपातपरिभाषा प्राप्त नहीं होती कारण कि, सन्निपातपरिभाषा लाईजाय तो "नामि ६।४।३/२०९" इस सूत्रको कुछ भी अवकाश नहीं रहेगा, ऐसा पीछे (२०९ में) कहाहुआ ठीक ही है, वैसा यहां नहीं यहां, दीर्घत्वकी कुछ चर्चा नहीं है आत्वके विषयमें है और आत्वको तो अन्यत्र अर्थात् प्रराभ्याम् इत्यादि स्थानोंमें अवकाश है ही, इससे सन्निपातपरिभाषा बिगाडनेका कोई कारण नहीं ।

'सुष्ठु नौः यस्मिन् तत्' ऐसा विग्रह होते सुनौ इसको हृस्व करके सुनुशब्द-सुनो+सु=सुनु । सुनु+औ=सुनुनी । सुनु+जस्=सुनूनि । सुनु+टा=सुनुना । सुनु+ङे=सुनूने इत्यादि मधुवत् ।

इति अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ॥

* सुधि इत्यादि शब्दोंमें मूलके सुधी इत्यादि दीर्घान्तशब्द भी इगन्त ही हैं, इस कारण भाषितपुंस्कत्व ठीक ही है, परन्तु यहां प्रद्यो शब्द इगन्त नहीं इस कारण भाषितपुंस्कत्व नहीं ॥

अथ हलन्ताः पुँल्लिंगाः ।

हकारान्त लिह् (चाटनेवाला) शब्द—

यह क्विबन्त शब्द है लिह्+सु ऐसी स्थिति होते-

३२४ हो ढः । ८ । २ । ३१ ॥

हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च । हल्ङ्याबिति सुलोपः । पदान्तत्वाद्धस्य ढः । जश्त्वचर्त्वे । लिट् । लिड् । लिहौ । लिहः । लिहम् । लिहौ । लिहः । लिहा । लिड्भ्याम् । लिट्त्सु । लिट्सु ॥

३२४-हकारको आगे झल् रहते और पदान्तमें ढकार होताहै । (यहां "झलो झलि ८ । २ । २६" "पदस्य ८।१।१६/४०१" "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ८।२।२९/३८०" इनसे 'झल्,' 'पद' और 'अन्त' इन पदोंकी अनुवृत्ति होतीहै) लिह्+स् इसमें "हल्ङ्या० ६।१।६८/२५९" इससे सुलोप होकर लिह् ऐसा पद रहगया, फिर पदान्त हकारको त्रिपादीके प्रस्तुत सूत्रसे ढत्व हुआ तो 'लिढ्' ऐसी स्थिति हुई, फिर "झलाञ्जशोऽन्ते ८।२।३९/८४" इससे ढकारको डकार और "वावसाने ८।४।५६/२७६" इससे विकल्प करके चर्त्वसे ढकार हुआ, लिट्, लिड् । लिह्+औ=लिहौ । लिह्+जस्= लिहः । लिह्+अम्=लिहम् । लिह्+औ=लिहौ । लिह्+शस्= लिहः।लिह्+टा=लिहा। लिह्+भ्याम्=ऐसी स्थिति होते पदान्त होनेसे पूर्ववत् ढकार होकर डकार,लिड्भ्याम् । लिह्+सु=यहां भी पूर्ववत् लिड्+सु-ऐसी स्थिति होनेपर "ङः सि धुट् ८।३।२९/१३१" "खरि च ८।४।५५/१२१" से लिट्त्सु । यहां 'चयो० १३०' से 'त्' और 'ट्' को थ् और ढ २९४ में लिखेके अनुसार नहीं होते । और दूसरे पक्षमें लिट्सु ।

लिह् शब्दके रूप—

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	लिट्, लिड्	लिहौ	लिहः
सं०	हे लिट्, हे लिड्	हे लिहौ	हे लिहः
द्वि०	लिहम्	लिहौ	लिहः
तृ०	लिहा	लिड्भ्याम्	लिड्भिः
च०	लिहे	लिड्भ्याम्	लिड्भ्यः
पं०	लिहः	लिड्भ्याम्	लिड्भ्यः
ष०	लिहः	लिहोः	लिहाम्
स०	लिहि	लिहोः	लिट्त्सु,लिट्सु,

दुह् (दूध दूहनेवाला) यह क्विबन्त शब्द है—

३२५ दादेर्धातोर्घः । ८ । २ । ३२ ॥

उपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः स्याज्झलि पदान्ते च । उपदेशे किम् । अधोगित्यत्र यथा स्यात् । ततः दामलिहमात्मानमिच्छति दामलिह्यति । ततः क्विपि दामलिट् । अत्र मा भूत् ॥

३२५-उपदेश (धातुपाठ) में जो दकारादि ऐसे हकारान्त (अर्थात् दकार जिनके आदिमें और हकार अन्तमें) धातु हैं उनके हकारके स्थानमें आगे झल् रहते और पदान्तमें घकार होताहै । (इस सूत्रमें 'धातोः' इसकी आवृत्ति होतीहै

इससे एक 'धातु' शब्द धातुपरक रहताहै और दूसरा उपदेश-परक होताहै) दुह्+स् इसमें दुह् पश्चात् दुघ् ऐसी स्थिति हुई ।

(उपदेशे किम्) उपदेशमें दादि ऐसा क्यों कहा ? तो (अधोक्०) अदोह्, यद्यपि इसके आदिमें दकार नहीं है, तो भी धातुपाठमें उसका मूलधातु दुह्, ऐसा दियाहुआहै, इससे ह्के स्थानमें घकार होकर अधोक्(दूध दुह लिया) ऐसा रूप होनेके निमित्त अर्थात् उपदेश कहनेसे यहां दादि न होनेसे भी सूत्रकी प्रवृत्ति होकर 'अव्याप्ति' (मुख्य उदाहरणमें प्रवृत्ति न होनी) दोष न हुआ (२४३५) उसी प्रकार (दामलिहम्०) ~~दामलिह्~~ (रज्जु चाटनेवाला) उसकी इच्छा करताहै ऐसे अर्थमें 'दामलिह्यति' ऐसा जो क्रियापद उसमें 'दामलिह्य' धातुके आगे क्विप् (०) होकर उसी क्विप्के कारण (सि० २७० में कुमारी शब्दके समान) अकार, यकार मिटकर 'दामलिह्' ऐसा जो शब्द बनताहै, वह दादि भी है और हकारान्त भी है, परन्तु उपदेशमें यह दामलिह् धातु नहीं है, इसलिये उसको घत्व न हुआ अर्थात् उपदेश कहनेसे यहां दादि होनेपर भी सूत्रकी प्रवृत्ति न होकर 'अतिव्याप्ति' (जो उदाहरण नहीं है उसमें प्रवृत्त होना) दोष न हुआ, पूर्वसूत्रसे ढत्व ही होकर 'दामलिट्' ऐसाही रूप बना, इसलिये उपदेशमें ऐसा कहाहै । अस्तु । 'दुह्' शब्दकी 'दुघ्' ऐसी स्थिति होनेपर–

३२६ एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः । ८ । २ । ३७ ॥

धातोरवयवो य एकाच् झषन्तस्तदवयवस्य बशः स्थाने भष् स्यात्सकारे ध्वशब्दे पदान्ते च। एकाचो धातोरिति सामानाधिकरण्येनान्वये तु इह न स्यात् । गर्दभमाचष्टे गर्दभयति । ततः क्विप्, णिलोपो गर्द्धप् । झलीति निवृत्तम् । स्ध्वोर्ग्रहणसामर्थ्यात् । तेनेह न । दुग्धम् । दोग्धा । व्यपदेशिवद्भावेन धात्ववयवत्वाद्भष्भावः । जश्त्वचर्त्वे । धुक् । धुग् । दुहौ । दुहः । षत्वचर्त्वे । धुक्षु ॥

३२६–झषन्त होते एकाच् भी हो ऐसा धातुका जो -यव उसमें बश् (ब ग ड द्) वर्ण हों तो उस बश्के स्थानमें भष् होताहै, आगे सकार अथवा ध्वशब्द होते और -न्तमें । 'धुघ्' ऐसी स्थिति हुई । (एकाचः धातोः इति) 'एकाच्धातुका अवयव' ऐसे सामानाधिकरण्यसे (अर्थात् एकाच् और धातु इन दोनोंका एकही विषय लेकर) अन्वय लगायाजाय तो दोष होगा। देखो–गर्दभको बोलताहै इस अर्थमें 'गर्दभयति' यह क्रियापद है, इसमेंके 'गर्दभि' धातुके परे क्विप्, णिलोप होकर 'गर्दभ्' ऐसा जो धातुशब्द बनताहै, एकाच् न होनेके कारण उसके प्रथमाका रूप 'गर्धप्' ऐसा इस अन्वयके अनुसार नहीं होसकेगा, परन्तु उसका होना तो आवश्यक है, इसलिये ऊपर कहेहुएके समान वैयधिकरण्यसे अन्वय करना चाहिये ।

(झलि इति निवृत्तं स्ध्वोः ग्रहणसामर्थ्यात् तेन इह न । दुग्धम् । दोग्धा) 'सकार, ध्व शब्द आगे रहते' ऐसा जो सूत्रमें नया उच्चारण कियागया है इससे 'झल् आगे रहते' यह अर्थ यहां प्राप्त नहीं है इसलिये 'दुघ्+तम्' दोघ्+ता' इनमें यद्यपि आगे झल् है तो भी वह झल् सकार अथवा 'ध्व' शब्द नहीं है, इस कारण दकारके स्थानमें धकार नहीं होता, 'दुग्धम्' (दूध) 'दोग्धा' (दूध दूहनेवाला) ऐसेही रूप होतेहैं । यह रूप 'दुह्' धातुके हैं तथापि इनकी सिद्धिका यहां प्रयोजन नहीं है, इसलिये वे रूप यहां नहीं दियेहैं, आगे समझमें आजायंगे ॥

(व्यपदेशिवद्भावेन धात्ववयवत्वाद् भष्भावः) 'व्यपदेशिवत् एकस्मिन्' एक (असहाय) में (व्यपदेश अर्थात् मुख्यव्यवहार, वह है इसको इसलिये व्यपदेशी, उसके समान अर्थात् एकही वस्तु हो तो अवयव भी वही और मुख्यवस्तु भी वही) ऐसी परिभाषा है इसलिये 'दुह्' को धातुत्व है और धात्ववयवत्व भी प्राप्त होताहै, इस कारण सूत्रसे दुह्के स्थानमें धुघ् ऐसी स्थिति होकर "झलां जशोऽन्ते" और "वावसाने" इनके अनुसार जश्त्व और चर्त्व हुआ, धुक्, धुग् । दुहौ । दुहः । धुघ्+स् ऐसी स्थिति होते, (षत्वचर्त्वे) "आदेशप्रत्यययोः $\frac{८।३।५९}{२१२}$" इससे सकारको षत्व और "खरि च $\frac{८।४।५५}{२२१}$" इससे घकारको चर्त्व, धुक्षु ।

दुह् शब्दके रूप–

विभ०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	धुक्, धुग्	दुहौ	दुहः
सं०	हे धुक्, हे धुग्	हे दुहौ	हे दुहः
द्वि०	दुहम्	दुहौ	दुहः
तृ०	दुहा	धुग्भ्याम्	धुग्भिः
च०	दुहे	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः
पं०	दुहः	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः
ष०	दुहः	दुहोः	दुहाम्
स०	दुहि	दुहोः	धुक्षु.

द्रुह् (द्रोह करनेवाला) शब्द–

३२७ वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् । ८ । २ । ३३ ॥

एषां हस्य वा घः स्याज्झलि पदान्ते च । पक्षे ढः । ध्रुक् । ध्रुग् । ध्रुट् । ध्रुड् । द्रुहौ । द्रुहः। ध्रुग्भ्याम् । ध्रुड्भ्याम् । ध्रुक्षु । ध्रुट्त्सु । ध्रुट्सु । एवं मुहष्णुहष्णिहाम् ॥

३२७–झल् आगे रहते और पदान्तमें द्रुह्, मुह्, ष्णुह्, ष्णिह्, इनके हकारके स्थानमें विकल्प करके घ् होताहै । (पक्षे ढः) अन्य पक्षमें प्रथम सूत्रसे ढकार, इसलिये ध्रुक्, ध्रुग् । ध्रुट्, ध्रुड् । द्रुहौ । द्रुहः । ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम् । ध्रुक्षु, ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु ॥

द्रुह् शब्दके रूप–

विभ०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुड्	द्रुहौ	द्रुहः
सं०	हे ध्रुक्, हे ध्रुग्, हे ध्रुट्, हे ध्रुड्	हे द्रुहौ	हे द्रुहः
द्वि०	द्रुहम्	द्रुहौ	द्रुहः

तृ०	द्रुहा	ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्	ध्रुग्भिः, ध्रुड्भिः
च०	द्रुहे	ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्	ध्रुग्भ्यः, ध्रुड्भ्यः
पं०	द्रुहः	ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्	ध्रुग्भ्यः, ध्रुड्भ्यः
ष०	द्रुहः	द्रुहोः	द्रुहाम्
स०	द्रुहि	द्रुहोः	ध्रुक्षु,ध्रुट्त्सु,ध्रुट्सु.

(एवं मुहष्णुहष्णिहाम्) इसी प्रकारसे मुह् (मूढ), स्नुह् (डकार देनेवाला), स्निह् (मित्र) यह शब्द होतेहैं । इनमें दकारादित्व नहीं इसलिये भष्भावमात्र नहीं । मुक्, मुग । मुट्, मुड् । मुहौ । मुहः । मुग्भ्याम्, मुड्भ्याम् । मुक्षु; मुट्त्सु, मुट्सु * ॥

विश्ववाह् (ईश्वर) शब्द । इसका कार्य समझनेके लिये अगला सूत्र–

३२८ इग्यणः संप्रसारणम् ।१।१।४५॥

यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् स संप्रसारणसंज्ञः स्यात् ॥

३२८–यण् (य व र ल) के स्थानमें जो इक् (इ उ ऋ ऌ) हुआ करताहै उसकी संप्रसारण संज्ञा है ॥

३२९ वाह ऊठ् । ६ । ४ । १३२ ॥

भस्य वाहः संप्रसारणमूठ् स्यात् ॥

३२९–वाह् शब्द भसंज्ञक हो तो (अर्थात् असर्वनाम स्थान अजादि वा यादि स्वादि प्रत्यय आगे हों तो) उसमेंके वकारको संप्रसारण होताहै, परन्तु के स्थानमें संप्रसारण कहनेसे पूर्व सूत्रसे ह्रस्व ' उ ' होना चाहिये था वह न होते प्रस्तुत सूत्रसे ऊठ् (ऊ दीर्घ) होताहै अङ्गाधिकारके कारण तदन्त (वह है अन्तमें जिसके उस) को भी । इस लिये आगे शस् प्रत्यय रहते विश्व ऊ + आह्=अस् ऐसी स्थिति हुई । परन्तु–

* इनमेंके स्नुह् और स्निह् धातु. धातुपाठमें ष्णुह् और ष्णिह् इन रूपोंसे दिये हुए हैं तो भी "धात्वादे षः सः ($\frac{६।१।६४}{२२६४}$)" इससे षकारके स्थानमें सकार हुआ और षकारके निमित्तसे उनमें नकारके स्थानमें णकार हुआहै, इसलिये षकारको सकारत्व प्राप्त होते ही ' निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायायः ' इस परिभाषासे णकारके स्थानमें मूलका नकार आकर स्नुह् और स्निह् ऐसे क्विबन्त शब्द होतेहैं ।

नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु ।
सकारजः शकारश्चे षाट्टवर्गस्तवर्गजः ॥

अर्थात् धातुके विषे झल् परे होते जो अनुस्वार अथवा वर्गीय (उसी वर्गका) पञ्चम वर्ण हो तो वह नकारजन्य है; अर्थात् वह पहिले नकार था ऐसा जानना चाहिये और चकार जिसके आगे हो ऐसा जो शकार उसको सकारजन्य जानो। वैसे ही रेफ और षकारके आगेका जो टवर्ग वर्ण, उसको तवर्गजन्य जानो, इस कारणसे षकारके आगेके नकारको णत्व प्राप्त हुआ था ।

१ यहां 'वसोः सम्प्रसारणम् $\frac{६।४।१३१}{४३५}$' इससे सम्प्रसारणकी अनुवृत्ति होतीहै और वह ऊठ्का विशेषण होता है, इस कारण 'अलोऽन्त्यस्य ४२' इसकी प्रवृत्ति नहीं होती ॥

३३० संप्रसारणाच्च । ६ । १ । १०८ ॥

संप्रसारणादचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । एत्येधत्यूठ्सु । विश्वौहः । विश्वौहेत्यादि । छन्दस्येव ण्विरिति पक्षे णिजन्ताद्विच् ॥

३३०–संप्रसारणके आगे अच् आवे तो दोनोंके स्थानमें मिलकर पूर्वरूप एकादेश होताहै ("अमि पूर्वः $\frac{६।१।१०७}{१९४}$" "इको यणचि $\frac{६।१।७७}{४७}$" इन सूत्रोंसे ' पूर्व ' और ' अच् ' इनकी अनुवृत्ति आतीहै और "एकः पूर्वपरयोः $\frac{६।१।८४}{६८}$" इसका अधिकार होताहै) विश्व + ऊह्=अस् ऐसी स्थिति हुई तब "एत्येधत्यूठ्सु $\frac{६।१।८९}{७३}$" इससे वृद्धि आदेश होकर विश्वौहः । विश्वौहा । इत्यादि ।

(छन्दसि एव ण्विः इति पक्षे णिजन्तात् विच्) "वहश्च $\frac{३।२।६४}{३४१०}$" अर्थात् वह धातुको कर्त्रर्थमें ण्वि (०) प्रत्यय होकर वाह् (बोझ उठानेवाला) ऐसा यह शब्द सिद्ध होताहै परन्तु इसके पहले "छन्दसि सहः $\frac{३।२।६३}{३४०९}$" ऐसा जो सूत्र है, उसमेंसे 'छन्दसि' की अनुवृत्ति लाकर कोई २ कहतेहैं कि यह ण्वि (०) प्रत्यय वैदिक प्रयोगमात्रमें होताहै लौकिक में नहीं होता । उनका यह पक्ष स्वीकार किया जाय तो विश्ववाह् शब्दका प्रयोग लोकमें नहीं होसकेगा, परन्तु "हेतुमति च $\frac{३।१।२६}{२५७६}$" इससे वह् धातुसे प्रयोजकार्थमें णिच् प्रत्यय करके ' वाह् + इ' ऐसा जो रूप होताहै उसके आगे "अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते $\frac{६।२।७५}{२९८०}$" इससे विच् (०) प्रत्यय करके तब "णरनिटि $\frac{६।४।५१}{२३१३}$" इससे णिलोप कर वाह् शब्द जो रहा उसीका ग्रहण करना उचित है । ऊठ् में ठकार " ऊडिदंपदादि० $\frac{६।१।१७१}{३७१७}$ " इससे उदात्त स्वरके अर्थ है * ॥

विश्ववाह् शब्दके रूप–

विभ०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	विश्ववाट्–ड्	विश्ववाहौ	विश्ववाहः
सं०	हे विश्ववाट्-ड्	हे विश्ववाहौ	हे विश्ववाहः
द्वि०	विश्ववाहम्	विश्ववाहौ	विश्वौहः
तृ०	विश्वौहा	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भिः
च०	विश्वौहे	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भ्यः
पं०	विश्वौहः	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भ्यः
ष०	विश्वौहः	विश्वौहोः	विश्वौहाम्
स०	विश्वौहि	विश्वौहोः	विश्ववाट्सु–सु.

अनडुह् (बैल) शब्द–

* विच् प्रत्यय करनेसे शसादि प्रत्ययमें 'विश्वौहः' इत्यादि रूप नहीं बन सकते हैं क्यों? तो णिलोपके "अचः परस्मिन् १।१।५७" से स्थानिवद्भाव होनेसे इकारसे व्यवधान होजाय तो "वाह ऊठ् ६।४।१३२" इसकी प्रवृत्ति नहीं है ऐसा कोई कहते हैं सो ठीक नहीं, क्योंकि तो 'क्वौ लुप्तं न स्थानिवत् (वा०)'इसमें क्वि पद विच्का भी उपलक्षक है तब उक्त वचनसे स्थानिवद्भावका निषेध होजायगा । वस्तुतः विचार करो तो "विभाषा पूर्वाह्ण०४।३।२४" इस सूत्रमें भाष्यकारने " प्रष्ठौह आगतं प्रष्ठवाड्रूप्यम्" ऐसा प्रयोग दिखलाये हैं इस लिये क्वचित् लोकमें भी ण्विप्रत्यय हो ऐसी कल्पना करके यथास्थित प्रयोग बन सकताहै ॥

३३१ चतुरनडुहोरामुदात्तः ।७।१।९८॥

अनयोराम् स्यात्सर्वनामस्थाने स चोदात्तः॥

३३१–सर्वनामस्थान आगे रहते चतुर् (सि० ३३७) और अनडुह् शब्दोंको आम् (आ) यह उदात्त आगम होताहै ("इतोऽत्सर्वनामस्थाने ७।१।८६/३६६" से 'सर्वनाम-स्थान' की अनुवृत्ति होतीहै) । अनड्वाह्+स् ऐसी स्थिति हुई, तब–

३३२ सावनडुहः । ७ । १ । ८२ ॥

अस्य नुम् स्यात्सौ परे । आदित्यधिकारा-दवर्णात्परोयं नुम् । अतो विशेषविहितेनापि नुमाऽऽम्न बाध्यते । अमा च नुम्न बाध्यते । सोर्लोपः। नुम्विधिसामर्थ्याद्वसुस्रंस्विति दत्वं न। संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न। अनड्वान् ॥

३३२–सु परे रहते अनडुह् शब्दको नुम् (न्) का आगम होताहै । ("आच्छीनद्योर्नुम् ७।१।८०/४४५" से 'नुम्' की अनुवृत्ति होतीहै) । (आत् इति अधिकारात् इति) । "आच्छीनद्योर्नुम् ७।१।८०/४४५" इसमेंके आत् (अवर्णसे परे) का अधिकार होनेके कारण, अवर्णके आगे यह नुम् होताहै । और विशेष करके चाहे नुम्का विधान कियाहै तो भी उससे आम्का बाध नहीं होता । और अम् करके (सि० ३३७) नुम्का भी बाध नहीं होता । अनड्वान्+ह्+स् ऐसी स्थिति हुई (सोः लोपः) "हल्ङ्या० ६।१।६८/२५२" इससे सुलोप, "संयोगान्तस्य० ८।२।२३/२५४" इससे ह्लोप अनड्वान् । ऐसी स्थिति हुई ।

(नुम्विधिसामर्थ्यात् वसुस्रंसु० इति दत्वं न) अगले (सि० ३३४) "वसुस्रंसु०" सूत्रसे नकारके स्थानमें दकार करनेसे प्रस्तुत सूत्रकरके नुम्कार्य व्यर्थ होजायगा इसलिये दकार नहीं ।

(संयोगान्तलोपस्य असिद्धत्वात् नलोपो न) "संयोगान्त० ८।२।२३/५४" यह सूत्र त्रिपादीमेंका और पर है इसलिये असिद्ध है, इस कारण "न लोपः प्राति० ८।२।७/२३६" इस सूत्रसे नलोप नहीं, अनड्वान् ॥

३३३ अम् संबुद्धौ । ७ । १ । ९६ ॥

चतुरनडुहोरम् स्यात्संबुद्धौ । आमोपवादः । हे अनड्वन् । अनड्वाहौ । अनड्वाहः । अनडुहा ॥

३३३–संबुद्धि परे रहते चतुर् और अनडुह् शब्दोंको अम् (अ) का आगम होताहै । पूर्व सूत्रमेंके आम्का यह अपवाद है । अनड्वह्+स् ऐसी स्थिति हुई । "सावनडुहः" इससे नुम् । अनड्वन्हस् ऐसी स्थिति होकर पूर्ववत् सकार हकार जाकर हे अनड्वन् । अनड्वाहौ । अनड्वाहः । असर्व-नामस्थानमें कुछ विशेष न होनेसे अनडुहः । अनडुहा ॥

३३४ वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ।८।२।७२॥

सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात्पदान्ते । अनडुद्भ्यामित्यादि । सान्तेति किम् । विद्वान् । पदान्ते इति किम् । स्रस्तम् । ध्वस्तम् ॥

३३४–सान्त हो और वसुप्रत्ययान्त भी हो (सि० ३१०५) ऐसा जो शब्द और स्रंसु (स्रंस्), ध्वंसु (ध्वंस्), और अनडुह्, इन शब्दोंको पदान्तमें दकार होताहै । अन-डुद्भ्याम्–इत्यादि ।

अनडुह्. शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनड्वाहः
सं०	हे अनड्वन्	हे अनड्वाहौ	हे अनड्वाहः
द्वि०	अनड्वाहम्	अनड्वाहौ	अनडुहः
तृ०	अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भिः
च०	अनडुहे	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः
पं०	अनडुहः	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः
ष०	अनडुहः	अनडुहोः	अनडुहाम्
सं०	अनडुहि	अनडुहोः	अनडुत्सु.

(सान्त इति किम्) वसु (वस्) प्रत्ययान्त कहनेसे सान्त आही गया, तो फिर सान्त कहनेका क्या प्रयोजन ? तो विद्वस् यह यद्यपि वसुप्रत्ययान्त शब्द है तो भी विद्वान् ऐसा जब उसकी प्रथमाका रूप होताहै तब सान्त न रहनेके कारण वहां दकार नहीं होता (सि० ४३४) ।

(पदान्त इति किम्) पदान्तमें ऐसा क्यों कहा ? तो–क्त (त) यह कृत्प्रत्यय है स्वादि नहीं है. इसलिये वह आगे होते स्रंस्, ध्वंस्, इनको पदत्व नहीं है, इसलिये स्रस्तम्, ध्वस्तम्, इनमें सकारके स्थानमें दकार नहीं हुआ ॥

'तुरासाह्' (इन्द्र) शब्द–क्विबन्त–

"हो ढः ३२४" इससे तुरासाढ्, फिर जश्त्व, तुरासाड् ऐसा रूप होनेके पश्चात्–

३३५ सहेः साडः सः । ८ । ३ । ५६ ॥

साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। तुराषाट् । तुराषाड् । तुरासाहौ । तुरासाहः। तुरा-षाड्भ्यामित्यादि । तुरं सहत इत्यर्थे छन्दसि सह इति ण्विः । लोके तु साहयतेः क्विप् । अ-न्येषामपीति पूर्वपदस्य दीर्घः ॥

३३५–सह धातुका साड् ऐसा रूप जब होताहै तब साड्-मेंके सकारके स्थानमें मूर्धन्य (षकार) आदेश होताहै । "वावसाने २०६" इससे चर्त्व, तुराषाट्, तुराषाड् । तुरा-साहौ । तुरासाहः । पदान्तमें पूर्ववत् षत्व, तुराषाड्भ्याम्– इत्यादि–

तुरासाह् शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	तुराषाट्-ड्	तुरासाहौ	तुरासाहः
सं०	हे तुराषाट्–ड्	हे तुरासाहौ	हे तुरासाहः
द्वि०	तुरासाहम्	तुरासाहौ	तुरासाहः
तृ०	तुरासाहा	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भिः
च०	तुरासाहे	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भ्यः
पं०	तुरासाहः	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भ्यः

ष० तुरासाहः तुरासाहोः तुरासाहाम्

स० तुरासाहि तुरासाहोः तुरासाट्त्सु-सु.

(तुरं सहते इत्यर्थे छन्दसि सह इति ण्विः) 'वेगको सहताहै' इस अर्थमें सह धातुसे "छन्दसि सहः $\frac{३।२।६३}{२४०९}$" इससे ण्वि, पीछे वृद्धि होकर यह वैदिक शब्द सिद्ध होताहै, परन्तु यह शब्द लौकिक भी है। उसकी व्युत्पत्ति-(लोके तु साहयतेः क्विप्) लोकमें सह् धातुका प्रयोजकणिजन्त 'साहयति' ऐसा जो होताहै उसमेंके साहि धातुके आगे क्विप् होकर, णिलोप होकर साह् इतनाही अंश रहजाताहै। और (अन्येषामपि० इति पूर्वपदस्य दीर्घः) "अन्येषामपि० $\frac{६।३।१३७}{३५३९}$" इससे तुर इस पदके अकारको दीर्घ हुआ तब 'तुरासाह्' यह बना॥

(यकारान्त शब्द कोई प्रचलित नहीं मिलता)।

वान्त शब्द सुदिव् (सुन्दर आकाश जिसमें वह)-

२३६ दिव औत्।७।१।८४॥

दिविति प्रातिपदिकस्य औत्स्यात्सौ परे। अल्विधित्वेन स्थानिवत्त्वाभावाद्धल्ङ्यावितिसुलोपो न। सुद्यौः। सुदिवौ। सुदिवः। सुदिवम्। सुदिवौ॥

३३६-सुप्रत्यय परे रहते दिव् इस प्रातिपदिकको औत् (औ) आदेश होताहै। सुद्यौस् ऐसी स्थिति हुई। (अल्विधित्वेन स्थानिवत्त्वाभावात् हल्ङ्यादिलोपो न) इसमें औ आदेशके स्थानमें व् यह हल् है सही, तो भी वह एक अल् है, इसलिये "अनल्विधौ $\frac{१।१।५६}{४९}$" इस सूत्रांशके कारण औको स्थानिवत्त्व अर्थात् यहां हल्त्व नहीं प्राप्त होता, इसलिये "हल्ङ्या०" यह सूत्र नहीं लगता, इस कारण सुलोप नहीं। सुद्यौः। आगे सुदिवौ। सुदिवः। सुदिवम्। सुदिवौ।

फिर पदान्तमें-

३३७ दिव उत्।६।१।१३१॥

दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात्पदान्ते। सुद्युभ्याम्। सुद्युभिः। चत्वारः। चतुरः। चतुर्भिः। चतुर्भ्यः २॥

३३७-पदान्तमें दिव्को उकार यह अन्तादेश होताहै। सुद्युभ्याम्। सुद्युभिः।

सुदिव् शब्दके रूप-

विभ०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सुद्यौः	सुदिवौ	सुदिवः
सं०	हे सुद्यौः	हे सुदिवौ	हे सुदिवः
द्वि०	सुदिवम्	सुदिवौ	सुदिवः
तृ०	सुदिवा	सुद्युभ्याम्	सुद्युभिः
च०	सुदिवे	सुद्युभ्याम्	सुद्युभ्यः
पं०	सुदिवः	सुद्युभ्याम्	सुद्युभ्यः
ष०	सुदिवः	सुदिवोः	सुदिवाम्
स०	सुदिवि	सुदिवोः	सुद्युषु,

रेफान्त चतुर् (चार) शब्द-

केवल बहुवचनहीमें इसके रूप होतेहैं। "चतुरनडुहो-राम्० $\frac{७।१।९८}{३३१}$" इसकरके सर्वनामस्थान परे रहते 'आम्' (आ) का आगम। चतुआर्+अस् मिलकर चत्वारः, फिर कुछ कार्य नहीं। चतुरः। चतुर्भिः। चतुर्भ्यः। चतुर्भ्यः। आम् प्रत्ययमें-

३३८ षट्चतुर्भ्यश्च ७।१।५५॥

षट्संज्ञकेभ्यश्चतुरश्च परस्यामो नुडागमः स्यात्। णत्वम्। द्वित्वम्। चतुर्णाम्॥

३३८-षट्संज्ञक शब्द (सि० ३६९) और 'चतुर्' शब्दके आगेके आम् प्रत्ययको नुट् (न्) का आगम होताहै। 'चतुर्+न् आम्' ऐसी स्थिति होते (णत्वम्, द्वित्वम्) रेफके कारण नकारको णत्व और "अचो रहाभ्यां द्वे $\frac{८।४।४६}{५९}$" इससे रेफके आगेके णकारको विकल्पकरके द्वित्व, चतुर्ण्णाम्। अर्थात् पक्षमें 'चतुर्णाम्' ऐसा द्वित्वहीन एकणकारयुक्त रूप भी होताहै। परन्तु यहां द्वित्वके स्मरणका कारण यह है कि आगे सप्तमीके 'चतुर्षु' रूपमें जैसा द्वित्वनिषेध है वैसा यहां नहीं, यह ध्यानमें रखना चाहिये. फिर आगे चतुर्+सु इसमें "खरवसानयोर्विसर्जनीयः $\frac{८।३।१५}{७६}$" इससे रेफके स्थानमें विसर्ग प्राप्त हुआ, परन्तु-

३३९ रोः सुपि।८।३।१६॥

सप्तमीबहुवचने रोरेव विसर्जनीयो नान्यरेफस्य। षत्वम्। षस्य द्वित्वे प्राप्ते॥

३३९-सप्तमीबहुवचनका सु प्रत्यय आगे रहते "ससजुषो रुः $\frac{८।२।६६}{१६१}$" इससे प्राप्त हुआ जो रु उसीके स्थानमें विसर्ग होताहै, अन्य रेफके स्थानमें नहीं होता, इसकारण विसर्ग नहीं, इकारके कारण सकारके स्थानमें षत्व, "अचो-रहाभ्यान्द्वे" से षकारको द्वित्व प्राप्त हुआ, परन्तु-

३४० शरोऽचि।८।४।४९॥

अचि परे शरो न द्वे स्तः। चतुर्षु। प्रियचत्वाः। हे प्रियचत्वः। प्रियचत्वारौ। प्रियचत्वारः। गौणत्वे तु नुट् नेष्यते। प्रियचतुराम्। प्राधान्ये तु स्यादेव। परमचतुर्णाम्॥ कमलं कमलां वा आचक्षाणः कमल्। कमलौ। कमलः। षत्वम्। कमल्षु॥

३४०-आगे अच् परे रहते शर् वर्णको द्वित्व न हो। (यहां "अचो रहाभ्यां द्वे $\frac{८।४।४६}{५९}$", "नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य $\frac{८।४।४८}{५५}$" इन सूत्रोंसे 'द्वे' और 'न' की अनुवृत्ति होतीहै)। चतुर्षु।

प्र० सं०-चत्वारः। द्वि०-चतुरः। तृ०-चतुर्भिः।

च० पं०-चतुर्भ्यः। ष०-चतुर्णाम्। स०-चतुर्षु।

एकवचन दिखानेके निमित्त 'प्रियचतुर्' यह शब्द लियाजाताहै, तो सर्वनामस्थानमें पूर्ववत् आम् का आगम, प्रियचत्वार्+स्-ऐसी स्थिति हुई, सु का लोप, "खरवसानयोः० $\frac{८।३।१५}{७६}$" इससे विसर्ग प्रियचत्वाः। "अम्सम्बुद्धौ $\frac{७।१।९९}{३३३}$" इससे सम्बुद्धि आगे रहते अम्, हे प्रियचत्वः। प्रियचत्वारौ।

'प्रियाः चत्वारः येषाम्' ऐसा बहुव्रीहिसमासका विग्रह

होनेसे इस शब्दको विशेषणत्व अर्थात् गौणत्व है और गौणत्व होनेसे आम् प्रत्ययमें "षट्चतुर्भ्यश्च ७।१।५५/३३८" इससे नुट् नहीं होता ऐसी इष्टि (अर्थात् भाष्यकारकी इच्छा) है इसकारण प्रियचतुराम् ।

प्रियचतुर् शब्दके रूप-

विभ०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	प्रियचत्वाः	प्रियचत्वारौ	प्रियचत्वारः
सं०	हे प्रियचत्वः	हे प्रियचत्वारा	हे प्रियचत्वारः
द्वि०	प्रियचत्वारम्	प्रियचत्वारौ	प्रियचतुरः
तृ०	प्रियचतुरा	प्रियचतुर्भ्याम्	प्रियचतुर्भिः
च०	प्रियचतुरे	प्रियचतुर्भ्याम्	प्रियचतुर्भ्यः
पं०	प्रियचतुरः	प्रियचतुर्भ्याम्	प्रियचतुर्भ्यः
ष०	प्रियचतुरः	प्रियचतुरोः	प्रियचतुराम्
स०	प्रियचतुरि	प्रियचतुरोः	प्रियचतुर्षु.

और जब 'परमाश्च ते चत्वारः' ऐसा कर्मधारय समासका विग्रह होताहै तब परमचतुर (उत्कृष्ट चारों) ऐसा होताहै, इससे उसको प्राधान्य है, इस कारण 'परमचतुर्णाम्' ऐसा नुट्युक्त रूप होताही है । केवल बहुवचनही होताहै-प्र० सं० परमचत्वारः । द्वि०-परमचतुरः । तृ०-परमचतुर्भिः । च०-पं०-परमचतुर्भ्यः । ष०-परमचतुर्णाम् । स० परमचतुर्षु ।

लकारान्त कमल् शब्द-

'कमलं कमलां वा आचक्षाणः' (कमल अथवा लक्ष्मीको कहनेवाला)कमल अथवा कमला इसके आगे णिच् (इ)हुआ, णिच् के कारण टिलोप होकर 'कमलि' ऐसा धातु बना, आगे क्विप् होकर णिका लोप होनेसे 'कमल्' हुआ, सु का लोप कमल् । कमल् + औ=कमलौ । कमल् + जस्= कमलः । कमल् + सु-ऐसी स्थिति होते "इण्कोः ८।३।५७/२११" "आदेशप्रत्यययोः ८।३।५९/२१२" इससे लकार होनेके कारण सकारको षत्व हुआ, कमल्षु ।

कमल् शब्दके रूप-

विभ०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	कमल्	कमलौ	कमलः
सं०	हे कमल्	हे कमलौ	हे कमलः
द्वि०	कमलम्	कमलौ	कमलः
तृ०	कमला	कमल्भ्याम्	कमल्भिः
च०	कमले	कमल्भ्याम्	कमल्भ्यः
पं०	कमलः	कमल्भ्याम्	कमल्भ्यः
ष०	कमलः	कमलोः	कमलाम्
स०	कमलि	कमलोः	कमल्षु * ॥

सकारान्त प्रशाम् (विशेष शान्त) शब्द-

इसमें सु का लोप होकर प्रशाम् ऐसी स्थिति हुई * ॥

* इस कमल् शब्दके रूप बहुतही सीधे हैं सप्तमीमें संधिके कारण षत्वमात्र होताहै इसको छोडकर और कोई कार्य नहीं ॥

* यद्यपि सु का लोप हुआहै परन्तु प्रत्ययलोपे "प्रत्ययलक्षणम् १।१।६२/२६२" इससे मानो सु है ही इस कारण "सुप्तिङन्तं पदम्" इससे 'प्रशाम्'के मकारको पदान्तत्व है ॥

३४१ मो नो धातोः । ८ । २ । ६४ ॥

धातोर्मस्य नः स्यात्पदान्ते । नत्वस्यासिद्धत्वान्नलोपो न । प्रशाम्यतीति प्रशान् । प्रशामौ । प्रशामः । प्रशान्भ्यामित्यादि ॥

३४१-पदान्तमें रहनेवाले धातुसम्बन्धी मकारके स्थानमें नकार होताहै । यह नत्व त्रिपादीस्थ और पर है, इसलिये असिद्ध है, इस कारण "न लोपः० ८।२।२७/२३६" इससे उस नकारका लोप नहीं, (प्रशाम्यति-इति) । अर्थात् अतिशय शान्त होताहै-प्रशान् । प्रशाम्+औ=प्रशामौ । प्रशाम्+जस्=प्रशामः । प्रशाम्+भ्याम्=प्रशान्भ्याम् ॥

प्रशाम् शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	प्रशान्	प्रशामौ	प्रशामः
सं०	हे प्रशान्	हे प्रशामौ	हे प्रशामः
द्वि०	प्रशामम्	प्रशामौ	प्रशामः
तृ०	प्रशामा	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भिः
च०	प्रशामे	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भ्यः
पं०	प्रशामः	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भ्यः
ष०	प्रशामः	प्रशामोः	प्रशामाम्
स०	प्रशामि	प्रशामोः	प्रशान्सु-न्सु.

किम् (कौन) शब्द-

यह सर्वादिगणमें है, इसलिये सर्वनामसंज्ञक है ।

३४२ किमः कः ७ । २ । १०३ ॥

किमः कः स्याद्विभक्तौ । अकच्सहितस्याप्ययमादेशः । कः । कौ । के । कम् । कौ । कान् । इत्यादि सर्ववत् ॥

३४२-विभक्ति परे रहते 'किम्' शब्दको 'क' आदेश होताहै । ("अष्टन आ विभक्तौ ७।२।८४/३७१" से 'विभक्ति' की अनुवृत्ति आतीहै)। अनेकाल् होनेसे सर्वादेश (अकच्सहितस्य अपि०) "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ५।३।७१/२०२६" इससे चाहे इसको अकच् प्रत्यय लगाकर (सि० २१७ उभय शब्दमें दिखाये हुएके समान) 'क्-अक्-इम् इस रीतिसे किम्के अन्तर्गत ही अकच् है, इस कारण 'ककिम्' यह कोई पृथक् शब्द नहीं होसकता इससे आगे विभक्ति रहते उस शब्दको भी 'क' आदेश होताहै । किम्+सु=कः । किम्+औ=कौ । किम्+जस्=के । कम् । कौ । किम्+शस्= कान् । इत्यादि सर्ववत् जानना । (सि० २१४ । २१७) (त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीति) ३४५ सर्वादि गणमेंके त्यदादिशब्दोंका सम्बोधन नहीं है ऐसा नियम है इससे सम्बोधन नहीं है * ॥

किम् शब्दके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	कः	कौ	के

* अकच्सहितको 'क' आदेश करनेमें क्या प्रमाण ? तो "किमः कः" यहां स्थानी और आदेशमें ककारोच्चारण 'इमः अः' ऐसा भी सूत्र करनेसे इष्ट सिद्ध होसकता है ॥

द्वि०	कम्	कौ	कान्
तृ०	केन	काभ्याम्	कैः
च०	कस्मै	काभ्याम्	केभ्यः
पं०	कस्मात्	काभ्याम्	केभ्यः
ष०	कस्य	कयोः	केषाम्
स०	कस्मिन्	कयोः	केषु.

इदम् (यह) इस सर्वनामके रूप कुछ थोडेसे कठिन हैं इससे उनके सम्बन्धकी बात पहले दीजातीहै उसको विचारमें लानेसे अगला प्रकरण सुलभ जानपडेगा, '७।२।१०२ त्यद्–आदीनाम् अः विभक्तौ २६५'। 'इदमः मः सौ ७।२।१०८/३४३'। 'इदमः दः च मः विभक्तौ ७।२।१०९/३४५'। 'इदमः इदः अय् सौ पुंसि ७।२।१११/३४४'। 'अन् आपि अकः इदमः इदः ७।२।११२/३४६'। 'हलि अकः इदमः इदः लोपः ७।२।११३/३४७'। 'भिसः न ऐस् इदम्–अदसोः अकोः ७।१।११/३४९' ॥

३४३ इदमो मः । ७ । २ । १०८ ॥

इदमो मः स्यात्सौ परे । त्यदाद्यत्वापवादः ॥

३४३–सु परे रहते इदम् शब्दके मकारके स्थानमें 'म' हो (यहां "तदोः सः सावनन्त्ययोः ७।२।१०६/३८९" से 'सु' की अनुवृत्ति होतीहै)। "त्यदादीनामः ७।२।१०२/२६५" इससे आगे विभक्ति रहते त्यदादि शब्दोंको अकार होताहै परन्तु उसको बाधकर इससे मकार ही होताहै ॥

३४४ इदोऽय् पुंसि ।७।२।१११॥

इदम इदोऽय् स्यात्सौ पुंसि । सोर्लोपः । अयम् । त्यदाद्यत्वं पररूपत्वं च ॥

३४४–पुँल्लिङ्गमें सु प्रत्यय आगे रहते इदम् के 'इद्' इतने ही भागके स्थानमें 'अय्' आदेश होताहै। अय्+अम्+स्–ऐसी स्थिति होते सु का लोप हुआ, अयम्। 'औ' आगे रहते त्यदाद्यत्वके कारण अकार, इद+अ+औ–ऐसी स्थिति हुई, "अतो गुणे ६।१।९७/१९१" इससे पररूप, तब इद+औ–ऐसी स्थिति हुई–

३४५ दश्च । ७ । २ । १०९ ॥

इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ । इमौ । इमे । त्यदादेः संबोधनं नास्तीत्युत्सर्गः[1] ॥

३४५–विभक्ति परे रहते इदम् शब्दके दकारके स्थानमें मकार होताहै। इम+औ–फिर "वृद्धिरेचि ६।१।८८/७२" इससे इमौ। इसी प्रकार इदम्+जस्=इमे। त्यदादि बारह शब्दोंका सम्बोधन नहीं होता ऐसा नियम है। आगे पूर्ववत् इद+अ होकर 'इद' होनेके पीछे–

३४६ अनाप्यकः ।७ । २ । ११२ ॥

अककारस्येदम इदोऽन् स्यादापि विभक्तौ । आबिति टा इत्यारभ्य सुपः पकारेण प्रत्याहारः। अनेन ॥

३४६–आप् अर्थात् टादि विभक्ति परे रहते ककाररहित इदम् शब्दके इद्के स्थानमें 'अन्' हो। ककाररहितका अर्थ अकच्हीन जानना। (आबिति) 'टा' में के 'आ' से सुप्के पकार पर्यन्त जो प्रत्यय हैं वे इस प्रत्याहारके अनुरूप आप् संज्ञावाली हैं (अर्थात् टादि विभक्ति)। अन् और शेष रहा अकार मिलकर 'अन' हुआ फिर 'अनेन' हुआ। आगे भ्याम् प्रत्यय रहते इदम् इसका पूर्ववत् 'इद' ऐसा रूप होकर इद+भ्याम् ऐसी स्थिति हुई, फिर–

३४७ हलि लोपः ।७।२।११३॥

अककारस्येदम इदो लोपः स्यादापि हलादौ॥ नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ॥ * ॥

३४७–हलादि आप् विभक्ति आगे रहते अकच्से हीन इदम् शब्दके 'इद्'का लोप होताहै। (नानर्थकेति) अर्थहीन शब्दको यदि आदेश कहागया हो तो वहां अलोन्त्यविधि नहीं होती, अर्थात् "अलोन्त्यस्य" यह परिभाषा नहीं लगती, वहां सबके स्थानमें आदेश होताहै, और जहां धातुको द्वित्व होकर उसके अभ्यासके निमित्त कार्य रहतेहैं, केवल वहां तो ऐसा नहीं होता अर्थात् वहां "अलोन्त्यस्य" यह परिभाषा प्रवृत्त होतीहै, ऐसा जानना। इसीसे अभ्यासके अन्त्यको "अर्तिपिपर्त्योश्च ७।४।७७" इससे इत्त्व होकर 'पिपर्ति' इत्यादि सिद्ध होतेहैं, यहां 'इद'मेंके 'इद्' इस अर्थहीन शब्दका लोप कहाहुआ है, इस कारण सर्वादेश होताहै, 'इद'मेंके 'इद्'का लोप होनेपर 'अभ्याम्' ऐसी स्थिति हुई, तब–

३४८ आद्यन्तवदेकस्मिन् ।१।१।२१॥

एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविवाऽन्त इव स्यात् । आभ्याम् ॥

३४८–शब्दमें जो एक ही वर्ण हो तो आदि भी वही और अन्त भी वही जानना। इससे उसको जो कार्य कियाजाय वह कारणपरत्वसे आदि वर्णके और अन्त वर्णके समान होताहै, इसलिये अभ्याम् इसमें 'अ' इस वर्णको अन्त्यवर्ण लेकर "सुपि च ७।३।१०२/२०२" इससे दीर्घ हुआ, आभ्याम्। आगे भिस्के स्थानमें 'ऐस्'की प्राप्ति हुई, परन्तु–

३४९ नेदमदसोरकोः ।७।१।११॥

अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न स्यात् । एत्वम् । एभिः । अत्वम् । नित्यत्वात् ङेः स्मै पश्चाद्धलि लोपः । अस्मै । आभ्याम् । एभ्यः । अस्मात् । आभ्याम् । एभ्यः । अस्य । अनयोः। एषाम् । अस्मिन् । अनयोः । एषु । ककारयोगे तु अयकम् । इमकौ । इमके । इमकम् । इमकौ । इमकान् । इमकेन । इमकाभ्याम् । इमकैः ॥

३४९–अकच्से हीन इदम् और अदस् (३९) शब्दोंके आगे भिस्के स्थानमें 'ऐस्' आदेश नहीं होता ("अतो भिस ऐस् ७।१।९।" से भिसः इसकी अनुवृत्ति

---

१ त्यदादि शब्दोंको सम्बोधन न होनेमें क्या प्रमाण ? तो अधिक प्रयोगोंका अभाव ही प्रमाण है और सम्बोधनाभाव प्रयोगस्वभाव है ऐसा कहनेसे भाष्यकारके कहे हुए 'हे स' इत्यादि प्रयोगोंसे विरोध नहीं आता ॥

होती है) "बहुवचने झल्येत् ७।३।१०३/२०५" इससे एत्व, एभिः। आगे ङे प्रत्यय परे रहते पूर्ववत् अत्व होकर 'इद' ऐसी स्थिति होनेके पीछे अकारान्त सर्वनामत्वके कारण "सर्वनाम्नः स्मै ७।१।१४/२१५" इससे ङे के स्थानमें 'स्मै'की प्राप्ति हुई,परन्तु, परत्वके कारण पहले "अनाप्यकः ७।२।११२/३४६" इससे 'इद्'को 'अन्' होकर 'अन्' इस रूपकी प्राप्ति हुई, तथापि इद और अन् इन दोनोंको भी अकारान्तत्व होनेके कारण अनादेश किया तो भी 'स्मै'की प्राप्ति है ही,और अनादेश न करते 'इद'ऐसाही रूप रहा तो भी 'स्मै' की प्राप्ति है ही तो फिर 'कृतेपि प्राप्नोत्यकृतेपि प्राप्नोति तन्नित्यम्' अथवा 'कृताकृतप्रसंगि नित्यम्' इस लक्षणसे 'स्मै'को नित्यत्व प्राप्त हुआ, नित्य होनेसे ङे को 'स्मै' पीछे "हलि लोपः" इससे लोप अर्थात् "परनित्यान्तरंगापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः ४६" इस परिभाषासे पर शास्त्रसे नित्य शास्त्र बलिष्ठ है, इससे नित्यत्वके कारण पर कार्यका भी बाध कर 'स्मै' यही कार्य हुआ, और फिर "हलि लोपः ७।२।११३/३४७" इससे इद+स्मै-इसमेंके 'इद्' का लोप हुआ, अस्मै । आभ्याम् । इदम् + भ्यस्= एभ्यः । इदम् + ङसि=अस्मात् । आभ्याम् । एभ्यः । इदम् + ङस्=अस्य । इदम् + ओस्=अनयोः । इदम् + आम्=एषाम् । इदम् + ङि=अस्मिन् । इदम् + ओस्= अनयोः । इदम् + सु=एषु ।

(ककारयोगे तु) 'अकच्' का योग हुआ हो तो, शब्दके बीचमें 'अकच्' आनेसे अयकम् । इमकौ । इमके । इमकम् । इमकौ । इमकान् । फिर आगे "अनाप्यकः" ऐसा कहागया है इससे 'अकच्' कालमें 'अन्' नहीं, इससे इमकेन और हलादि विभक्तिकालमें भी 'अक' पढनेसे इद्का लोप नहीं, इमकाभ्याम् "नेदमदसोरकोः" कहागया है इससे ऐसको बाध नहीं इमकैः । इदम् शब्दके और भी कुछ रूप होतेहैं-

३५० इदमोन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ । २ । ४ । ३२ ॥

अन्वादेशविषयस्येदमोनुदात्तोऽश आदेशः स्यात्तृतीयादौ । अशवचनं साकचकार्थम् ॥

३५०-अन्वादेशके विषयमें तृतीयादि विभक्ति परे रहते इदम् शब्दको अश् (अ) आदेश होताहै । इसमें शकार इत् है इस कारण अकच्युक्त शब्दका भी ग्रहण करना चाहैं तो उससे अकच्युक्त शब्दको भी अन्वादेशमें यही आदेश होताहै * ॥

१ शकारेत्संज्ञक अकार नहीं होगा तो "अलोऽन्त्यस्य (४२)" से अन्त्यको आदेश होजायगा ऐसा कहें तो ठीक नहीं, क्यों? तो अन्त्यके आदेश हो तो वह निष्फल है, क्यों ? तो "त्यदादी०" से 'अत्व' करके सिद्ध ही है फिर अ-विधानसामर्थ्यसे सर्वादेश हो ही जायगा । अथवा अन्त्यहीको हो तो क्या न्यूनता ? "हलि लोपः ७।२।११३" से लोप करके सिद्ध होजायगा फिर शित्करणेका प्रयोजन अकच्सहितके भी हो यही यह ध्यान रखना चाहिये ॥

* इस सूत्रका अगला सूत्र ("द्वितीयाटौस्स्वेनः") अपवाद है, इससे उस अपवादका विषय छोड़कर तृतीयादि प्रत्ययोंमें अ-

अकच्से हीन 'इदम्' शब्दको अन्वादेशमें जो आदेश होतेहैं वही अकच्सहित (साकच्क) इदम् शब्दको भी होतेहैं ऐसा जानना चाहिये ॥

३५१ द्वितीयाटौस्स्वेनः । २ । ४ । ३४ ॥

द्वितीयायां टौसोश्च परत इदमेतदोरेनादेशः स्यादन्वादेशे । किंचित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः । यथानेन व्याकरणमधीतमेनं छन्दोऽध्यापयेति । अनयोः पवित्रं कुलमेनयोः प्रभूतं स्वमिति । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः ॥ गणयतेर्विच् । सुगण् । सुगणौ । सुगणः । सुगणट्सु । सुगण्ट्सु । सुगण्सु ॥ क्विप अनुनासिकस्य क्विझलोरिति दीर्घः । सुगाण् । सुगाणौ । सुगाणः । सुगाण्ट्सु । सुगाणट्सु । सुगाण्सु । परत्वादुपधादीर्घः । हल्ङ्यादिलोपः । ततो नलोपः । राजा ॥

३५१-अन्वादेशकालमें द्वितीया, टा और ओस् प्रत्यय आगे रहते इदम् और एतद् इन शब्दोंको 'एन' ऐसा आदेश होताहै । (वहां "इदमोऽन्वादेशेऽश० ३५०" "एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चाऽनुदात्तौ २।४।३३" इन सूत्रोंसे 'इदम्', 'अन्वादेश' और 'एतद्' इनकी अनुवृत्ति होतीहै) ।

(किंचित् कार्यमिति) कोई एक कार्य बोधन करनेके निमित्त एकवार शब्दकी योजना करके फिर अन्य कार्य बोधनके निमित्त उसीका ग्रहण करना इसका नाम अन्वादेश है, जैसे (अनेनेति) इसने व्याकरण पढाहै, अब इसको छन्द सिखाओ । इसमें पहले 'अनेन' शब्द है, परन्तु दूसरी वार उसके स्थानमें इससे 'एन' हुआ इससे 'एनम्' लयेहैं, एनम् यह द्वितीया है,वैसे ही 'अनयोः पवित्रं कुलम्' । 'एनयोः प्रभूतं स्वम्' अर्थात् इन दोनोंका कुल पवित्र है और उन्हीं इन दोनोंके बहुत धन है यहांपर भी जानना । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः । आगे आभ्याम्, इत्यादि पूर्ववत् जानना, परन्तु स्वरका भेद है ।

इदम् शब्दके दो प्रकारके रूप-

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अयम्	इमौ	इमे
द्वि०	इमम्, एनम्	इमौ, एनौ	इमान्, एनान्
तृ०	अनेन, एनेन	आभ्याम्	एभिः
च०	अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः
पं०	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः

-न्वादेशमें यह अनुदात्त अश् (अ) आदेश होताहै, अर्थात् वहां इदम्के स्थानमें 'अ' होकर उस 'अ' के आगे प्रत्यय दीखते हैं, अन्वादेश न होते भी इदम् इससे 'इद' इस प्रकारका रूप बनने पर "हलि लोपः ३४७" इससे इद् अंशका लोप होनेसे अकार अवशिष्ट रहकर फिर जो रूप होते हैं वे लिखनेमें समान ही होते हैं, परन्तु भेद इतनाही है कि अन्वादेशमें अकार अनुदात्त है, अन्वादेशके अभावमें "फिषोऽन्त उदात्तः" (फि० १।१) इससे वह अकार उदात्त है ॥

ष०	अस्य	अनयोः, एनयोः	एषाम्
स०	अस्मिन्	अनयोः, एनयोः	एषु.

प्र०	अयकम्	इमकौ	इमके
द्वि०	इमकम्	इमकौ	इमकान्
तृ०	इमकेन	इमकाभ्याम्	इमकैः
च०	इमकस्मै	इमकाभ्याम्	इमकेभ्यः
पं०	इमकस्मात्	इमकाभ्याम्	इमकेभ्यः
ष०	इमकस्य	इमकयोः	इमकेषाम्
स०	इमकस्मिन्	इमकयोः	इमकेषु.

अन्वादेशमें पूर्ववत् एनम् । आभ्याम् । इत्यादि ।

णान्त सुगण् (अच्छा गणित करनेवाला) शब्द– (गणयतेः विच्) गण धातुसे " अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ३।२।७५ / २९८० " इससे विच् (०) प्रत्यय होकर गण्, पीछे 'सु' उपसर्ग है । इसके रूप बहुत सरल हैं । सुगण्+सु=सुगण् । सुगण्+औ=सुगणौ। सुगण्+जस्=सुगणः। सुगण्+सु=सुगण्सु । "ङ्णोः कुक्टुक् शरि ८।३।२८ / १३० " इससे विकल्पकरके 'टुक्'का आगम और " चयो द्वितीयाः० " इस वार्तिकसे सुगण्ठ्सु और " चयो द्वितीयाः " इसके अभावपक्षमें सुगण्ट्सु ।

सुगण् शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सुगण्	सुगणौ	सुगणः
सं०	हे सुगण्	हे सुगणौ	हे सुगणः
द्वि०	सुगणम्	सुगणौ	सुगणः
तृ०	सुगणा	सुगण्भ्याम्	सुगण्भिः
च०	सुगणे	सुगण्भ्याम्	सुगण्भ्यः
पं०	सुगणः	सुगण्भ्याम्	सुगण्भ्यः
ष०	सुगणः	सुगणोः	सुगणाम्
स०	सुगणि	सुगणोः	सुगण्ठ्सु, सुगण्ट्सु, सुगण्सु.

सुगाण् (अच्छा गणित जाननेवाला) शब्द– गण्के आगे क्विप् और "अनुनासिकस्य क्विझलोः० ६।४।१५ / २६६६" इससे दीर्घ होकर पीछे 'सु' उपसर्ग लगकर यह शब्द बनाहै सुगाण्+सु=सुगाण् । सुगाण्+औ=सुगाणौ । सुगाण्+जस्= सुगाणः । सुगाण्+सु=सुगाण्ठ्सु । सुगाण्ट्सु । सुगाण्सु, इत्यादि सब रूप सुगण्शब्दके समान होंगे ॥

नान्त राजन् शब्द–

राजन्+सु–ऐसी स्थिति रहते "हल्ङ्या० ६।१।६८ / २५२" इससे " सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ६।४।८ / २५०" यह सूत्र पर है, इस कारण इस सूत्रसे नकारान्तत्वके कारण पहले उपधादीर्घ होकर फिर "हल्ङ्या०" इससे सुलोप हुआ और फिर "न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७ / २३६" इससे नकारका लोप होकर 'राजा' यह पद सिद्ध हुआ । आगे सम्बुद्धि सु रहते 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' ऐसा कहाहै इसलिये उपधादीर्घ नहीं, सुलोप होकर राजन् ऐसी स्थिति हुई, "न लोपः प्राति-पदिकान्तस्य ८।२।७ / २३६" अर्थात् प्रातिपदिकसंज्ञा जिसकी है वह पद होते उसमेंके अन्त्य नकारका लोप होताहै, इससे लोप प्राप्त हुआ, परन्तु–

३५२ न ङिसंबुद्ध्योः ८।२।८ ॥

नस्य लोपो न स्यान्ङौ संबुद्धौ च। हे राजन्। ङौ तु छन्दस्युदाहरणम् । सुपां सुलुगिति ङेर्लुक् । निषेधसामर्थ्यात्प्रत्ययलक्षणम् । परमे व्योमन् ॥ ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥*॥ चर्मणि तिला अस्य चर्मतिलः । ब्रह्मनिष्ठः । राजानौ। राजानः। राजानम्। राजानौ। अल्लोपोऽनः। श्चुत्वम् । न चाल्लोपः स्थानिवत् । पूर्वत्रासिद्धे तन्निषेधात् । नापि बहिरङ्गतयाऽसिद्धः । यथोद्देशपक्षे षाष्ठीं परिभाषां प्रति श्चुत्वस्यासिद्धतयाऽन्तरङ्गाभावे परिभाषाया अप्रवृत्तेः । ज्ञञोर्ज्ञः । राज्ञः । राज्ञा ॥

३५२–ङि अथवा सम्बुद्धि आगे रहते प्रातिपदिकसंज्ञक पदमेंके अन्त्य नकारका लोप नहीं होता । 'राजन्' यह नान्त प्रातिपदिक तो है ही फिर 'सु' का लोप हुआ है, तो भी "सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४ / २९" इससे राजन् को पदत्व लानेके लिये "प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् १।१।६२ / २६२" इससे मानो सु प्रत्यय हुईहै अर्थात् यहां राजन् यह पद भी है और उसी प्रत्ययलक्षणसे प्रस्तुत सूत्रके बलसे नकारलोपका निषेध कर-नेको भी यह सु समर्थ है, इस कारण नलोप न हुआ हे राजन्। ङि परे रहते प्रातिपदिकको पदान्तत्व नहीं तो वहां नकार लोपकी प्राप्ति ही नहीं ऐसा होते सूत्रमें " न ङिसम्बुद्ध्योः " इसमें ङि लानेका क्या प्रयोजन है ? तो (ङौ तु छन्द०) 'ङि' प्रत्ययका इसी प्रकारसे लोप हुआ तो भी पदान्त नकारका लोप नहीं होता, इसका उदाहरण लौकिक भाषामें नहीं आता, वेदहीमें मिलताहै । व्योमन्+ङि–इसमें "सुपां सुलुक्० ७।१।३९ / ३५६१" इससे 'ङि' इस सुपका लुक होकर 'व्योमन्' ऐसी जो स्थिति रही, उसमें लुक् शब्दसे प्रत्ययका लुप्तत्व होनेसे यद्यपि प्रत्ययलक्षण नहीं आना चाहिये तो भी प्रस्तुत निषेधसूत्रमें 'ङि' का जो ग्रहण कियाहै, उसको और कहीं भी अवकाश नहीं मिलता, इसलिये (निषेधसामर्थ्यात्प्रत्ययलक्षणम्) उस निषेध की सामर्थ्यसे ही (इस निषेधका सार्थक्य होनेके निमित्त) यहां लुप्त 'ङि' को प्रत्यय लक्षण है, और उससे 'व्योमन्' इसको पदत्व प्राप्त होकर नकारका लोप प्राप्त हुआ उसका प्रस्तुत सूत्रसे निषेध है, इससे 'परमे व्योमन्' (उत्तम आकाशमें) ऐसा वेदवाक्य सिद्ध हुआ ।

(ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः वा० ४७८५) * ङि के आगे उत्तरपद होते (अर्थात् समासमेंके पूर्वपदके अन्तमें रहनेवाले ङिका समासनियमके कारण लोप हुआ, उससे) नान्त प्रातिपदिकको पदत्व होताहै, वहां प्रस्तुत सूत्रमें कहा हुआ निषेध नहीं चलता अर्थात् इतर विभक्ति समासके विषे जैसा नकारका लोप होताहै वैसाही ङि प्रत्ययमें भी होता है। (चर्मणि तिलाः अस्य चर्मतिलः) चर्मके विषे (चर्मके-ऊपर) तिल हैं इसके, इसलिये 'चर्मतिल' इसमें चर्मन्+ङि+तिल जस् ऐसी स्थिति होते ङिके आगे 'तिल' यह उत्तरपद है और

समासशास्त्रके अनुसार २।४।७१/६५० यद्यपि ङिका लोप हुआ है तो भी प्रत्ययलक्षणसे 'चर्मन्' को पदत्व है तथापि सूत्रोक्त निषेधका प्रस्तुत वार्तिकसे प्रतिषेध होकर नकारका लोप होता ही है, ऐसा जानना इसी प्रकारसे ब्रह्मन् + ङि + निष्ठा + सु–इनका समास होकर नलोप करके 'ब्रह्मनिष्ठः' ऐसा ही रूप होताहै ।

आगे फिर पूर्ववत् उपधादीर्घ होकर राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ । शस् प्रत्ययमें भत्वके कारण "अल्लोपोऽनः ६।४।१३४/२३४" इससे राजन् इसमेंके उपधा अकारका लोप हुआ, तब राज्न् + अस्–ऐसी स्थिति हुई फिर "स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४०/१११" इससे नकारके स्थानमें ञकार, (न च अल्लोपेति) यहां "अचः परस्मिन्पूर्वविधौ १।१।५७/५०" इस सूत्रसे पर जो अस् प्रत्यय उसके निमित्तसे स्थानी (अ) इस अच्के 'पूर्वस्मात्' अर्थात् पूर्व जकारके अगले नकारको श्चुत्व (ञ) करना होगा तव आदेश जो अल्लोप वह स्थानिवत् अर्थात् अकारवत् होताहै और उस कारणसे 'ज्' और 'न्' इनके वीचमें व्यवधान आताहै ऐसा नहीं कहना चाहिये, कारण कि "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" ऐसी परिभाषा है इस कारण इसको प्रतिबंध (रोक) नहीं । (नापि बहिरङ्गस्येति) वैसे ही राजन् + शस्–इसमें नकारके पिछले अकारका जो लोप होताहै उसका कारण कहनेसे 'राजन्' इस शब्दको भत्व होताहै और यह भत्व तो शस् (अस्) प्रत्ययके कारण अर्थात् शब्दके बाहर रहनेवालेके निमित्तसे है, इस कारण यह अल्लोप बहिरंग है, परन्तु शब्दके अंगके ही नकारके निमित्तसे अङ्गके ही नकारको श्चुत्व होताहै तो अंगका अर्थात् अन्तरंगकार्य हुआ इसकारण 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरंगे'इस (४६) परिभाषासे अन्तरङ्गकार्य श्चुत्व कर्तव्य होते बहिरंगकार्य अल्लोप असिद्ध होकर श्चुत्वके निमित्तकी हानि होगी, ऐसा भी न कहना चाहिये कारण कि,यथोद्देश(जो संज्ञा अथवा परिभाषा जहां उत्पन्न भई हों उसका वही देश मानाजाताहै) पक्षमें 'असिद्धं बहिरंग०' यह परिभाषा भाष्यमें "वाह ऊठ् ६।४।१३२/३२९" इस छठे अध्यायमें स्थित सूत्रमें ऊठ्ग्रहणसे निकली हुई है, इसका वह उद्देश्य ध्यानमें रक्खाजाय तो इस छठे अध्यायमें स्थित परिभाषाकी दृष्टिसे त्रिपादीमें स्थित श्चुत्व असिद्ध है, अर्थात् उस परिभाषाको वह नहीं दीखता, तो फिर उसका अन्तरङ्गत्वही न रहा, इससे उस परिभाषाकी प्रवृत्ति ही यहां न रही । (ज्ञोः ज्ञः) । राज्ञ्+अस्–ऐसी स्थिति होनेपर जकार ञकार इनके संयोगसे 'ज्ञ' यह लिखनेकी परिपाटी है, इसलिये राज्ञः।आगे राजन्+टा=राज्ञा । फिर इसके पश्चात्– * ॥

३५३ नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति । ८ । २ । २ ॥

सुब्विधौ स्वरविधौ संज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो नान्यत्र राजाश्व इत्यादौ । इत्यसिद्धत्वादात्वमेत्वमैस्त्वं च न । राजभिः । राज्ञे । राजभ्याम् । राजभ्यः । राज्ञः । राज्ञोः । राज्ञाम् । राज्ञि । राजनि ॥ प्रति दीव्यतीति प्रतिदिवा । प्रतिदिवानौ । प्रतिदिवानः । अस्य भविषयेऽल्लोपे कृते ॥

३५३–सुप्कार्य, स्वरकार्य, संज्ञाकार्य और कृत्प्रत्ययके सम्बन्धसे तुक् (त्)का आगम,यह कर्तव्य हों तो प्रातिपदिकान्त नकारका जो लोप ८।२।७/२३६ होताहै वह असिद्ध है इसको छोड अन्यत्र अर्थात् समासमें राजन् अश्व इत्यादिकोंकी संधि होते समय दोनों अकारोंके स्थानमें मिलकर सवर्णदीर्घ होकर 'राजाश्वः' इत्यादि रूप बनतेहैं, वहां दीर्घकार्यमें नकारका लोप असिद्ध नहीं, (इतीति) अस्तु, यहां सुप्कार्य होनेसे नकारका लोप असिद्ध अर्थात् नकार दीखताहै, इस कारण शब्दको अकारान्तत्व न होनेसे 'भ्याम्' प्रत्ययमें "सुपि च ७।३।१०२/२०२" इससे दीर्घसे होनेवाला आत्व, 'भ्यस्' प्रत्ययमें "बहुवचने झल्येत् ७।३।१०३/२०५" इससे होनेवाला एत्व और "अतो भिस ऐस् ७।१।९/२०३" इससे होनेवाला ऐस्त्व इन तीनोंकी प्राप्ति ही नहीं । राजभिः । राजन्+ङे=राज्ञे । राजन्+भ्याम्=राजभ्याम् । राजभ्यः । राजन्+ङस्=राज्ञः । राज्ञोः । राज्ञाम् । "विभाषा ङिश्योः ६।४।१३६/२३७" इससे 'ङि' प्रत्ययमें विकल्पसे अल्लोप, इस कारण राज्ञि, राजनि ।

राजन् शब्दके रूप–

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	राजा	राजानौ	राजानः
सं०	हे राजन्	हे राजानौ	हे राजानः
द्वि०	राजानम्	राजानौ	राज्ञः
तृ०	राज्ञा	राजभ्याम्	राजभिः
च०	राज्ञे	राजभ्याम्	राजभ्यः
पं०	राज्ञः	राजभ्याम्	राजभ्यः
ष०	राज्ञः	राज्ञोः	राज्ञाम्
स०	राज्ञि,राजनि	राज्ञोः	राजसु.

प्रतिदिवन् (सूर्य) शब्द–

'प्रतिदीव्यति इति प्रतिदिवा' (प्रतिदिन प्रकाश करनेवाला सो प्रतिदिवा) 'दिव्' धातुके आगे 'कनिन्'प्रत्यय (उणा० १ । १५४) पूर्ववत् सर्वनामस्थानमें उपधादीर्घ, सुलोप, प्रतिदिवा । प्रतिदिवन्+औ=प्रतिदिवानौ । प्रतिदिवन्+जस्=प्रतिदिवानः । (अस्य भविषये०) भसंज्ञाका विषय होते इससे अल्लोप होकर प्रतिदिवन्+अस् ऐसी स्थिति होनेपर–

३५४ हलि च । ८ । २ । ७७ ॥

रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः स्याद्धलि । न चाऽल्लोपस्य स्थानिवत्त्वं दीर्घ-

* यदि कोई शंका करे कि कार्यकाल (संज्ञा और परिभाषाओंकी कार्यविधायक सूत्रके साथ एकवाक्यता होती है) पक्षमें तो श्चुत्व अन्तरङ्ग ही है उस पक्षमें अल्लोप असिद्ध क्यों नहीं होता ? तहां कहते हैं कि, 'व्यवस्थितयोः पक्षयोरेकतरेण पक्षेण लक्ष्यसिद्धौ पक्षान्तरेण दोषदानस्याऽनुचितत्वात्' जहां दो पक्ष हैं और एक पक्षग्रहण करनेसे उदाहरण सिद्ध होजाते हैं तो वहां दूसरा पक्ष लेकर दोष देना अनुचित है ॥

विधौ तन्निषेधात् । बहिरङ्गपरिभाषा तूक्तन्यायेन न प्रवर्तते । प्रतिदीव्नः । प्रतिदीव्नेत्यादि । यज्वा । यज्वानौ । यज्वानः ॥

३५४–हल् आगे रहते रेफान्त और वकारान्त धातुके उपधा इक्को दीर्घ होताहै ("र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ८।२।७६/४३३" इस सूत्रकी अनुवृत्ति होतीहै और "सिपि धातो॰ ८।२।७४" इस सूत्रसे धातुकी अनुवृत्ति होतीहै उस धातु पदका रेफ और व् ये विशेषण होतेहैं । इस कारण "येन विधिस्तदन्तस्य २६" इससे तदन्तविधि भया)। (न चाल्लोपस्य॰) यहां अस् परे है उसके निमित्तसे ' दिवन् ' इसमेंके अकारको लोप आदेश हुआहै और इस अकारके पूर्वमें रहनेवाले इकारको दीर्घ कर्तव्य है इसलिये अल्लोपको " अचः परस्मिन्पूर्वविधौ १।१।५७/५०" इससे स्थानिवद्भाव तो प्राप्त हुआ, परन्तु जब दीर्घ कर्तव्य है तब " न पदान्त–दीर्घजश्चर्विधिषु १।१।५८/५१ " इससे स्थानिवद्भावका निषेध है, इसलिये स्थानिवद्भाव नहीं और 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' यह परिभाषा भी पूर्ववत् यहां प्रवृत्त नहीं होती इस कारण 'दिव्न्' इसमें 'न्' हल् वकारके आगे अव्यवहित होनेसे उपधादीर्घको बाध नहीं, प्रतिदीव्नः । प्रतिदीव्ना । इत्यादि । आगे पदान्तनलोप राजवत् जानना ॥

प्रतिदिवन् शब्दके रूप–

विभ॰	एक॰	द्वि॰	बहु॰
प्र॰	प्रतिदिवा	प्रतिदिवानौ	प्रतिदिवानः
सं॰	हे प्रतिदिवन्	हे प्रतिदिवानौ	हे प्रतिदिवानः
द्वि॰	प्रतिदिवानम्	प्रतिदिवानौ	प्रतिदीव्नः
तृ॰	प्रतिदीव्ना	प्रतिदिवभ्याम्	प्रतिदिवभिः
च॰	प्रतिदीव्ने	प्रतिदिवभ्याम्	प्रतिदिवभ्यः
पं॰	प्रतिदीव्नः	प्रतिदिवभ्याम्	प्रतिदिवभ्यः
ष॰	प्रतिदीव्नः	प्रतिदीव्नोः	प्रतिदीव्नाम्
स॰	प्रतिदीव्नि,प्रतिदिवनि	प्रतिदीव्नोः	प्रतिदिवसु.

यज्वन् (यजनकर्ता) शब्द–

पूर्ववत् सर्वनामस्थानमें यज्वा । यज्वानौ । यज्वानः । आगे भके स्थानमें अल्लोप प्राप्त हुआ, परन्तु–

३५५ न संयोगाद्वमन्तात् ६।४।१३७॥

वकारमकारान्तसंयोगात्परस्यानोऽकारस्य लोपो न स्यात् । यज्वनः । यज्वना । यज्वभ्यामित्यादि । ब्रह्मणः । ब्रह्मणा । ब्रह्मभ्यामित्यादि ॥

३५५–वकारान्त अथवा मकारान्त संयोगके आगेके अन्के अकारका लोप नहीं होता । यज्वनः । यज्वन्+टा=यज्वना । यज्वभ्याम् । इत्यादि । अर्थात् 'अल्लोपोनः' और 'विभाषा ङिश्योः' यह नहीं लगते हैं ।

यज्वन् शब्दके रूप–

वि॰	एक॰	द्वि॰	बहु॰
प्र॰	यज्वा	यज्वानौ	यज्वानः
सं॰	हे यज्वन्	हे यज्वानौ	हे यज्वानः
द्वि॰	यज्वानम्	यज्वानौ	यज्वनः
तृ॰	यज्वना	यज्वभ्याम्	यज्वभिः
च॰	यज्वने	यज्वभ्याम्	यज्वभ्यः
पं॰	यज्वनः	यज्वभ्याम्	यज्वभ्यः
ष॰	यज्वनः	यज्वनोः	यज्वनाम्
स॰	यज्वनि	यज्वनोः	यज्वसु.

इसी प्रकारसे 'ब्रह्मन्' शब्द–

ब्रह्मन्+शस्=ब्रह्मणः । ब्रह्मन्+टा–ब्रह्मणा । ब्रह्मभ्याम् । इत्यादि ।

ब्रह्मन् शब्दके रूप–

विभ॰	एक॰	द्वि॰	बहु॰
प्र॰	ब्रह्मा	ब्रह्माणौ	ब्रह्माणः
सं॰	हे ब्रह्मन्	हे ब्रह्माणौ	हे ब्रह्माणः
द्वि॰	ब्रह्माणम्	ब्रह्माणौ	ब्रह्मणः
तृ॰	ब्रह्मणा	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभिः
च॰	ब्रह्मणे	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभ्यः
पं॰	ब्रह्मणः	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभ्यः
ष॰	ब्रह्मणः	ब्रह्मणोः	ब्रह्मणाम्
स॰	ब्रह्मणि	ब्रह्मणोः	ब्रह्मसु.

वृत्रहन् (इन्द्र) शब्द–

सर्वनामस्थानमें उपधादीर्घ प्राप्त हुआ, परन्तु–

३५६ इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ।६।४।१२॥

एषां शावेवोपधाया दीर्घो नान्यत्र इति निषेधे प्राप्ते ॥

३५६–इन् (इन्नन्त शब्द) हन्, पूषन्, अर्यमन्, इनके आगे शि (३१२) हो तभी उपधाको दीर्घ होताहै अन्यत्र नहीं । ऐसा निषेध प्राप्त हुआ, परन्तु–

३५७ सौ च । ६ । ४ । १३ ॥

इन्नादीनामुपधाया दीर्घः स्यादसंबुद्धौ सौ परे । वृत्रहा । हे वृत्रहन् । एकाजुत्तरपदे इति णत्वम् । वृत्रहणौ । वृत्रहणः । वृत्रहणम् । वृत्रहणौ ॥

३५७–आगे सम्बुद्धिभिन्न सु रहते इन्, हन्, पूषन्, अर्यमन् इनकी उपधाको दीर्घ होताहै सुलोप, नलोप, वृत्रहा । "न ङिसम्बुद्ध्योः ८।२।८/३५२" इससे नलोपका निषेध,हे वृत्रहन् । पूर्व सूत्रके निषेधके कारण अन्यत्र शिवर्ज सर्वनामस्थानमें उपधादीर्घ नहीं । आगे फिर औ–प्रत्ययमें "एकाजुत्तरपदे णः ८।४।१२/३०७" इससे णत्व, वृत्रहणौ । वृत्रहन्+जस्=वृत्रहणः । वृत्रहन्+अम्=वृत्रहणम् । वृत्रहणौ । वृत्रहन्+शस्=इसमें भके स्थानमें अल्लोप होकर वृत्रह्न्+अस् ऐसी स्थिति होते–

३५८हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु । ७ । ३ । ५४ ॥

ञिति णिति च प्रत्यये नकारे च परे हन्तेर्हकारस्य कुत्वं स्यात् ॥

३५८–'हन्' धातुके हकारके परे ञित् वा णित् प्रत्यय वा नकार रहते उस हकारके स्थानमें कुत्व (कवर्ग) होताहै । (यहां " चजोः कु घि॰ ७।३।५२ " इससे कुत्वकी अनु–